महर्षि स्थापित

मे ार्यसमाजशताब्दी

• समारोह •

स्वधर्म स्वराज्य संघर्ष नगर मेरठ

२२,२३,२४ अक्टूबर १९७८

आर्य समाज के संस्थापक

महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती

निर्वाण : १८८३ ई०

कमलों से मेरठ शहर आर्य समाज की स्थापना
सितम्बर १८७८ को सम्पन्न हुई।

★ वेदों के सच्चे अनुयायी।
★ युग प्रवर्त्तक।
★ महान् समाज सुधारक।
★ हिन्दी भाषा के प्रबल समर्थक।
घोर अंध विश्वास, पाखंड एवं रूढ़िवादिता
कड़ा प्रहार करने वाले।
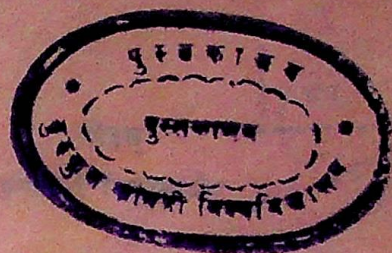
मुख्य पृष्ठ परिचय

मध्य में स्वधर्म स्वराज्य के प्रणेता महर्षि दयानन्द

ऊपर बायें से दायें :—स्वामी वेदानन्द, स्वामी विद्यानन्द विदेह, स्वामी दर्शनानन्द, दण्डि गुरु विरजानन्द, स्वामी सर्म्पणानन्द, आनन्द स्वामी जी, स्वतन्त्रता नन्द जी।

बायें ऊपर से नीचे :—लौह पुरुष सरदार वल्लभ भाई पटेल, महादेव गोविन्द रानाडे, हुतात्मा मदनलाल ढींगरा, शहीद ऊधम सिंह, भाई बालमुकन्द।

दायें ऊपर से नीचे :—नेताजी सुभाष चन्द्र बोस, अमर शहीद भगत सिंह, खुदीराम बोस, ठाकुर रोशनसिंह, राजेन्द्र लाहाड़ी।

नीचे बायें से दायें :—पं० नरेन्द्र जी हैदराबाद, अशफाकुल्ला खॉन, पं० रामप्रसाद बिस्मिल, श्री चन्द्रशेखर आजाद, पं० प्रकाशवीर शास्त्री।

गोले में स्वामी जी के दायें से :—नारायण स्वामी, महारानी लक्ष्मीबाई झाँसी, क्रान्ति के प्रणेता रामकृष्ण वर्मा, भाई परमानन्द जी, विनायक रावजी कोरटकर हैदराबाद, वीर सावरकर, लाला लाजपतराय, 1857 के शहीद मंगल पांडे, स्वामी आत्मानन्द जी महाराज।

ओ३म्

कृण्वन्तो विश्वमार्यम
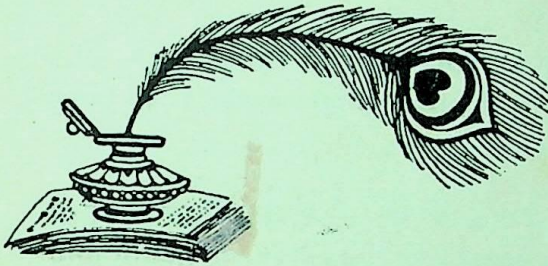
सम्पादकीय

पूज्य महर्षि स्वामी दयानन्द जी सरस्वती के कर-कमलों द्वारा स्थापित मेरठ शहर आर्य समाज स्थापना शताब्दी समारोह के अवसर पर मैं स्मारिका समिति की ओर से अपने समस्त आर्य बन्धुओं का हार्दिक अभिनन्दन करता हूँ जिनके परामर्श, सहयोग एवम् कठिन परिश्रम से यह कार्य सम्पन्न हो सका है। इस स्मारिका के प्रकाशन में प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से जिनका भी सहयोग प्राप्त हुआ है वे सभी बधाई के पात्र हैं।

महर्षि स्वामी दयानन्द जी सरस्वती भूमिगत स्वतन्त्रता आन्दोलन के प्रमुख सूत्रधार थे तथा मेरठ नगर स्वतन्त्रता संग्राम की प्रथम चिंगारी का स्रोत। अतः मेरठ आर्य समाज भी एक ऐतिहासिक संस्था बन गई जिसका स्वर्णिम इतिहास मानव समाज के लिये प्रेरणा स्रोत है। मेरठ आर्य समाज के इस ऐतिहासिक स्वरूप को निखारने में जिन महान् आत्माओं का योगदान है उनमें श्री पंडित तुलसीराम जी, श्री बाबू घासीराम जी, श्री बाबू मुसद्दीलाल जी तथा श्री पंडित नरेन्द्र जी एवम् श्री पंडित प्रकाशवीर जी शास्त्री के नाम अत्यन्त उल्लेखनीय हैं। वे हमारे प्रेरणा स्रोत रहे हैं। उनका पथ-प्रदर्शन ही हमारा शक्ति-पुञ्ज है। उनकी सेवायें आर्य जगत् में वन्दनीय हैं। स्मारिका समिति की ओर से उनको हार्दिक श्रद्धाञ्जली अर्पित है।

इस स्मारिका में जहाँ एक ओर अत्यन्त उच्च कोटि के प्रमाणिक लेखों को स्थान देने का प्रयास किया गया है वहाँ इसके ऐतिहासिक एवम् स्मरणीय स्वरूप को भी, दृष्टि में रखा गया है तथा रोचकता प्रदान करने के लिये लगभग प्रत्येक लेख के अन्त में कुछ रोचक संस्मरण भी दिये गये हैं। आशा है कि उपरोक्त तथ्यों के आधार पर यह स्मारिका पाठकों को सदैव स्मरणीय एवम् अत्यन्त रुचिकर होगी।

शताब्दी के अवसर पर वैसे तो मेरठ आर्य समाज का गत १०० वर्षों का एक भव्य इतिहास भी प्रकाशित हो रहा है जिसमें पिछले समस्त कार्य-क्रमों का विस्तृत विवरण होगा परन्तु हमारे इस शताब्दी समारोह का संक्षिप्त विवरण इस स्मारिका का एक अत्यन्त आवश्यक अंग है। समारोह से पूर्व प्रकाशित होने के कारण यहाँ सम्मेलन की रूपरेखा ही ग्राह्य है।

पश्चिमी उत्तर प्रदेश में २९ सितम्बर सन् १८७८ को स्थापित मेरठ शहर आर्य समाज ही महर्षि के द्वारा संचालित समाज-सुधारवादी आन्दोलन का प्रथम् केन्द्र है।

इस शताब्दी काल में मेरठ आर्य समाज एक वट्-वृक्ष के समान पल्लवित हुआ है। जिसमें जिले के लगभग २५० आर्य समाज मन्दिर, सैंकड़ों शिक्षण संस्थायें एवम् गुरुकुल, व्यायाम शालायें, औषधालय, पुस्तकालय एवम् वाचनालय मानव सेवा में रत हैं। इसीलिये मेरठ शहर आर्य समाज की शताब्दी समस्त जिले के अथक परिश्रम का परिणाम है।

यह शताब्दी चिरस्मरणीय रहेगी। इस अवसर पर रचनात्मक कार्य-क्रमों के अन्तर्गत समारोह से पूर्व एक भव्य नेत्र चिकित्सा शिविर भी आयोजित किया गया है जिसने जिले में लगाये गये अब तक के समस्त नेत्र चिकित्सा शिविरों से बाजी मार ली है। संयोग से स्मारिका प्रकाशन के साथ ही यह शिविर सम्पन्न हो गया है अतः आप यह जानकर गौरवान्वित होंगे कि इस शिविर में २५०० रोगियों के नेत्रों को भली प्रकार देखा गया व उनका उपचार किया गया। लगभग ३०५ आप्रेशन किये गये। इस सभी कार्य-क्रम को सफल बनाने में संयोजक श्री राधेलाल जी, सह-संयोजक श्री रविन्द्र प्रकाश जी तथा समस्त आर्यकुमार सभा के युवा-साथियों एवम् श्रीमती कैलाश सोनी के नेतृत्व में स्त्री समाज थापर नगर व शहर का दिन-रात अथक परिश्रम अत्यन्त सराहनीय है। स्मारिका समिति की ओर से वे सभी बधाई के पात्र हैं।

इस शताब्दी समारोह को सफल बनाने हेतु आर्य समाज मेरठ के प्राण श्री मनोहरलाल जी सर्राफ तथा श्री इन्द्रराज की सेवायें मानव समाज के लिये सदैव प्रेरणा देती रहेंगी।

समारोह के अवसर पर विशाल वृहद यज्ञ, राष्ट्र निर्माण सम्मेलन, विशाल शोभा यात्रा, नशाबन्दी सम्मेलन, गोवंशवर्धन सम्मेलन, वर्णाश्रम (वर्ग संघर्ष विरोधी) सम्मेलन, महिला सम्मेलन, युवक एवम् चरित्र निर्माण सम्मेलन, वैदिक शिक्षा सम्मेलन आदि कार्य-क्रम आयोजित किये गये हैं।

इस अवसर पर आर्य जगत् के महान् सन्यासी, विद्वान एवम् नेता पधार रहे हैं। इस सम्मेलन में लगभग ५० विशिष्ठ अतिथि समारोह की शोभा बढ़ायेंगे। गाँव-गाँव, शहर-शहर से देश के कोने-कोने से हजारों व्यक्ति पधारेंगे।

समारोह स्थल के लिये जीमखाना मैदान निश्चित किया गया है जिसका नाम प्रथम स्वतन्त्रता संग्राम के नारे 'स्वधर्म स्वराज्य संघर्ष नगर' पर रखा गया है। समारोह की विशाल पैमाने पर तैयारी की गई हैं। हैदराबाद के अभूतपूर्व चित्रकार श्री प्रकाशार्य जी संग्राम एवम् इनकी धर्मपत्नी श्रीमती प्रभावती इस शताब्दी समारोह के अलंकरण में रात-दिन जागकर लगे हुए हैं। हजारों व्यक्तियों के निवास एवम् भोजन की निशुल्क व्यवस्था भी समारोह समिति की ओर से की गई है।

इस अवसर पर हैदराबाद के महान् क्रान्तिकारी आर्य नेता श्री रामचन्द्र राव वन्देमातरम्, साहित्य जगत् के अर्न्तराष्ट्रीय ख्याति प्राप्त, मूक साधू, आर्य संस्कृति के चितेरे प्रसिद्ध उपन्यासकार श्री वैद्य गुरुदत्त जी एवम् समारोह की शान, आर्य जगत् के महान् चित्रकार अपनी धुन के धनी एवम् रेखाओं के अभूतपूर्व चितेरे, कला के जादूगर पंडित प्रकाशार्य जी संग्राम का विशाल नागरिक अभिनन्दन किया जायेगा।

गत् १०० वर्षों के मेरठ आर्य समाज के ऐतिहासिक तथ्यों का विभिन्न पहलुओं से मन्थन कर "इतिहास के पृष्ठों" में संजोने का जो कार्य श्री चन्द्रप्रकाश जी ने किया है निसन्देह वे भी बधाई के पात्र हैं।

सारे समारोह को सफल बनाने के लिये भिन्न-भिन्न समितियाँ गठित की गई हैं। जो प्राण-प्रण से अपने काम में जुटी हुई हैं। उनके समस्त संयोजक बधाई के पात्र हैं।

अन्त में मैं पुनः सभी का हार्दिक धन्यवाद करता हूँ तथा स्मारिका के सफल प्रकाशन के लिये मेरठ के प्रसिद्ध मुद्रक श्री खैराती लाल गम्भीर, "आर्यन प्रेस" का भी अत्यन्त आभारी हूँ जिन्होंने इतने कम समय में इस स्मारिका का इतना सुन्दर प्रकाशन किया है।

स्मारिका के लेख संकलन में यद्यपि पूर्ण सावधानियाँ रक्खी गई हैं परन्तु फिर भी किसी भूल अथवा त्रुटि के लिये क्षमा प्रार्थी हूँ। स्थानाभाव एवम् समयाभाव के कारण जो सामग्री प्रकाशित नहीं हो सकी है उसके लिये हमें अत्यन्त खेद है।

● **स्वराज्य चन्द्र**

ओ३म्

युग पुरुष महर्षि दयानन्द सरस्वती के प्रति श्रद्धाञ्जली

मानुष्ये सति दुर्लभा पुरुषता पुँसत्वे पुनर्विप्रता ।
विप्रत्वे बहुविद्यताऽतिगुणता विद्यावतो अर्थज्ञता ।।
अर्थज्ञस्य विचित्र वाक्य पटुता तत्रापि लोकज्ञता ।
लोकज्ञस्य समस्तशास्त्र विदुषो धर्ममतिदुर्लभा ।।

मनुष्यों में 'पुरुष' मिलना दुर्लभ है और उनमें भी विप्र जो ब्रह्म का वेत्ता हो । ऐसा विप्र भी कदाचित मिल जाये किन्तु विद्वत्ता और गुण सम्पन्नता का संयोग कठिन है । बिना अर्थ ज्ञान के कोरी विद्वत्ता भी किस काम की । फिर स्वतः समझ भी लिया तो दूसरों को समझा सकने की क्षमता सहज नहीं । लोक मन का ज्ञान न हुआ तो वाणी का प्रसाद भी क्या करेगा । वह भी मिला तो सम्पूर्ण शास्त्रों का पण्डित तथा धर्ममति व्यक्ति क्वचित ही मिले । इन सब गुणों से सम्पन्न व्यक्ति ही युग पुरुष होता है ।

महर्षि दयानन्द ने अपना सारा जीवन वेद प्रतिपादित सिद्धान्तों एवं आदर्शों के प्रचार व प्रसार में लगाया । वेद आदि शास्त्रों के गहन विषयों को सरल ढंग से प्रस्तुत करने की जो शैली अपनी वाणी एवं लेखनी द्वारा अपनाई वह अत्यन्त प्रशंसनीय है ।

उन्होंने अपने विकसित विचारों, दीर्घ अनुभव तथा निरन्तर परिश्रम से हमारा सभी क्षेत्रों में मार्ग दर्शन किया । उनके दिव्य तेज युक्त व्यक्तित्व से प्रभावित हम उसी मार्ग पर चलकर सफलता की ओर बढ़ रहे हैं ।

अनेक क्षेत्रों में उनकी उपलब्धियाँ और कार्य के प्रति लगन आने वाले समय में हमेशा प्रेरणा देती रहेगी ।

उनके द्वारा छोड़ी हुई परम्पराओं और आदर्शों के प्रति हम सब अपने आपको प्रत्यार्पित करते हैं । अब उनकी पुण्य स्मृति ही हमारा प्रेरणा स्रोत बनकर रह गई है ।

● प्रताप चन्द

राष्ट्र निर्माण की वैदिक विचार धारा

श्री मनोहर लाल जी सर्राफ, प्रधान शताब्दी समारोह समिति

आज से सौ साल पहले 29 सितम्बर 1878 को आर्य समाज के प्रवर्तक महर्षि दयानन्द सरस्वती ने स्वयं अपने हाथों से इस नगर में इस समाज की आधारशिला रखी थी। आप जानते ही हैं कि यह देश में चौथी आर्य समाज थी। उसके पहले वे बम्बई, लाहौर और रुड़की में आर्य समाजों की स्थापना कर चुके थे। यह वह समय था जब महर्षि की दृष्टि हमारे धार्मिक कुसंस्कारों, सामाजिक रूढ़ियों, जातिगत बन्धनों और परम्परागत भेदभावों को मिटाने पर लगी थी। ईसाइयत की प्रबल लहर भारतीयों को नैतिक और राजनीतिक दोनों दृष्टियों से दीन, हीन, पराधीन और पतित बनाने पर उतारू थी। ऐसे समय में महर्षि ने पाखंडखंडनी पताका फहराई। पश्चिम के उस आक्रमण को विफल करने के लिए उनके लिए आवश्यक हो गया कि वे चुन-चुनकर अपने समाज की कमजोरियों को दूर करें। उनके खंडनात्मक कार्य का यही हेतु था। और मैं कहूँ तो यही उसका सौन्दर्य था। उसका उद्देश्य विवाद और शास्त्रार्थ के पचड़े में पड़ना नहीं था। महर्षि तो केवल यही चाहते थे कि समाज अपनी कमजोरियों को समझे और उसे दूर करे ताकि विदेशियों के सांस्कृतिक आक्रमण और राजनीतिक पराधीनता का उचित रूप से मुकाबला कर सके।

महर्षि दयानन्द सरस्वती केवल संस्कृत, हिन्दी और गुजराती जानते थे। अंग्रेजी से वे सर्वथा अनभिज्ञ थे। इसीलिए उनकी सारी भावनाओं, कल्पनाओं; आकांक्षाओं और आदर्शों का एकमात्र स्रोत सिर्फ वह वैदिक साहित्य था जिसे मैकाले जैसे लोग इस देश से ओझल कर देना चाहते थे। जब इस देश के लोगों को जंगली; असभ्य और अशिक्षित बताया जा रहा था तब ऋषि ने मनु का प्रमाण देकर यह बताया कि 'इसी देश में जन्म लेने वाले हमारे पूर्वजों ने ही सारे संसार को शिक्षित एवं सभ्य बनाकर उनको आचार-विचार और चरित्र की शिक्षा-दीक्षा दी थी।' वेद को संसार में सबसे पुराना साहित्य बताकर सब सत्य विद्याओं का उसे ग्रन्थ बताया। आर्यावर्त के लिए अखंड, सार्वभौम, चक्रवर्ती राज्य की बात सामने रखकर उसे पूरा करने के लिए उन्होंने 'आर्य समाज' की स्थापना की। यही है वह पुष्ठभूमि जिसे ध्यान में रखकर महर्षि के महान् मिशन और आर्य समाज के महान् कार्य को समझने और जानने का प्रयत्न किया जाना चाहिए।

महर्षि के 'सत्यार्थ प्रकाश' को देश, जाति, समाज एवं राष्ट्र के निर्माण की सात्विक भावना से लिखा गया ग्रन्थ माना जाना चाहिए। देश-प्रेम उनमें कूट-कूटकर भरा था। सत्यार्थ प्रकाश में वे लिखते हैं: 'यह आर्यावर्त देश ऐसा है जिसके सदृश भूगोल में दूसरा कोई देश नहीं।' आगे महर्षि की वेदना देखिए: 'विदेशियों के आर्यावर्त में राज्य होने का कारण आपसी फूट, मतभेद, ब्रह्मचर्य का सेवन न करना आदि कुलक्ष्य विद्या न पढ़ना-पढ़ाना, बाल्यावस्था में अस्वयंवर विवाह, विषयासक्ति, मिथ्या भाषण आदि कुलक्षण, वेद-विद्या का अप्रचार आदि कुकर्म हैं।' 'जब आपस में भाई-भाई लड़ते हैं तभी तीसरा विदेशी आकर पंच बन बैठता है।' 'जब तक एकमत, एक हानि-लाभ, एक सुख-दुःख परस्पर न मानें, तब तक उन्नति होना बहुत कठिन है।' समुद्र यात्रा की चर्चा करते हुए उन्होंने कहा: 'क्या बिना देश-देशान्तर और द्वीप-द्वीपान्तर में राज्य व व्यापार किए स्वदेश की कभी उन्नति हो सकती है?' इसी प्रसंग में वे आगे कहते हैं: 'इसी मूढ़ता से इन लोगों ने चौका लगाते-लगाते, विरोध करते-कराते सब स्वातन्त्र्य, आनन्द, धन, राज्य, विद्या और पुरुषार्थ पर चौका लगाकर हाथ पर हाथ धरे बैठे हैं।'

'स्वराज्य' की कल्पना भी सबसे पहले भारत में महर्षि दयानन्द ने ही की थी। वह भी आज से सौ साल पहले। उन्होंने कहा था: 'कोई कितना ही करे, परन्तु जो स्वदेशी राज्य होता है वह सर्वोपरि उत्तम होता है।' कितनी सरलता और स्पष्टता है इन शब्दों में। कांग्रेस के इतिहास में तो यह शब्द पहले-पहल 1906 में दादा-भाई नौरोजी ने बोला और उसके दस साल बाद 1916 में लोकमान्य तिलक ने और उसके बारह साल बाद 1928 में लाहौर कांग्रेस ने इसे अपना लक्ष्य घोषित

किया । परन्तु महर्षि की विचारधारा का स्रोत तो वेद ऋचाएँ थीं । अथर्ववेद ने कहा : स्वराज्य से श्रेष्ठ कोई दूसरा राज्य नहीं है ।[1] ऋग्वेद ने भी कहा : 'स्वराज्य चलाने के लिए लोगों में तीन योग्यताएँ होनी चाहिए—मित्र दृष्टि, विस्तृत दृष्टि और ज्ञान । यदि लोग आपस में लड़ने झगड़ने वाले होगे, संकुचित दृष्टिकोण के होंगे तथा अज्ञानी होंगे तो स्वराज्य चलाने में समर्थ नहीं होंगे ।'[2] ऋग्वेद ने ही अन्यत्र कहा : 'ज्ञानी सुविचारों का संवर्धन करें, शस्त्रधर शत्रुओं का प्रतिकार करें और सब मिलकर स्वराज्य शासन चलावें ।'[3] महर्षि स्वयं 'आर्याभिविनय' में यजुर्वेद के एक मन्त्र की व्याख्या करते हुए कहते हैं : 'हम सौ वर्ष की आयु में कभी पराधीन न हों और स्वाधीन ही रहें ।'[4]

स्वाधीन तो हम हो गये । अब देखना यह है कि इस स्वाधीनता को कायम कैसे रखा जाय । स्वराज्य को सुराज्य कैसे बनाया जाय । राष्ट्र का निर्माण किन आधारों पर किया जाय ।

अथर्ववेद के भूमिसूक्त में इस बात को अच्छी तरह बताया गया है । स्पष्ट कहा गया है : तू भूमि मेरी माता है और मैं तुझ भूमि का पुत्र हूँ ।[5] यह वेद ने पहली शर्त बताई । प्रत्येक राष्ट्रवासी में, भारत माँ का पुत्र बनने जैसा देश-प्रेम हो तभी देश सुधरेगा और आगे बढ़ेगा । आगे वेद कहता है राष्ट्र के निर्माण के लिए सात बातें आवश्यक हैं—सत्य, ऋत, क्षत्र-शक्ति, दीक्षा, तप, ब्रह्म शक्ति और यज्ञ ।[6] सत्य और सत्याचरण (ऋत) दोनों जरूरी हैं । हम जानते हैं कि क्षत्र-शक्ति की राष्ट्र को कितनी जरूरत होती है ।

कोई हमारी ओर कुदृष्टि नहीं डाल सकें । परन्तु राष्ट्र-निर्माण का यह अन्तिम छोर नहीं हैं । हमें अन्दर से भी बलवान होना है । उसके लिये सकल्प शक्ति को जगाना होगा, दृढ़ संकल्प के साथ कार्य को हाथ में लेना होगा । जीवन में कष्ट-सहिष्णुता लानी होगी । यही तो दीक्षा और तप है । राष्ट्र की ब्रह्म शक्ति को भी जगाना होगा । त्यागी, तपस्वी, संयमी, परोपकारी और आत्मजयी लोगों की एक पूरी सेना तैयार करनी होगी जो देशभर को अध्ययन अध्यापन से पूर्ण कर दे तथा इस प्रकार विद्या और संयम की ज्योति को देश के कोने-कोने में फैलाए । वेद ने यह भी कहा कि राष्ट्र को दो बातों से और बचना है : निर्धनता और विलासिता—राष्ट्र में कोई निर्धन न रहे । सबकी आवश्यकताएँ सुखपूर्वक पूरी हों । परन्तु राष्ट्र का कोई भी नर-नारी धन-ऐश्वर्य में लिप्त होकर विलासी न हो पाए । आज हमारा राष्ट्र इन दोनों रोगों से ग्रसित है । परन्तु हमें ये रोग ही बाहर निकालने हैं । जहाँ निर्धनता से बचना आवश्यक है वहाँ विलासिता से बचना ही आवश्यक है । राष्ट्रवासियों की विलासिता राष्ट्र को दुर्बल बना देती है ।[7]

अन्तिम बात यज्ञ की है । हमारा सबका जीवन यज्ञमय हो । उसमें संगतीकरण हो । साथ मिलकर काम करने की भावना हो । उसके बिना राष्ट्र-निर्माण न हो सकेगा । यदि ये सारी बातें आ गईं तो राष्ट्र-निर्माण की प्रक्रिया आसान हो जावेगी और हमारा राष्ट्र संसार में एक विशिष्ट स्थान प्राप्त कर सकेगा । जिस राष्ट्र के लोग —सर्वसाधारण जनता, राज्य कर्मचारी, राजनीतिक और सामाजिक नेता, शिक्षक और छात्र—जीवन में वेद की बताई इन सब बातों को लाते हैं, वह राष्ट्र सर्वतोमुखी उन्नति करता है, सुख-समृद्धि से पूर्ण रहता है, अदीन और अखंडित रहता है । उसे न कोई दबा सकता है और न पराजित कर सकता है । वह सदा निर्बाध रूप से जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में आगे बढ़ता जाता है । आदिम ऋषियों से लेकर महर्षि दयानन्द और महात्मा गाँधी पर्यन्त सभी राष्ट्र नेताओं ने इन्हीं आधारों पर हमारा पथ प्रदर्शित किया है ।

---

[1] यदजः प्रथमं संबभूव स ह तत् स्वराज्यमियाय । यस्मान्नान्यत परमस्ति भूतम् । (अथर्व १० । ७ । ३१)

[2] आ यद् वामीयचक्षसा मित्र वयं च सूरयः । व्याचिष्टे बहुपाय्ये यतेमहि स्वराज्ये ॥ (ऋ० ५ । ६६ । ६)

[3] इत्था हि सोम इन्यदे ब्रह्मा चकार वर्धनम् । शविष्ठ वज्रिन्नोजसा पृथिव्या निःशशा अहिमर्चन्ननु स्वराज्यम् ॥ (ऋ० १–८०–१)

[4] अदीनाः स्याम शरदः शतम् ।

[5] माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः । (अथर्व १२–१–१२)

[6] सत्यं बृहदृतमुग्रं दीक्षा तपो ब्रह्म यज्ञः पृथिवीं धारयन्ति । (अथर्व १२–१–१)

[7] ये गन्धर्वा अप्सरसो ये चारायाः किमीदिनः । पिशाचान्त्सर्वा रक्षांसि तानस्मद् भूमे यावय ॥ (अथर्व १२-१-५०)

शुभकामनायें

एवम्

सन्देश
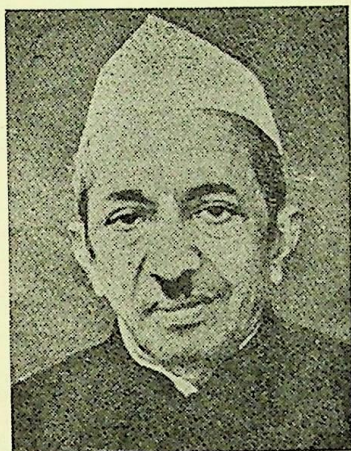
उप-राष्ट्रपति,
भारत
नई देहली
VICE-PRESIDENT
INDIA
NEW DELHI

जून 17, 1978

प्रिय महोदय,

आपका पत्र दिनांक 5 जून, 1978 का प्राप्त हुआ।

धन्यवाद !

मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई कि आप आर्य समाज मेरठ का स्थापना शताब्दी समारोह आगामी 22, 23 और 24 अक्तूबर, 1978 को मनाने जा रहे हैं। इस अवसर पर एक स्मारिका भी प्रकाशित करने का निश्चय किया गया है। मैं शताब्दी समारोह एवं स्मारिका की सफलता के लिए अपनी हार्दिक शुभकामनाएं भेजता हूँ।

आपका,

(ह० ब० दा० जत्ती)
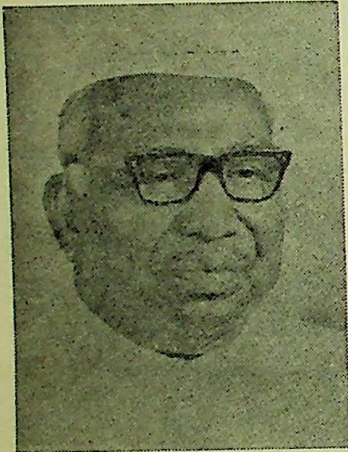
सत्यमेव जयते

रक्षा मन्त्री, भारत
MINISTER OF DEFENCE, INDIA
नई दिल्ली

दिनांक 24 जून, 1978

मेरठ आर्य समाज स्थापना शताब्दी समारोह 22, 23, 24 अक्तूबर, 1978 को सम्पन्न होगा और इस अवसर पर एक स्मारिका का प्रकाशन भी किया जाएगा, यह जानकर प्रसन्नता है।

महर्षि दयानन्द ने आर्य समाज के माध्यम से समानता पर आधारित जातिविहीन समाज के निर्माण का प्रयास किया। महर्षि जी द्वारा स्थापित आर्य समाज उनके सिद्धान्तों के प्रचार और समाज सुधार की दिशा में अच्छा कार्य कर रहा है।

आशा है, स्मारिका में महर्षि दयानन्द के सिद्धान्तों, शताब्दी समारोह एवम् आर्य समाज द्वारा की जा रही समाज सेवाओं की समुचित जानकारी होगी।

समारोह सफल हो एवम् स्मारिका उपयोगी सिद्ध हो।

(जगजीवन राम)

राज्य मन्त्री
रक्षा मन्त्रालय
भारत सरकार
MINISTER OF STATE
MINISTRY OF DEFENCE
GOVERNMENT OF INDIA
NEW DELHI

Date : 16-6-1978

सन्देश

1. यह जानकर प्रसन्नता हुई कि आर्य समाज, मेरठ की स्थापना शताब्दी 22 से 24 जून 1978 को मनाई जा रही है और इस अवसर पर एक स्मारिका का भी प्रकाशन किया जा रहा है।

2. जिन परिस्थितियों में स्वामी जी समाज सुधार के कार्य में अग्रसर हुए थे तथा जिन सामाजिक मूल्यों को स्थापित करने का अखण्ड व्रत लिया था वह स्थितियाँ अब भी विद्यमान हैं। आर्य जनों को इस दिशा में सतत् प्रयास करने की आवश्यकता है। यदि हम इस समय एकजुट होकर सामाजिक कुरीतियों और जातिपाति के आडम्बर को समूल नष्ट करने का निश्चय करें और अपेक्षित वातावरण निर्माण करने का प्रयास करें तो मैं इसे स्वामी जी के प्रति सच्ची श्रद्धांजलि समझूंगा।

3. आशा है स्मारिका स्वामी जी द्वारा प्रचारित कार्य-क्रमों को जनता के सुसष्ट तथा सुरूचिपूर्ण ढंग से रखने में समर्थ होगी। इस दिशा में सफलता के लिए मेरी शुभ-कामनाएँ।

(शेर सिंह)
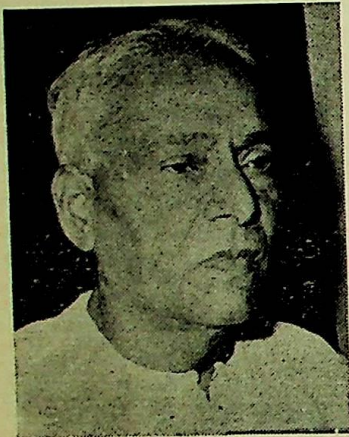
विधान भवन,
लखनऊ
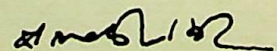
दिनांक 15 जून, 1978

सन्देश

मुझे यह जानकर हार्दिक प्रसन्नता है कि महर्षि स्वामी दयानन्द जी के कर-कमलों से संस्थापित आर्य समाज मेरठ को स्थापना शताब्दी समारोह के शुभ अवसर पर संस्था द्वारा एक स्मारिका का प्रकाशन किया जा रहा है।

इस प्रकार की स्मारिकाओं का अपना विशेष महत्व होता है क्योंकि इनसे मानव जीवन का मार्ग-दर्शन तो होता ही है साथ ही साथ मानसिक विकास एवं प्रेरणा भी मिलती है।

मैं इस संस्था के उज्जवल भविष्य की हार्दिक शुभ-कामना करता हूँ।

(बलवीर सिंह)
सिंचाई मन्त्री,
उत्तर प्रदेश

सन्देश

मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई कि आगामी 22-24 अक्टूबर को श्रद्धेय स्वामी दयानन्द सरस्वती के कर-कमलों द्वारा संस्थापित आर्य समाज मेरठ की स्थापना शताब्दी समारोह के शुभ अवसर पर एक स्मारिका के प्रकाशन का निश्चय किया गया है।

स्वामी दयानन्द एक सच्चे देशभक्त, कर्मठ, दयालु एवं महान् व्यक्ति थे। उनके द्वारा की गई देश सेवा और जन-कल्याण सम्बन्धी कार्य सदैव भारत के इतिहास में स्वर्ण अक्षरों में लिखे जायेंगे।

आशा है प्रस्तुत स्मारिका में उनके महान् जीवन और कार्यों पर विस्तारपूर्वक प्रकाश डाला जायगा जिसे पढ़कर पाठक तथा जनता लाभान्वित हो सके।

स्मारिका के सफल प्रकाशन हेतु मेरी शुभ कामनायें हैं।

शिवमंगल पाण्डेय
मंत्री, उत्तर प्रदेश

मालती शर्मा
उप-शिक्षा मन्त्री
विधान भवन, लखनऊ

जुलाई 7-11-1978

आदरणीय भाई साहब,

आपका 26 जून, 1978 का पत्र मुझे मिला। यह जानकर हार्दिक प्रसन्नता हुई कि 22, 23 एवं 24 अक्टूबर, 1978 को जीमखाना मैदान मेरठ में आर्य समाज का स्थापना शताब्दी समारोह का आयोजन किया जा रहा है, जो निश्चय ही सराहनीय है।

महर्षि दयानन्द जी द्वारा स्थापित इस आर्य समाज की स्थापना जिन उद्देश्यों एवं विचार-विनिमय के बाद किया गया है, मैं समझती हूँ उसे पूरा करने में आप सब सदैव अग्रणी रहेंगे।

इस अवसर पर एक स्मारिका तथा पत्रिका का एक विशेषाँक भी प्रकाशित करने का जो निश्चय आप सबने किया है, मैं समझती हूँ बहुत ही अच्छा कदम है। पत्रिका के माध्यम से महर्षि जी के आदर्शों तथा उनके विचारों को आने वाले महानुभावों को एक प्रेरणा मिले और उनसे वे लाभान्वित हों, यही शुभ कामना है।

शुभ कामनाओं सहित,

आप की बहन
ह०
(मालती शर्मा)

* ॐ *
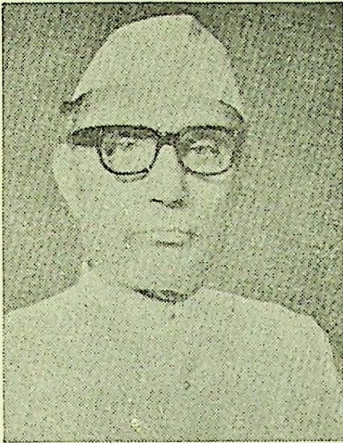
स्थापित : १९०८ फोन : २७४७७१
रजिस्टर्ड : १९१४ तार : सार्वदेशिक

सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा

महर्षि दयानन्द भवन, रामलीला मैदान,
नई दिल्ली-११०००२

❀ सन्देश ❀

मुझे यह जानकर बड़ी प्रसन्नता हुई कि आप आर्य समाज मेरठ की स्थापना शताब्दी मनाने जा रहे हैं और इस अवसर पर आप एक स्मारिका का प्रकाशन कर रहे हैं। मैं आपके इन आयोजनों की सफलता की कामना करता हूँ।

आर्य समाज मेरठ की स्थापना स्वयं महर्षि दयानन्द सरस्वती ने अपने कर कमलों से की थी। इस समाज ने आर्य समाज को चोटी के नेता और विद्वान् प्रदान किए हैं जिन्होंने आर्य समाज के कार्य को बढ़ाया और चमकाया है। इसी समाज की वेदी से महर्षि दयानन्द ने यह अन्तिम भविष्यवाणी की थी कि आर्य समाज बड़े-बड़े सुयोग्य विद्वान्, कार्य-कर्ता और नेता पैदा करेगा। आर्य समाज की बाटिका खूब फले-फूलेगी परन्तु मैं उसे न देख सकूँगा।

इस प्रकार आर्य समाज के इतिहास में आर्य समाज मेरठ का विशिष्ट स्थान है।

आशा है यह समाज अपनी विशिष्ट प्रगतियों से न केवल इस विशिष्टता की रक्षा ही करेगा अपितु इसमें वृद्धि करेगा।

(रामगोपाल शाल वाले)
प्रधान

❀ सन्देश ❀

आर्य समाज मेरठ भारत की कतिपय उन भाग्यशाली आर्य समाजों में से है जिसकी स्थापना महर्षि दयानन्द सरस्वती ने अपने कर कमलों से की है। हर्ष है कि सफलतापूर्वक जन सेवा करते हुए आर्य समाज ने अपने सौ वर्ष पूर्ण किये हैं और आगामी अक्टूबर 1978 में स्थापना शताब्दी समारोह मना रहा है। यह जानकर प्रसन्नता हुई कि अन्य आकर्षक और सराहनीय कार्य-क्रमों के साथ एक स्मारिका भी प्रकाशित होने जा रही है। हमारी शुभ कामनाएँ आप के साथ हैं तथा प्रभु से प्रार्थना है कि आप की समाज आगामी वर्षों में और सफलता के साथ जन सेवा में संलग्न होगी।

भवदीय :

(कैलाशनाथ सिंह)

सभा मन्त्री

आर्य प्रतिनिधि सभा

उत्तर प्रदेश, लखनऊ

❀ सन्देश ❀

आर्य समाज शताब्दी समारोह पर आयोजित गोरक्षा सम्मेलन का आमंत्रण प्राप्त हुआ। मैं गम्भीर रूप से अस्वस्थ चल रहा हूँ। फिर भी आने का पूरा प्रयास करूँगा।

मेरी कामना है कि आर्य समाज धर्म प्राण भारत के मस्तिक से गोहत्या का कलंक मिटाने के लिए जनमत बनाने में सफल हो।

● **भक्त रामशरण दास**

पिलखुवा

फोटो व चित्र

- ★ शहर आर्य समाज का ऐतिहासिक भवन
- ★ विशिष्ठ अतिथि
- ★ गौरवशाली व्यक्तित्व
- ★ आर्य जगत् के महान् सन्यासी
- ★ तीन महान् विभूतियाँ
- ★ आर्य समाज का नेतृत्व
- ★ आर्य समाज के उज्ज्वल रत्न
- ★ ७३ सम्मेलन की महान् विभूतियाँ
- ★ गुरुकुल प्रभात आश्रम
- ★ समिति के विभिन्न संयोजक
- ★ आर्य समाज द्वारा संचालित विद्या सदन
- ★ मेरठ आर्य समाजों के प्रधान एवम् मंत्री
- ★ मेरठ नगर के आर्य समाज मन्दिर
- ★ अन्तरंग सभायें, आर्य समाज, शहर व लालकुर्ती स्त्री समाज, कुमार सभा, आर्य कन्या इण्टर कालिज

मेरठ शहर आर्य समाज का ऐतिहासिक भवन
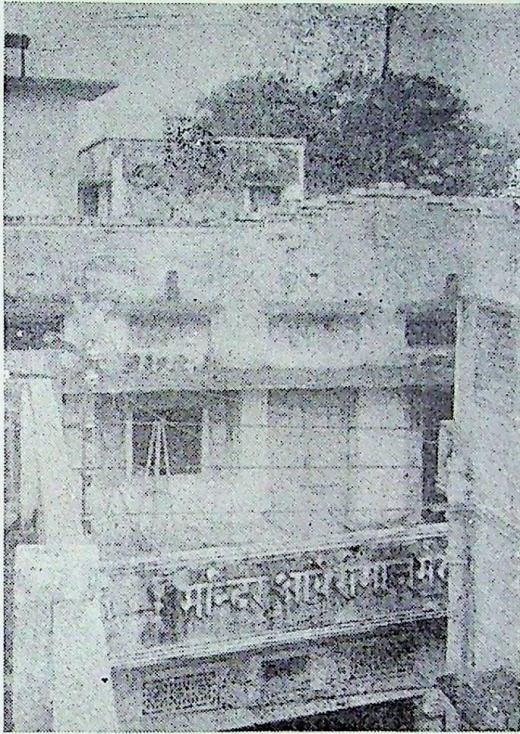
यज्ञशाला

भवन का ऊपरी भाग
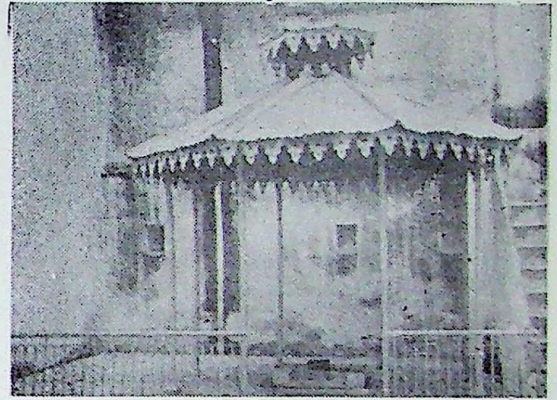
भवन का मुख्य द्वार
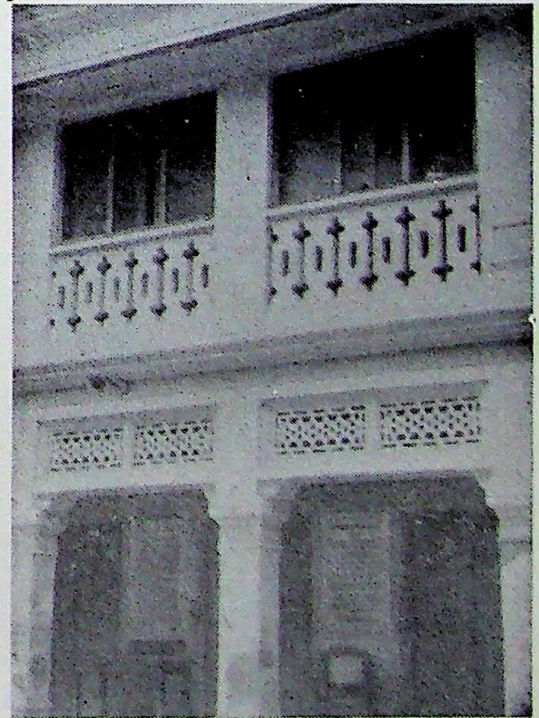
भवन का अग्र भाग

समारोह के विशिष्ट अतिथि
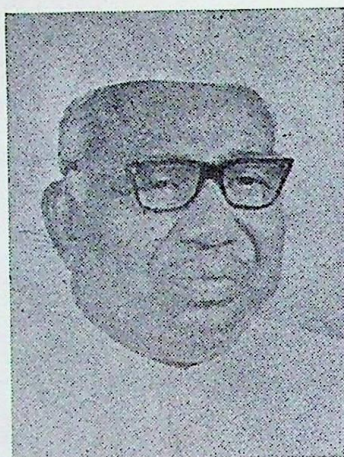
श्री बाबू जगजीवन राम
रक्षामंत्री, भारत सरकार
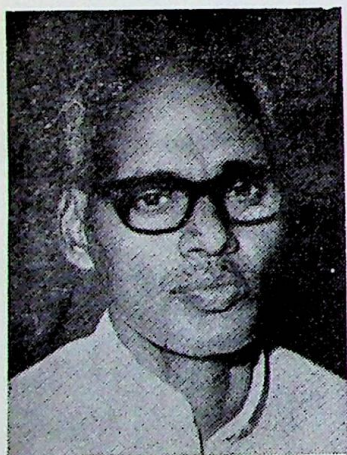
श्री रामनरेश यादव
मुख्यमंत्री, उत्तर प्रदेश
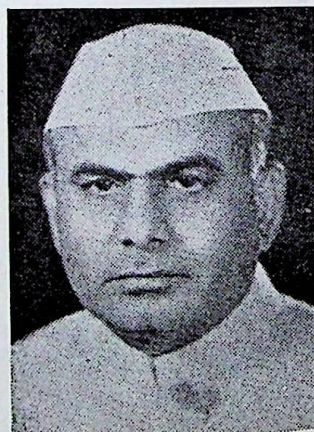
प्रो० शेरसिंह
राज्य रक्षामंत्री, भारत सरकार
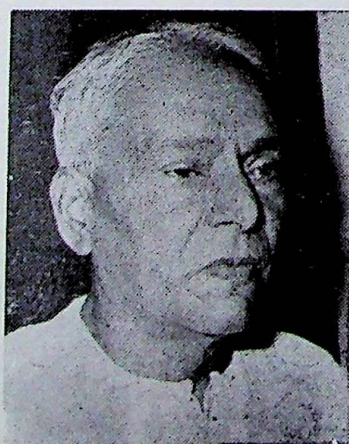
ठा० बलबीर सिंह
सिंचाई मंत्री, उत्तर प्रदेश

मेरठ आर्य समाज स्थापना शताब्दी समारोह के गौरवशाली व्यक्तित्व
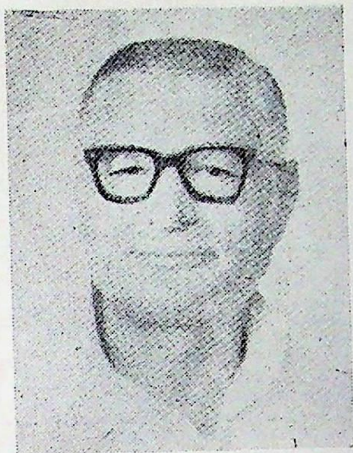
श्री पं० शिव कुमार 'शास्त्री'
भू० पू० संसद सदस्य

श्री रामनाथ जी सहगल
व्यवस्थापक शोभा यात्रा
मंत्री आर्य प्रादेशिक सभा, दिल्ली
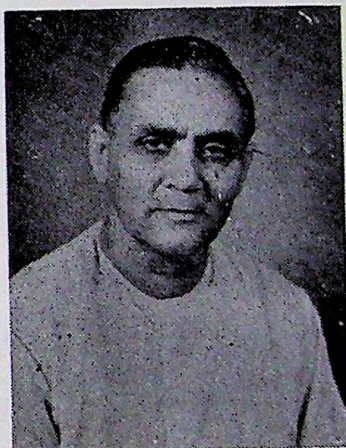
शास्त्रार्थ महारथी
श्री ओम प्रकाश जी शास्त्री
खतौली वाले

श्री के० नरेन्द्र
सम्पादक 'वीर अर्जुन', दिल्ली
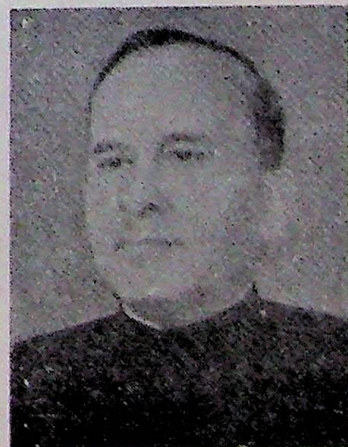
श्री वीरेन्द्र जी
सम्पादक 'वीर प्रताप', पंजाब

समारोह में पधारने वाले आर्य जगत के महान् सन्यासी ।
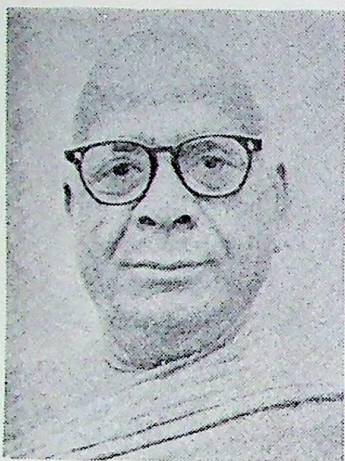
विदेशों में वैदिक धर्म का प्रचार
करने वाले महान् आर्य सन्यासी
सुप्रसिद्ध विज्ञान वेत्ता,
डा० स्वामी सत्य प्रकाश जी
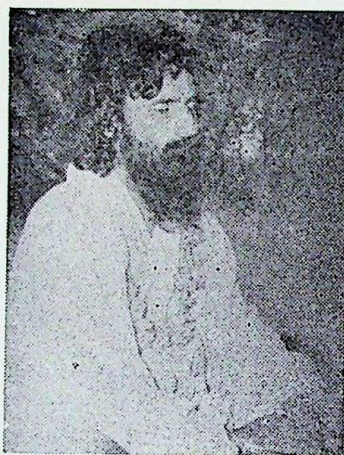
तपोनिष्ट महान् सन्यासी **स्वामी**
विवेकानन्द जी आचार्य
गुरुकुल प्रभात आश्रम
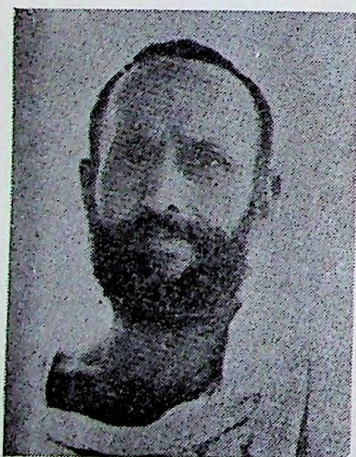
स्वामी ओमानन्द जी
संस्थापक गुरुकुल झज्जर
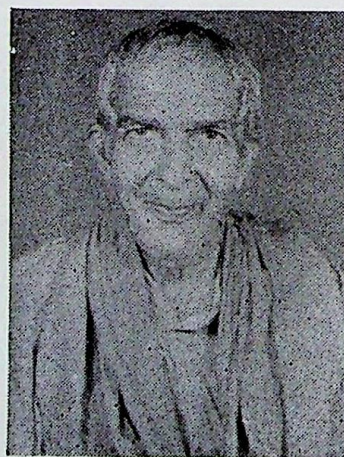
वेदों के प्रकाण्ड पंडित
श्री स्वामी धर्मानन्द जी
पूर्व धर्मदेव विद्या मार्तण्ड

समारोह की तीन महान् विभूतियाँ
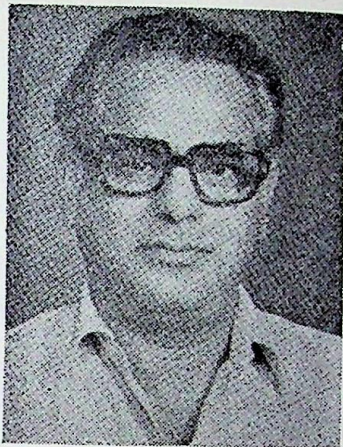
हैदराबाद के महान् क्रान्तिकारी,
आर्य नेता, महान् देश-भक्त
श्री रामचन्द्र राव वन्देमातरम्
जिनके शरीर पर कोड़ों की मार से गिरते हुए
मांस के प्रत्येक कतरे के साथ वन्देमातरम्
की आवाज निकलती थी।
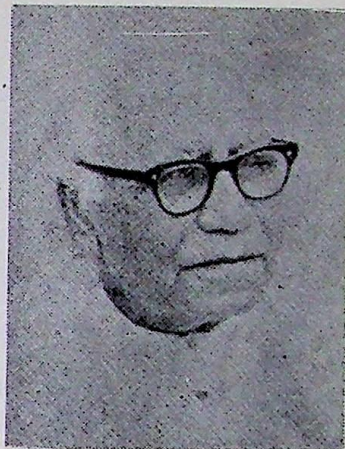
देश, धर्म और मानव जाति की साहित्य
के माध्यम से रक्षा करने वाले मूक-साधु
प्रसिद्ध उपन्यासकार
वैद्य गुरुदत्त जी
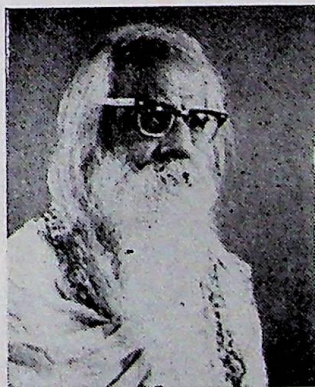
हैदराबाद में झोंपड़ी वाले बाबा के नाम से
प्रसिद्ध, कारपोरेशन के भूतपूर्व सदस्य, आर्य समाज
के महान् कलाकार, तूलिका के धनी, मूक चित्रों
को सजीव कर देने वाले अद्वितीय साधक
पं० प्रकाशार्य जी 'संग्राम'

आर्य समाज को जिनका नेतृत्व प्राप्त है—
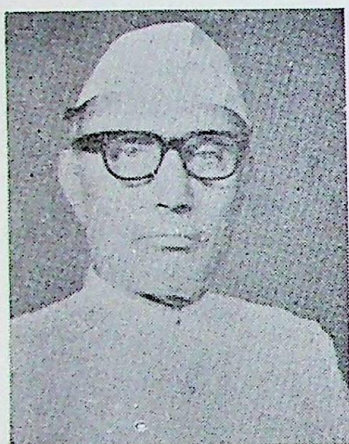
श्री लाला रामगोपाल जी शालवाले
प्रधान
सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा,
दिल्ली

श्री ओमप्रकाश जी त्यागी
मंत्री
सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा,
दिल्ली
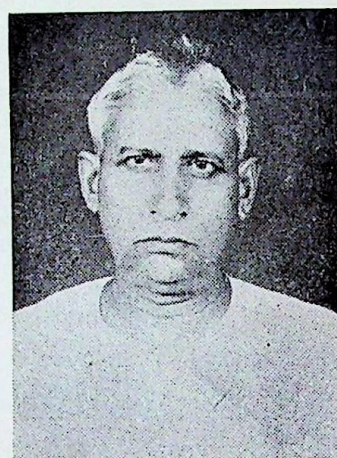
श्री विश्वबन्धु शास्त्री
प्रधान
आर्य प्रतिनिधि सभा,
उत्तर प्रदेश, लखनऊ
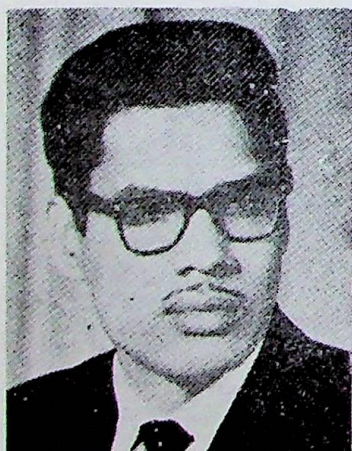
श्री कैलाश नाथ सिंह जी
एम. एल. ए.
मंत्री, आर्य प्रतिनिधि सभा,
उत्तर प्रदेश, लखनऊ
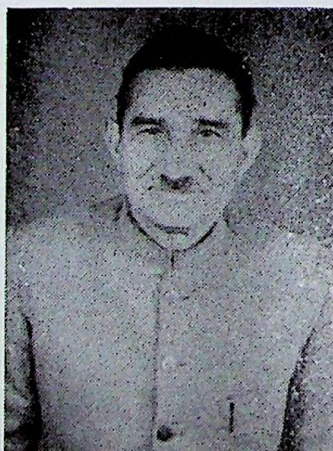
प्रिंसिपल माधव सिंह जी
प्रधान
आर्य उप-प्रतिनिधि सभा,
जिला मेरठ
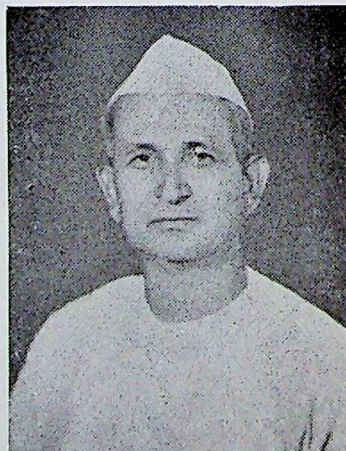
श्री चन्द्र किरण जी
कोषाध्यक्ष
आर्य प्रतिनिधि सभा,
उत्तर प्रदेश, लखनऊ

आर्य समाज के उज्ज्वल-रत्न

जिनकी केवल स्मृति ही शेष है।

महान् सन्यासी
पूज्य महात्मा आनन्द स्वामी जी

वेदों के अद्भुत व्याख्याता
पूज्य स्वामी विद्यानन्द जी 'विदेह'
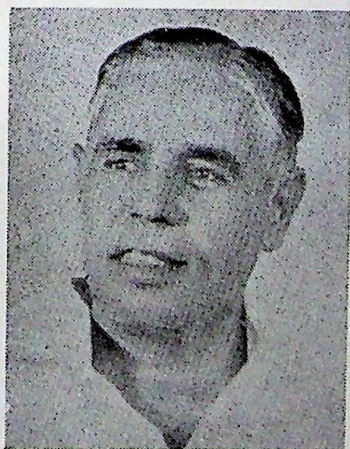
जन-जन के प्रिय नेता
पूज्य पं० प्रकाशवीर जी शास्त्री

हैदराबाद के महान् क्रान्तिकारी
श्री पं० नरेन्द्र जी

१९७३ में उत्तर प्रदेशीय आर्य समाज स्थापना शताब्दी समारोह
मेरठ की महान् विभूतियां, जो अब हमारे बीच नहीं हैं—
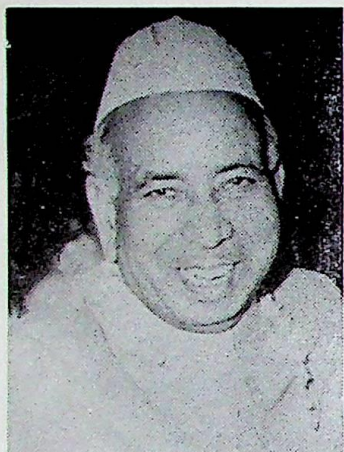
श्री बलजीत शास्त्री, प्रचार संयोजक
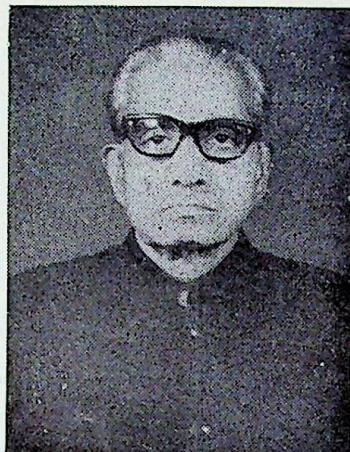
श्री विद्यासागर जी, भोजन संयोजक

श्री जानकी नाथ जी, प्रधान आर्य समाज, थापर नगर
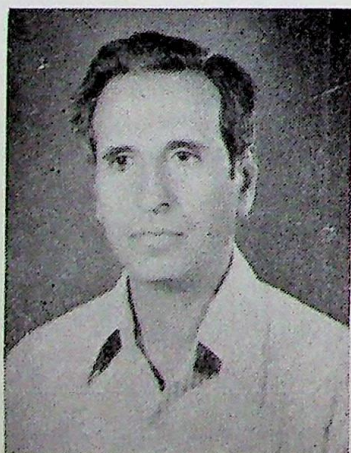
श्री विश्वमित्र जी, यज्ञ संयोजक
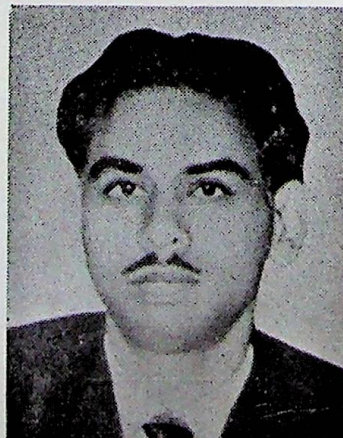
श्री वीरेन्द्र सेठी, कर्मठ कार्यकर्त्ता
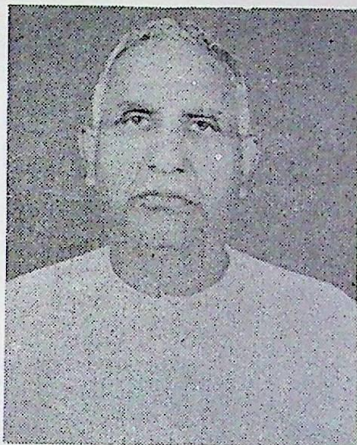
मेरठ आर्य समाज के प्राण

श्री मनोहर लाल जी सर्राफ
समारोह समिति के अध्यक्ष एवं
शहर आर्य समाज के प्रधान
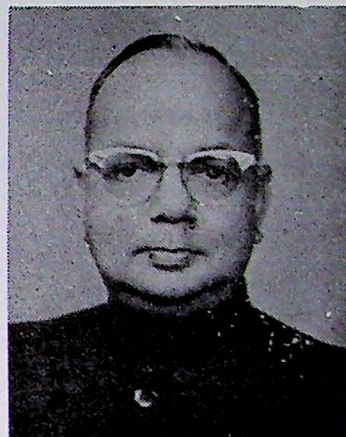
श्री बाबू शान्ति स्वरूप जी
प्रधान, केन्द्रीय आर्य
समिति मेरठ
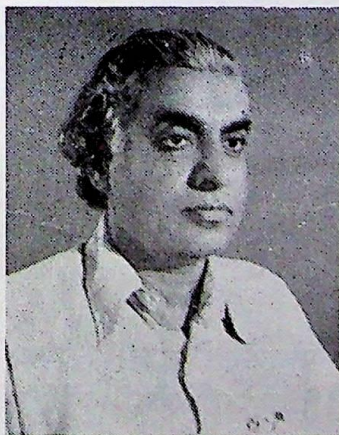
श्री इन्द्र राज जी
समारोह समिति एवं
मेरठ जिले के मन्त्री
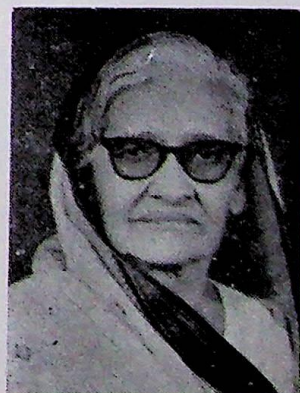
श्रीमती शकुन्तला गोयल
संयोजिका, महिला सम्मेलन
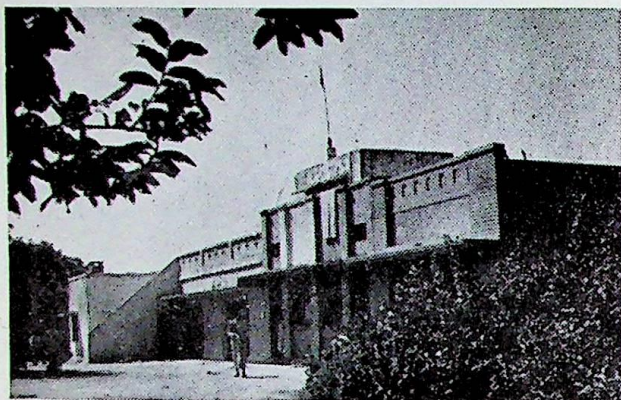
← गुरुकुल प्रभात आश्रम, टीकरी
(भोला झाल)
मेरठ का भव्य भवन

ब्रह्मचारी गुरुकुल प्रभात आश्रम →

← दयानन्द सेवाश्रम के अन्तर्गत
स्वामी दयानन्द होम्योधर्मार्थ औषधालय

शताब्दी समारोह समिति के संयोजक
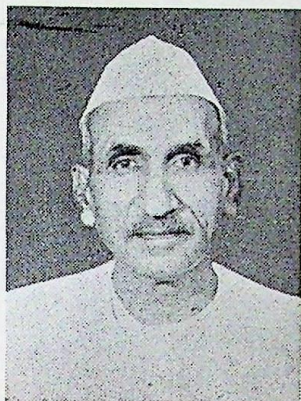
श्री राधे लाल सर्राफ
नेत्र चिकित्सा शिविर

श्री वि० स० विनोद
प्रचार
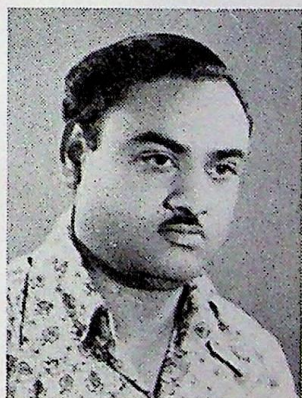
श्री स्वराज्य चन्द
पंडाल एवं स्मारिका

श्री रविन्द्र गुप्त
आवास
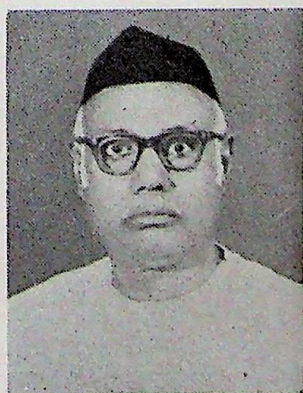
श्री रामधन जी
भोजन
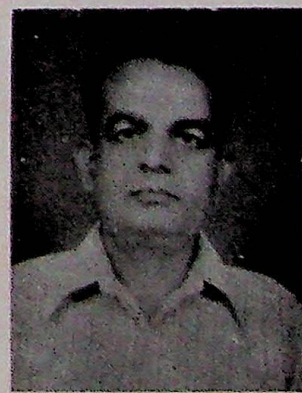
श्री देवेश्वर गुप्ता
शोभा यात्रा

शताब्दी समारोह समिति के संयोजक
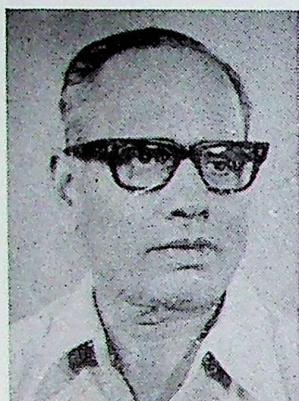
श्री शान्ति प्रकाश मित्तल
जल एवं सफाई
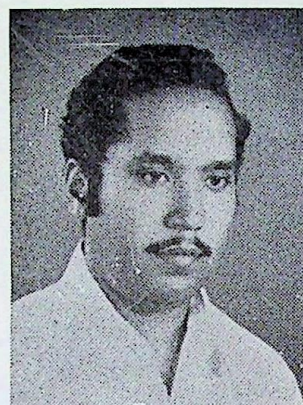
श्री रविन्द्र प्रकाश जी
नेत्र चिकित्सा शिविर
सह-संयोजक
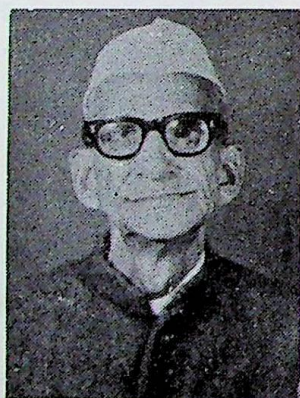
श्री लक्ष्मी नारायण मिश्र
प्रस्ताव निर्माण समिति
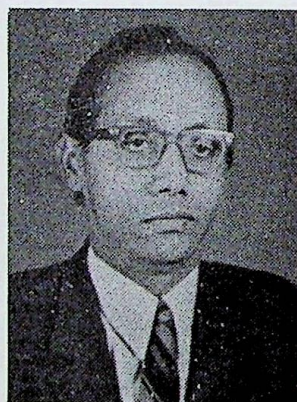
श्री जे० पी० गोयल
संयोजक अभ्यागत स्वागत
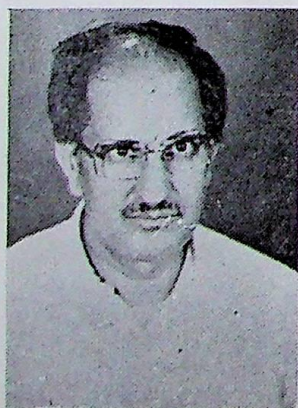
श्री रतन कुमार प्रेमी
प्रचार सह-संयोजक
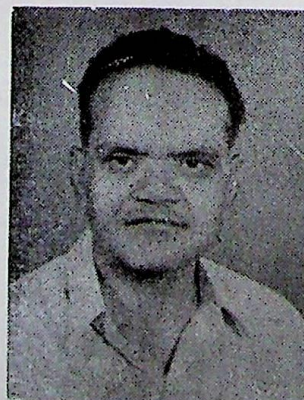
श्री इन्द्रेश्वर सक्सैना
स्वयंसेवक संयोजक

शताब्दी समारोह समिति के संयोजक
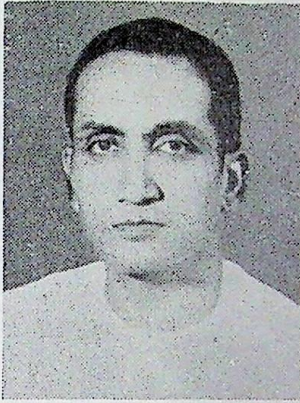
श्री चन्द्र प्रकाश,
इतिहास
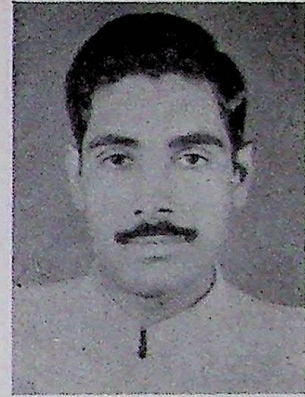
डॉ० गणेश दत्त जी,
सह-संयोजक. प्रस्ताव निर्माण
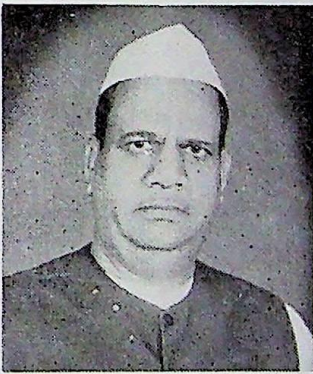
श्री जयन्ति प्रसाद जी,
कोषाध्यक्ष समारोह
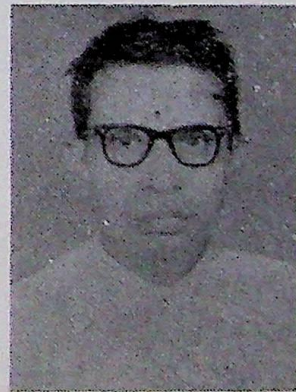
श्री प्रियव्रत शास्त्री,
कार्यालय
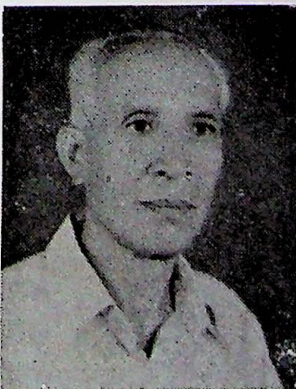
श्री राजमणी जी,
सह-संयोजक, आवास

श्री सत्य प्रकाश,
सह-संयोजक स्मारिका

मेरठ शहर आर्य समाज के गौरवशाली व्यक्तित्व
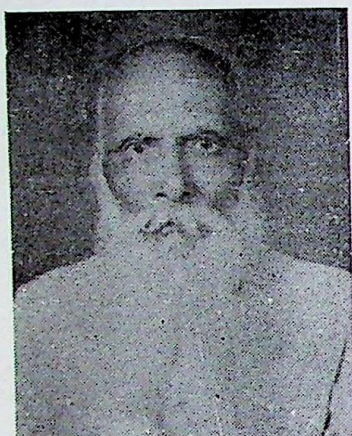
श्री बाबू दीवान सिंह जी, उप-प्रधान
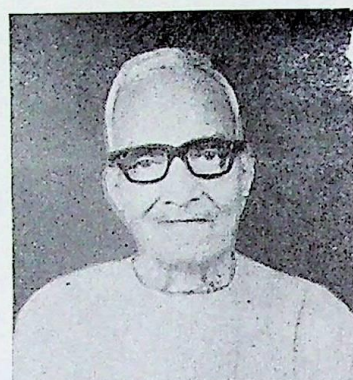
श्री श्याम लाल जी, उप-प्रधान
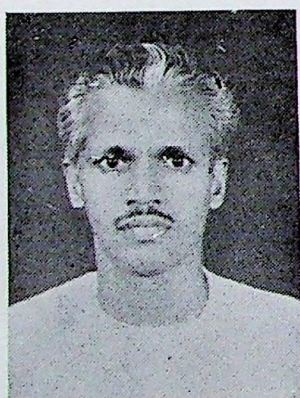
श्री ओमप्रकाश जी, कोषाध्यक्ष

श्रीमती सावित्री रस्तौगी, यज्ञ समिति-संयोजिका

समारोह समिति की संयोजिका
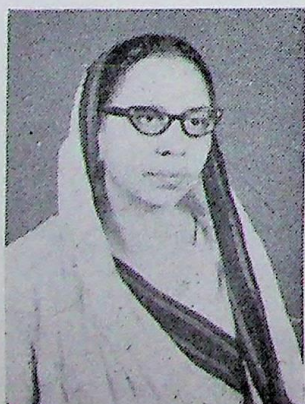
श्रीमती कैलाशवती, स्वयं-सेविका

श्रीमती शारदा रस्तौगी, सह-संयोजिका यज्ञ

आर्य समाज मेरठ नगर द्वारा संचालित

गोदावरी देवी आर्य विद्या सदन एवम् हरिशंकर आर्य विद्या सदन
के दान-दाता
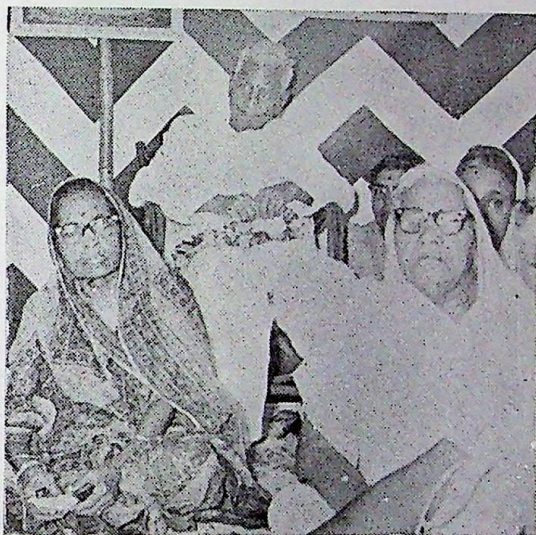
श्रीमती गोदावरी देवी, लाला धनपत राय जी,
श्रीमती कृष्णा देवी जी
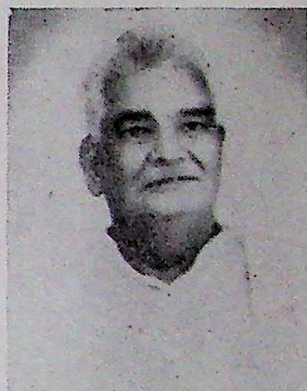
स्व० वैद्य श्री हरिशंकर शर्मा

भवन हरिशंकर आर्य विद्या सदन
आनन्दपुरी, मेरठ।

भव्य विज्ञान प्रयोगशाला

मेरठ नगर की विभिन्न आर्य समाजों के प्रधान

श्री रघुनन्दन स्वरूप,
सदर
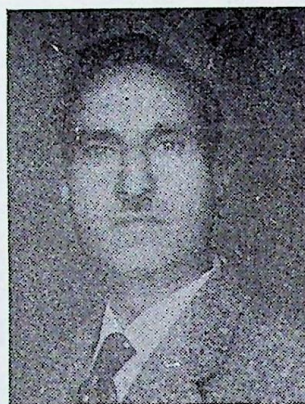
श्री शान्ती स्वरूप जौली,
थापर नगर
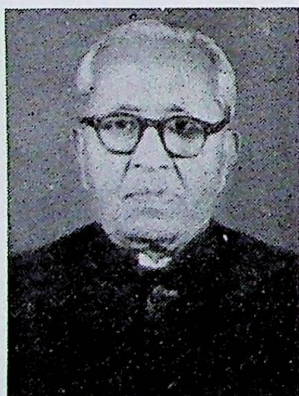
श्री नन्दकिशोर दुबलिश,
लालकुर्त्ती
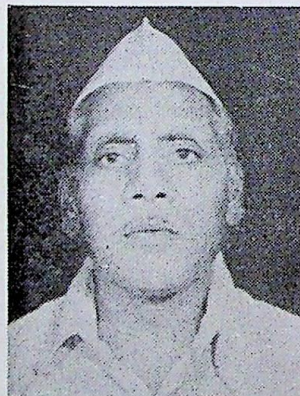
श्री राधे लाल सिंहल,
प्रहलाद नगर
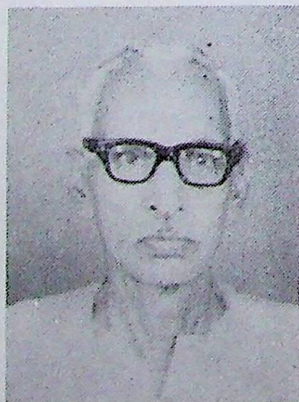
श्री एस० पी० भाटिया,
सूरज कुण्ड
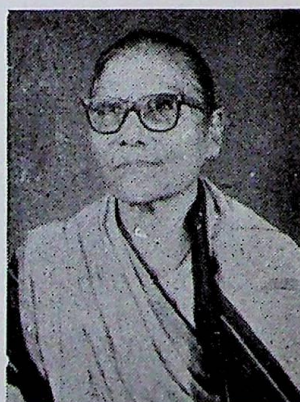
श्रीमती विष्णु देवी,
सदर, प्रधाना

मेरठ आर्य स्त्री समाजों की प्रधाना

श्रीमती मेला देवी
थापर नगर

श्रीमती कुसुम आर्या
ब्रह्मपुरी

श्रीमती सुशीला देवी मित्थल
साकेत

श्रीमती लीलावन्ती
प्र० नगर
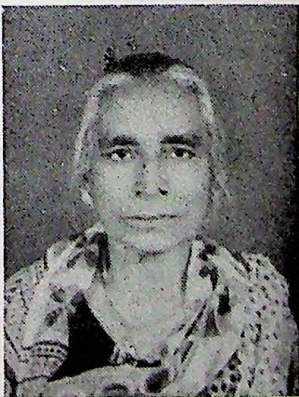
श्रीमती सुशोला जी
आनन्दपुरी

श्रीमती सावित्री नगर
ला

मेरठ आर्य स्त्री समाजों की मन्त्रिणी
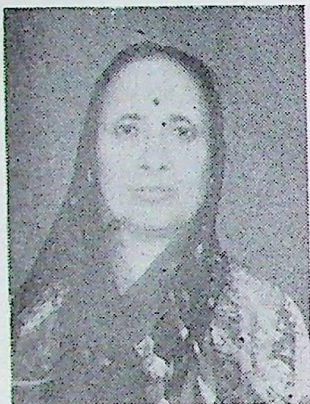
श्रीमती वेदवती, शहर
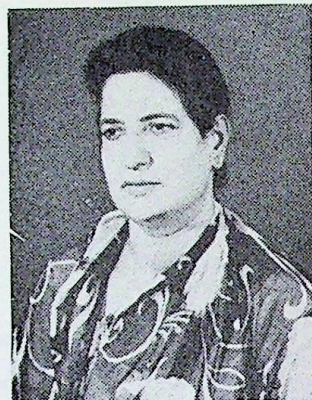
श्रीमती कैलाश सोनी, थापरनगर

श्रीमती सविता जी, सदर

श्रीमती सरोज रस्तौगी, साकेत

श्रीमती विमला रस्तौगी, लालकुर्ती
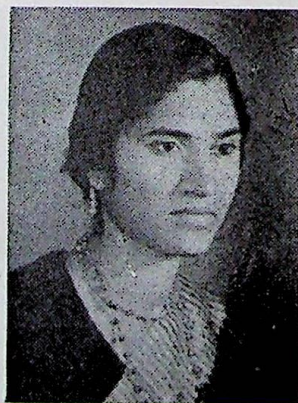
श्रीमती चन्द्रकान्ता, ब्रह्मपुरी

मेरठ आर्य समाजों के मन्त्री
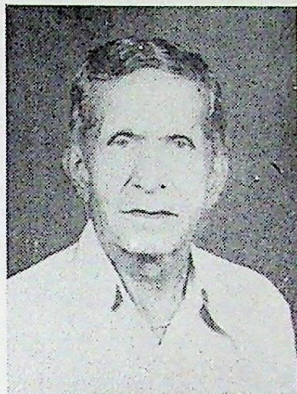
श्री गोविन्द लाल जी
थापर नगर

श्री प्रताप चन्द जी
साकेत

श्री देव प्रकाश जी
लालकुर्ती
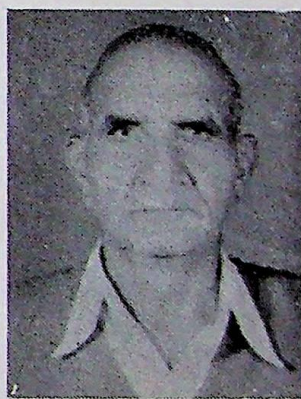
श्री मदन मोहन मेहता
प्रहलाद नगर
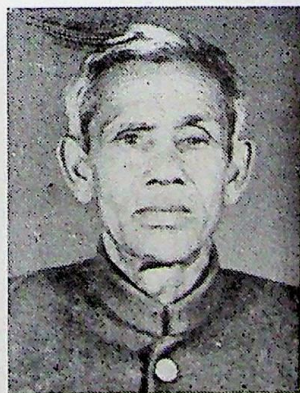
श्री रूप सिंह, प्रधान
ओरंगाबाद, रसूलपुर

श्री चुन्नीलाल बजाज, प्रधान
आ० भ्रा० स० थापर नगर

श्रीमती गार्गी जी
प्रतिष्ठित सदस्या,
आनन्दपुरी, मेरठ

श्रीमती माता कृष्णा देवी जी
दानदात्री भवन,
हरिशंकर आर्य विद्या सदन,
आनन्दपुरी, मेरठ

मेरठ आर्य स्त्री समाजों की मन्त्रिणी

श्रीमती शोभा कोहली,
आनन्दपुरी, मेरठ
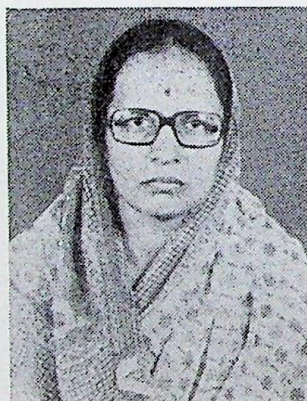
श्रीमती सन्तोष आर्या
सूरज कुण्ड, मेरठ

श्रीमती विजय रानी
प्र० नगर, मेरठ
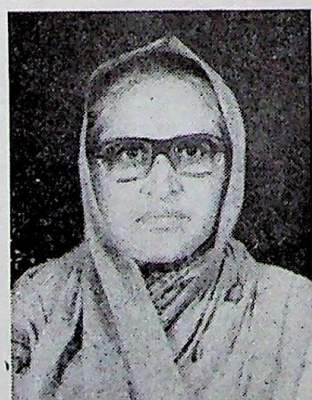
श्रीमती लाजवन्ती जी
प्रधाना, कंकरखेड़ा

मेरठ नगर में विभिन्न आर्य समाज मन्दिर

थापर नगर
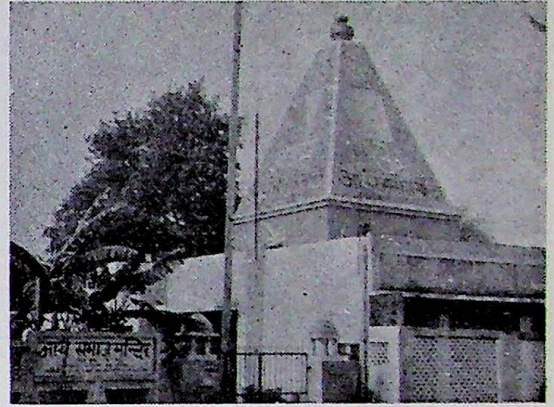
सूरज कुण्ड

सदर

ब्रह्मपुरी

मेरठ नगर में विभिन्न आर्य समाज मन्दिर

लालकुर्ती
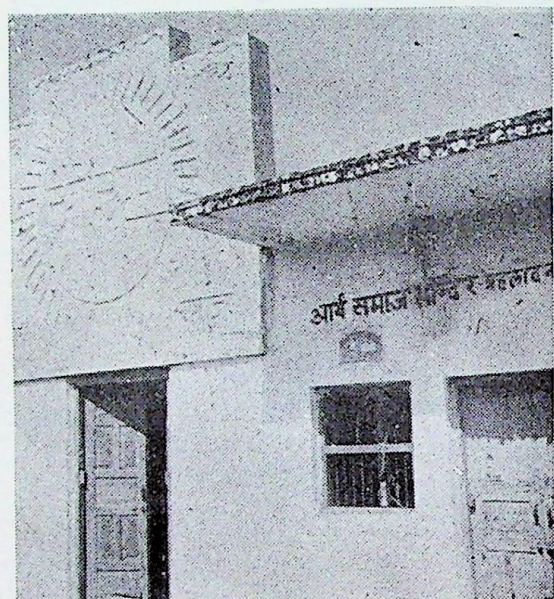
प्रह्लाद नगर
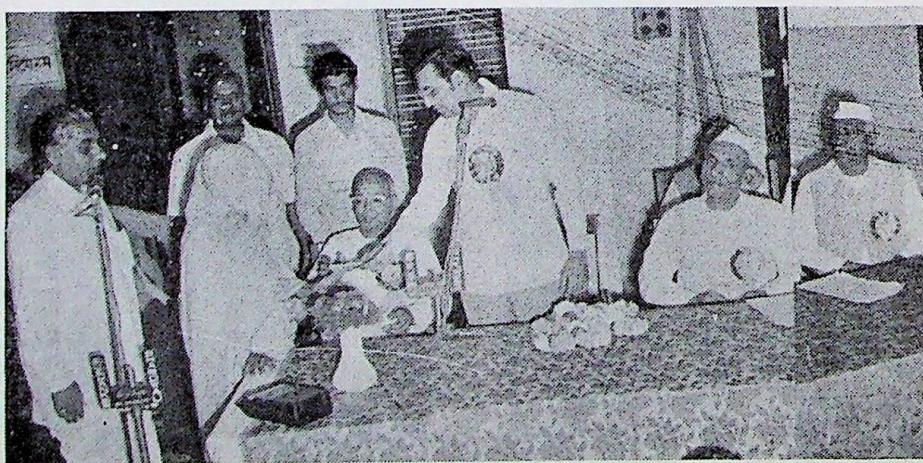
उद्घाटन नेत्र चिकित्सा शिविर

१२ अक्टूबर, १९७८

द्वारा जिलाधीश श्री रविन्द्र शंकर माथुर

अन्तरंग सभा, आर्य समाज, मेरठ नगर
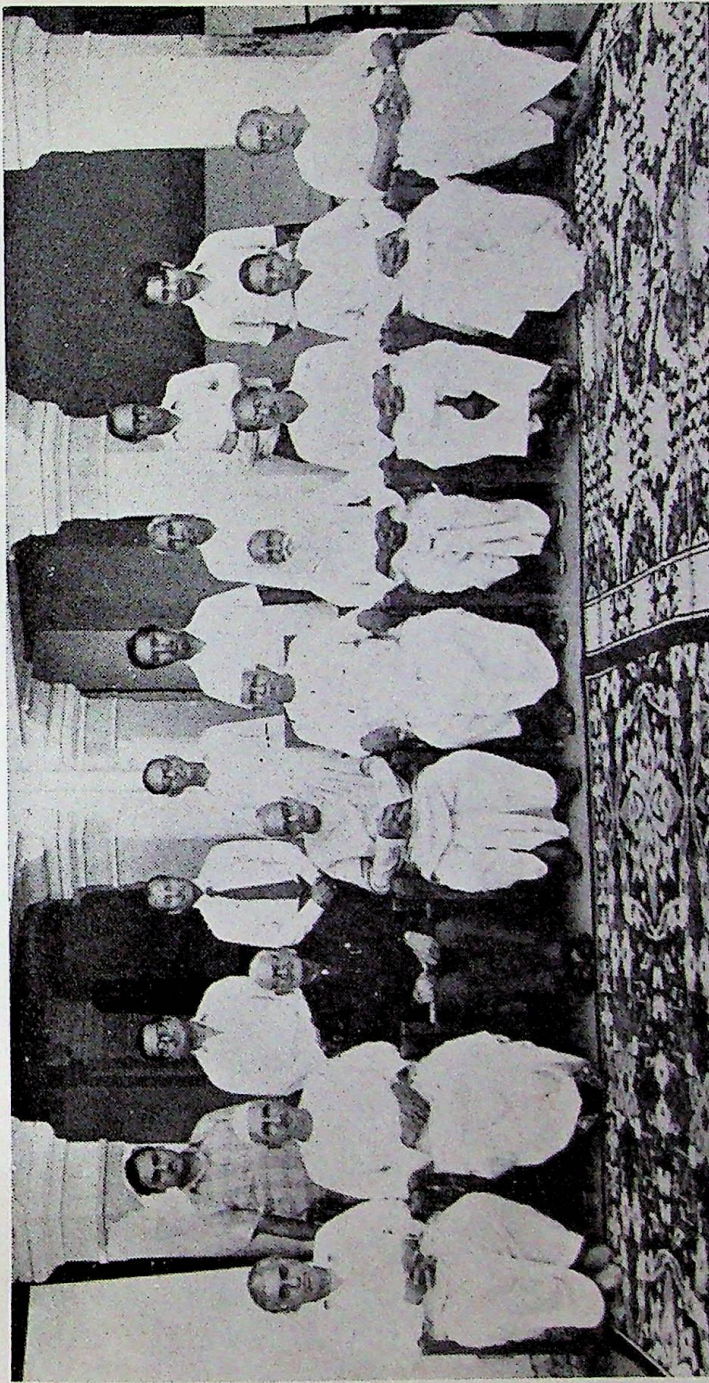
बांयें से दांयें बैठे हुए :—(१) श्री इन्द्रराज जी, मंत्री, (२) श्री राधेलाल जी सर्राफ, (३) श्री बलदेव सहाय, (४) श्री श्यामलाल, (५) श्री मनोहर लाल जी सर्राफ, प्रधान, (६) श्री बाबू दीवान सिंह, उप-प्रधान, (७) श्री रतनकुमार प्रेमी, (८) श्री रविन्द्र गुप्त, उप-मंत्री, (६) श्री भरत सिंह जी, उप-मंत्री।

खड़े हुए दांयें से बांयें :—श्री स्वराज्य चन्द्र, उप-मंत्री, श्री दिव्येश गुप्त, डॉ० गोपाल मांगलिक, श्री रामशरण लाल जी, श्री रविन्द्र प्रकाश, श्री नरेन्द्र प्रकाश, पुस्तकाध्यक्ष, श्री जे० पी० गोयल, उप-पुस्तकाध्यक्ष, श्री अशोक कुमार, श्री ओमप्रकाश सर्राफ, कोषाध्यक्ष (अनु०)।

कार्यकारिणी आर्य कन्या इण्टर कालिज, मेरठ शहर ।
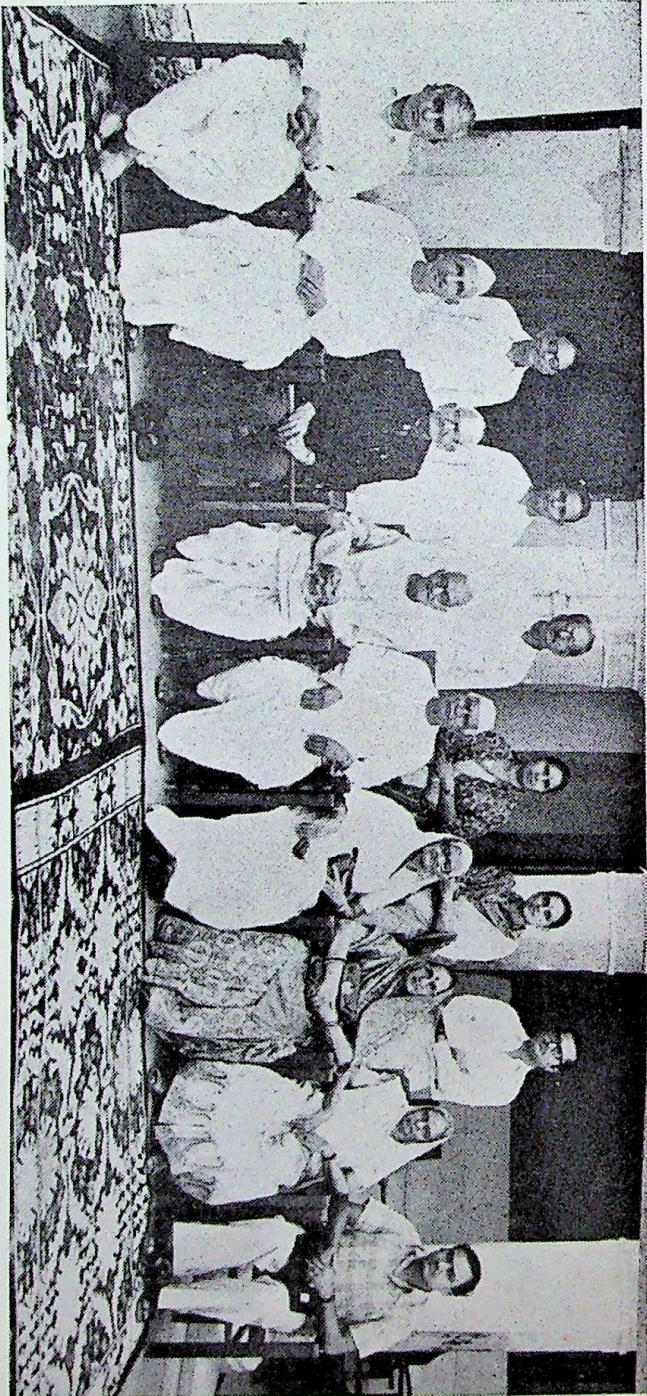
बैठे हुए कुर्सी पर बायें से दायें :—(१) श्री इन्द्रराज जी (२) श्री राधेलाल जी सर्राफ (३) श्री बलदेव सहाय जी (४) श्री बाबू श्याम लाल जी (५) श्री मनोहर लाल जी सर्राफ (प्रधान) (६) श्रीमति शकुन्तला गोयल (७) श्रीमति प्रेमवती (८) श्रीमति लक्ष्मी देवी (प्रधानाचार्य) (९) श्री स्वराज्य चन्द्र (प्रबन्धक)।

खड़े हुए बायें से दायें :—(१) श्री रामशरण लाल (२) श्री रविन्द्र गुप्त (३) श्री रतन कुमार प्रेमी (४) श्रीमति प्रेमलता रस्तौगी (५) श्रीमति प्रेमलता स्वामी (६) श्री दिव्येश गुप्त ।

आर्य कुमार सभा के सदस्य-गण 1977-78

खड़े हुए—सर्वश्री सुधीर, राजीव, मनोज, अवध बिहारी, राजीव, आर्य कुमार, सुभाष कंसल, ब्र० कृष्ण देव, अमित, राजीव, संजय, विवेक शेखर, अजय, महेन्द्र ।

कुर्सी पर—सर्वश्री राम प्रकाश, रवीन्द्र प्रकाश, ईश्वर चन्द, श्री दिव्येश गुप्त, श्री प्रकाशार्य संग्राम, श्री इन्द राज, श्री स्वराज्य चन्द,प्रवीण सुधाकर, अशोक कुमार ।

बैठे हुए—सर्वश्री नवीन, सोम प्रकाश, राकेश, आदित्य, प्रभात, रवि, योगेश, हिमांशु, आशुतोष, योगेश गुबार ।

आर्य स्त्री समाज, मेरठ शहर की अन्तरंग सभा
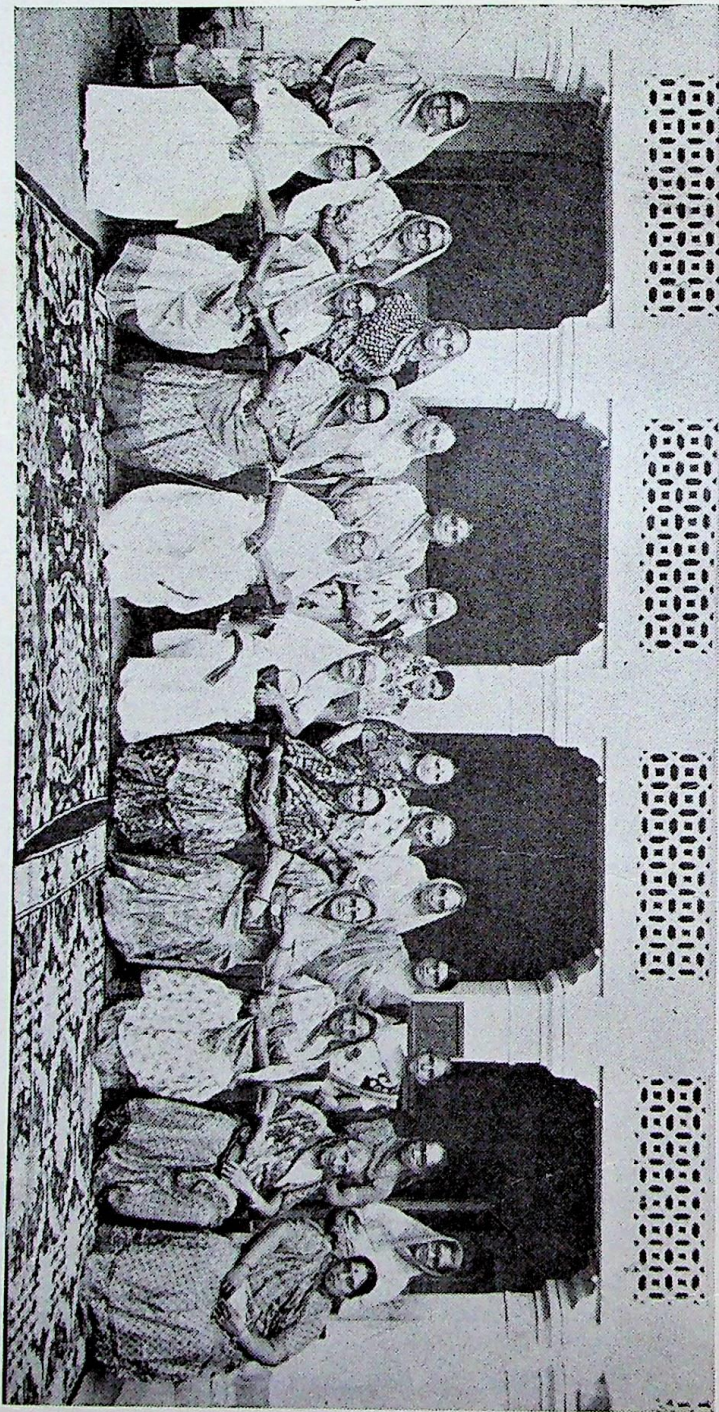
खड़े हुए बायें से दायें :—श्रीमती वेदवती, श्रीमती राजेश्वरी देवी, श्रीमती ज्ञानवती, श्रीमती कृष्णा देवी, श्रीमती शकुन्तला प्रभाकर, श्रीमती विद्यावती, श्रीमती शशि रानी, श्रीमती बिनोद बाला, श्रीमती यशोदा देवी, श्रीमती पद्मावती, श्रीमती शारदा आर्या, श्रीमती गंगा देवी, श्रीमती सुमरती देवी, श्रीमती शान्ता देवी।

कुर्सी पर बायें से दायें :—श्रीमती जगवती, श्रीमती कैलाशवती, श्रीमती सावित्री गोयल (उप-प्रधाना), श्रीमती गार्गी देवी (प्रतिष्ठित सदस्या), श्रीमती शकुन्तला गोयल (प्रधाना), श्रीमती वेदवती आर्य (मंत्रिणी), श्रीमती प्रेमवती (उप-प्रधाना), श्रीमती शीलवती, श्रीमती प्रकाशवती (कोषाध्यक्ष)।

आर्य जगत की दिव्य-मूर्तियाँ

भारत में डी० ए० वी० कालेज आन्दोलन
के प्रणेता
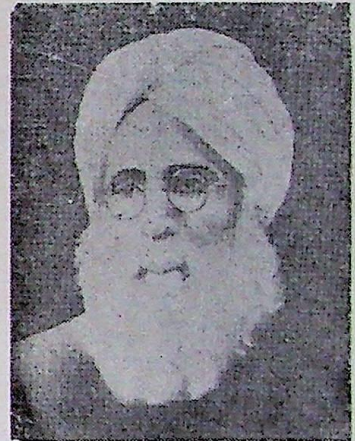
महात्मा हंसराज जी

पूज्य स्वामी आत्मानन्द जी
←

शास्त्रार्थ महारथी
पं० रामचन्द्र देहलवी
→

ऐतिहासिक पृष्ठों के झरोखे से—

मेरठ आर्य समाज के कुछ व्यक्तित्व
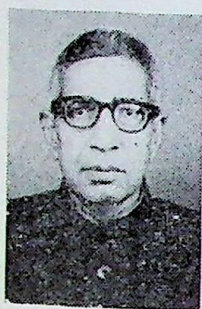
श्री बाबू फत्तन लाल
एडवोकेट, मेरठ
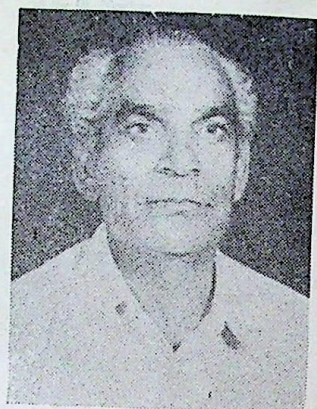
श्री निरूपण जी
विद्यालंकार

श्री बलवीर सिंह
बेधड़क
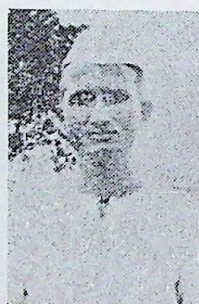
श्री चरण सिंह आर्य
भटियाना

श्री सन्त कुमार आर्य
खजूरी

स्व० श्री शिब्बनलाल गोयल
दैनिक यज्ञ प्रकाशक

श्री आशाराम
राड़धना (मेरठ)

ऐतिहासिक पृष्ठों के झरोखे से—

आर्य समाज के गौरवशाली व्यक्तित्व

स्व० पं० द्विजेन्द्र नाथ शास्त्री

स्व० श्री मुत्सद्दी लाल जी

स्व० श्री रामस्वरूप जी
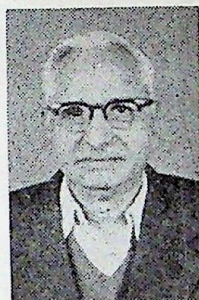
श्री अचरज लाल
मोदीनगर

श्री विश्वनाथ जी
दौराला

श्री सत्यपाल आर्य

श्री केदार नाथ जी
मोदीनगर

चौ० अमर सिंह जी
गाजियाबाद

स्व० श्री वजीरचन्द वडेरा

श्री अभय राम
रजपुरा

श्री सत्यपाल जी
सालारपुर

श्री तिलकराज महाजन

ऐतिहासिक पृष्ठों के झरोखे से—

आर्य जगत के गौरवशाली व्यक्तित्व

स्व० डा० बाबू राम, मेरठ
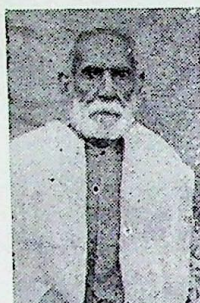
स्व० श्री प्रभुमुनि वानप्रस्थ, मेरठ
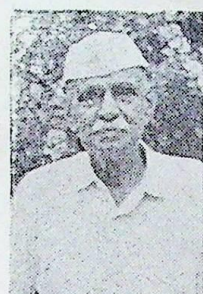
श्री बाबू भैरव प्रसाद वकील, मेरठ

स्व० श्री गंगाधर झा, मेरठ
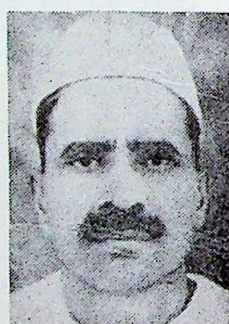
स्व० श्री आनन्द प्रिय, मेरठ

स्व० श्री हरिशरण, कराल

स्व० श्री रोशन लाल, मेरठ

स्व० श्री मा० लेखराम जी आर्य

स्व० श्री रामस्वरूप, मेरठ

ला० चतुर्भज सर्राफ, मवाना

ला० रामानन्द जी, मवाना कलां
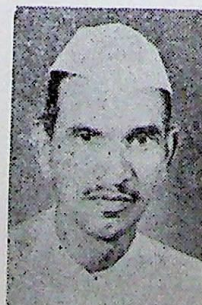
श्री विशम्भर सहाय प्रेमी

ऐतिहासिक पृष्ठों के झरोखे से—

आर्य जगत् के गौरवशाली व्यक्तित्व
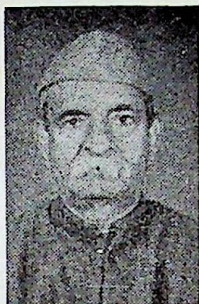
मा० सुन्दरलाल जी, मेरठ

श्री जौहरीमल जी, लालकुर्ती

श्री धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री

श्री नरेन्द्र प्रकाश जी

श्री मणीशंकर जी

श्री रामेश्वरदयाल जी

श्री पं० बलदेव सहाय

श्री पं० देशराज जी

श्री मलिकमुकन्द लाल

श्री देवीदास आर्या

डॉ० हरबंशलाल वडेरा

महाशय बनवारीलाल जी

आर्य उप-प्रतिनिधि सभा जि० मेरठ के प्रसिद्ध भजनोपदेशक
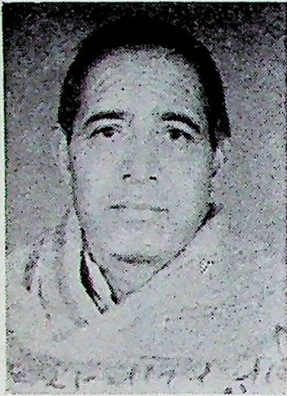
श्री हर स्वरूप
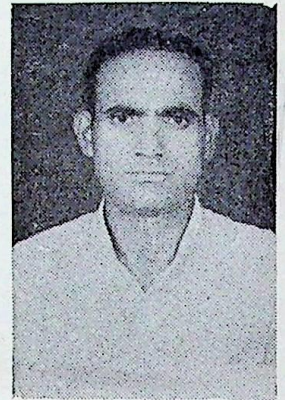
श्री मनवीर सिंह आर्य
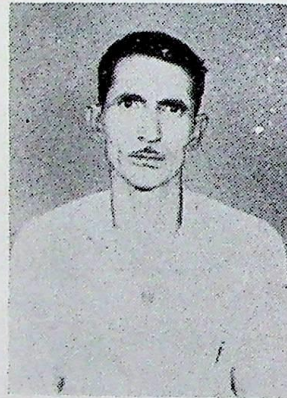
श्री गजराज सिंह

श्री देवी सिंह
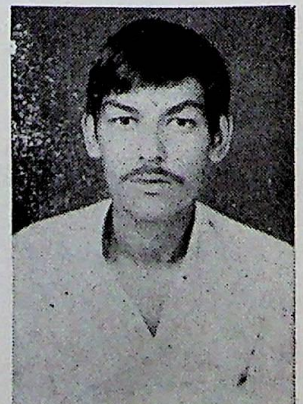
श्री रूपचन्द आर्य

आर्य समाज के प्रसिद्ध भजनोपदेशक
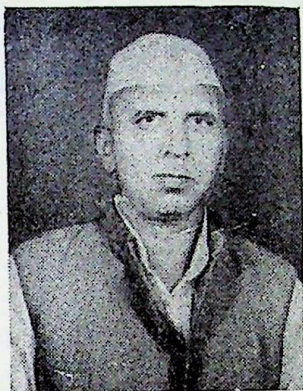
श्री बेगराज
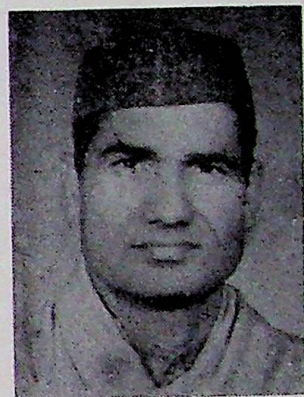
श्री शोभा राम प्रेमी

कुं० वीरेन्द्र वीर

श्री सत्यदेव आर्य

श्री कड़क क्षेत्र, जि० मेरठ

आर्य समाज जवाहर नगर (लालकुर्ती) मेरठ, पदाधिकारी एवं अन्तरंग सभा—वर्ष 1978
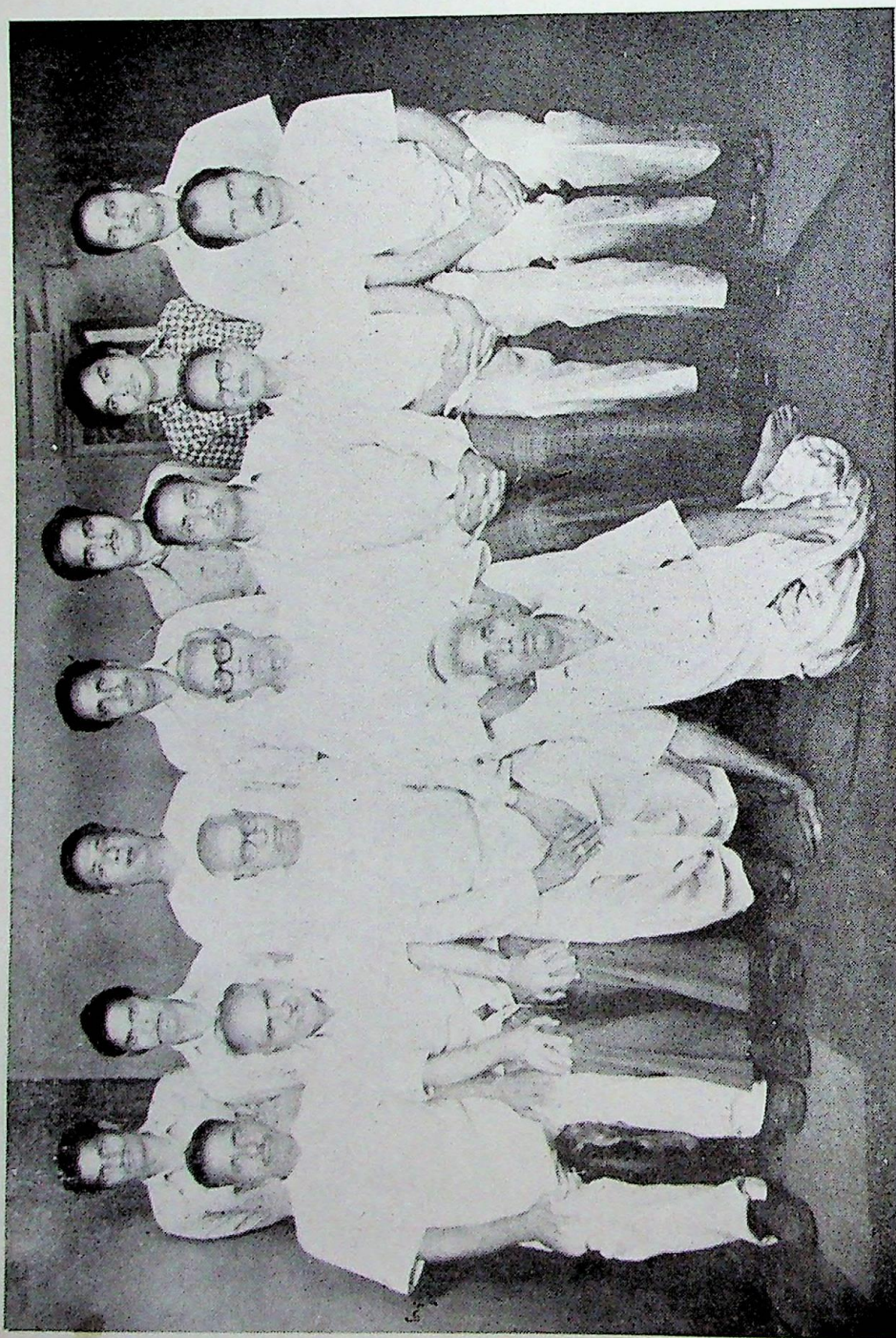
1—नीचे बैठी लाईन—श्री केसर सिंह सेवक।

2—कुर्सी पर बैठे बायें से दायें—श्री फूलचन्द (सदस्य), श्री राजपाल (सदस्य), श्री रामधन विशिष्ट (सदस्य), श्री नन्दकिशोर (प्रधान), श्री देव प्रकाश (मन्त्री), श्री केशव चन्द्र (उप-प्रधान), श्री प्रयाग चन्द्र अग्रवाल (सदस्य)।

3—खड़े हुये बायें से दायें—श्री हरपाल सिंह (पुस्तकाध्यक्ष), श्री अश्वनि कुमार (सदस्य), श्री फतह बहादुर (सदस्य), श्री ओमप्रकाश (सदस्य), श्री महेन्द्र कुमार (सदस्य), श्री प्रभात कुमार (उप-मन्त्री), श्री सतीश चन्द्र (कोषाध्यक्ष)।

उच्चकोटि

के

प्रमाणिक लेख

आर्य समाज के प्रवर्तक वेदोद्धारक-शिरोमणि महर्षि दयानन्द सरस्वती

लेखक—ब्रह्मनिष्ठ स्वामी धर्मानन्द जी सरस्वती
विद्यामार्तण्ड—अध्यक्ष विश्ववेद परिषद आनन्द कुटीर, ज्वालापुर ।

मैंने इस लेख के प्रारम्भ में शीर्षक रूप में 'वेदोद्धारक-शिरोमणि' इस विशेषण का स्वनामधन्य महर्षि दयानन्द सरस्वती के नाम के साथ प्रयोग जान-बूझ कर किया है, क्योंकि कलियुग के सब सुप्रसिद्ध आचार्य श्री शङ्कराचार्य, श्री रामानुजाचार्य, श्री मध्वाचार्य (स्वा० आनन्दतीर्थ) श्री वल्लभाचार्य, सायणाचार्य आदिकृत ग्रन्थों का अनुशीलन करने पर मैं इस परिणाम पर पहुँचा हूँ कि महर्षि दयानन्द जी को ही वेदोद्धारक-शिरोमणि कहा जा सकता है, जिन्होंने वेदों का सच्चा स्वरूप जनता के सम्मुख रखकर चिरकाल से लुप्त सत्य सनातन वैदिक धर्म का शुद्ध रूप में पुनरुद्धार किया, अन्य किसी आचार्य को नहीं ।

मैं कैसे इस परिणाम पर पहुँचा हूँ और महर्षि दयानन्द जी तथा अन्य आचार्यों की वेदविषयक मान्यताओं में क्या भेद हैं, जो मैं यह मानता हूँ कि महर्षि दयानन्द जी को वेदोद्धारक-शिरोमणि कहा जा सकता है, इन प्रश्नों का संक्षिप्त उत्तर मैं इस लेख द्वारा देने का यत्न करूंगा।

यह ठीक है कि श्री शङ्कराचार्य, रामानुजाचार्य आदि सभी प्रसिद्ध आचार्यों ने वेदों को परम प्रमाण माना है, किन्तु अपने सिद्धान्तों के समर्थन के लिये उन्होंने अधिकतर उपनिषद्, वेदान्तसूत्र और भगवद्गीता का आश्रय लिया है न कि मूल वेदसंहिताओं का, यह उनके ग्रन्थों के पढ़ने वाले जानते हैं । श्रुति के नाम से भी इन आचार्यों ने प्रायः सर्वत्र उपनिषदों के वचन दिये हैं । हां, द्वैतमत के प्रबल प्रचारक श्री मध्वाचार्य (स्वा० आनन्दतीर्थ) ने वेदमन्त्रों के कई प्रमाण जीवेश्वरभेद आदि के समर्थन में दिये तथा ऋग्वेद के प्रथम ४० सूक्तों का श्लोकबद्ध संक्षिप्त भाष्य भी किया, तथापि पौराणिक संस्कार-विषयक इस भाष्य में भी विशुद्ध एकेश्वरवाद के स्थान से विष्णु, लक्ष्मी आदि देवी-देवताओं की पूजा का अनेक स्थली में विधान पाया जाता है । वेदाधिकार भी प्रायः इन आचार्यों ने ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य कुलोत्पन्न पुरुषों तक ही सीमित कर दिया और शूद्रकुलोत्पन्न पुरुषों और समस्त स्त्रियों को उस अधिकार से न केवल वञ्चित ही कर दिया, अपितु यहाँ तक लिखा—

इतश्च न शूद्रस्याधिकारः । यदस्य स्मृतेः श्रवणाध्ययनप्रतिषेधो भवति । वेदश्रवणप्रतिषेधो वेदाध्ययनार्थप्रतिषेधस्तदर्थज्ञानानुष्ठानयोश्च प्रतिषेधः शूद्रस्य स्मर्यते । श्रवणप्रतिषेधस्तावत् 'अथास्य (शूद्रस्य) वेदमुपश्रृण्वतस्त्रपुजतुभ्यां श्रोत्रप्रतिपूरणमिति । भवति च वेदोच्चारणे जिह्वाच्छेदः । धारणे शरीरभेदः ।

(ब्रह्म० सूत्र० शाङ्करभाष्ये १–३–३८)

सारांश यह कि शूद्र को वेद का अधिकार नहीं, क्योंकि स्मृति में उसके लिये वेद के सुनने, पढ़ने और अर्थज्ञान सम्पादन करने का सर्वथा निषेध है और यह कहा है कि यदि कोई शूद्र वेद को समीपता से श्रवण कर ले, तो उसके कानों को सीसे और लाख से भर देना चाहिये, वेद के मन्त्र का यदि वह उच्चारण कर ले, तो उसकी जिह्वा काट देनी चाहिये और यदि धारण वा याद कर ले, तो उसके शरीर के टुकड़े-टुकड़े कर डालने चाहियें ।

विशिष्टाद्वैत सम्प्रदाय के आचार्य श्री रामानुज स्वामी ने भी इसी बात को लिखा है कि—

'शूद्रस्य वेदश्रवण-तदध्ययन-तदर्थानुष्ठानानि प्रतिषिध्यन्ते । पद्युह्वा एतत् श्मशानं यच्छूद्रः तस्मात् शूद्रसमीपे नाध्येतव्यम् ।

(ब्रह्मसूत्रस्य श्रीभाष्ये रामानुजाचार्यकृते पृ० ३२२)

अर्थात्—शूद्र को वेद के सुनने, अध्ययन करने और उसके अर्थ को जानकर अनुष्ठान करने का निषेध है । शूद्र चलता फिरता श्मशान है । अतः उसके समीप वेद का अध्ययन न करना चाहिये ।

ऐसा ही श्री मध्वाचार्य, श्री वल्लभाचार्य, श्री निम्बार्काचार्य, सायणाचार्य तथा अन्य मध्यकाल के प्रायः सभी

सुप्रसिद्ध आचार्यों ने लिखा है। स्त्रियों के अधिकार के विषय में भी श्री शङ्कराचार्य जी ने लिखा है कि—

'दुहितुः पाण्डित्यं गृहतन्त्रविषयमेव वेदेऽनधिकारात्'।
(बृहदारण्यकोपनिषच्छांकरभाष्ये ६, ४, १९)

अर्थात्—उपनिषद् में यह जो लिखा है कि "अथ य इच्छेत् दुहिता में पण्डिता जायेत" यहां कन्या के पाण्डित्य का अर्थ केवल गृहकार्यविषयक पाण्डित्य है, क्योंकि उसका वेद में अधिकार नहीं। ऐसा ही श्री रामानुजाचार्य, वल्लभाचार्य, सायणाचार्य तथा अन्य प्रायः सभी मध्यकालीन सुप्रख्यात आचार्यों ने लिखा है।

श्री मध्वाचार्य ने इस विषय में कुछ उदारता दिखाते हुए लिखा है—

आहुरप्युमसस्त्रीणाम् अधिकारन्तु वैदिके यथोर्वशी यमी चैव शच्याद्याश्च तथाऽपराः।
(ब्रह्मसूत्राणुव्याख्याने पृ० ८७)

अर्थात् उत्तम स्त्रियों का वैदिक शास्त्र के पढ़ने में अधिकार विद्वान् लोग बतलाते हैं जैसे उर्वशी यमी, शची इत्यादि प्राचीन काल की ऋषिकाएँ हुई हैं। एक अन्य स्थल पर भी श्री मध्वाचार्य ने लिखा है—

वेदा अप्युत्तमस्त्रीभिः कृष्णाद्याभिरिहाखिलाः।
उत्तमस्त्रीणां तु न शूद्रवत्॥
(ब्रह्मसूत्राणुभाष्य)

अर्थात् उत्तम स्त्रियों को द्रौपदी आदि की तरह सब वेदों का अध्ययन करना चाहिये। उत्तम स्त्रियों को शूद्रों की तरह वेदाध्ययन का निषेध नहीं। इस प्रकार स्त्रियों के वेदाधिकार को उत्तम स्त्रियों के लिये स्वीकार करने की उदारता श्री मध्वाचार्य (स्वा० आनन्दतीर्थ) ने दिखाई; किन्तु शूद्रों के वेदाधिकार का उन्होंने भी अन्य आचार्यों की तरह निषेध किया।

वैदिक यज्ञों में पशुहिंसा का भी इन सभी आचार्यों ने विधान "अशुद्धमिति चेन्न शब्दात्" इस वेदान्तसूत्र के भाष्य में तथा अन्यत्र माना। ऐसे ही इन आचार्यों की वेदविषयक कई अशुद्ध और संकुचित धारणाएँ हैं, जिनके कारण इन्हें आदर्श वेदोद्धारक नहीं माना जा सकता। मूल वेदों को इनमें से बहुतों ने केवल यज्ञयागादि-कर्मकाण्डपरक ही समझा। अध्यात्मविद्या तथा ब्रह्मविद्या के लिये उन्होंने उपनिषदों का आश्रय लिया। इसलिये मैं महर्षि दयानन्द सरस्वती को वेदोद्धारक-शिरोमणि मानता हूँ। ऐसे समय में जन्म ले कर जब देश-विदेश में सर्वत्र वेदविषयक अज्ञान फैला हुआ था, जब भारत के बड़े-बड़े विद्वान् भी वेदों के वास्तविक अर्थों से अनभिज्ञ होकर उनकी क्रियात्मक उपेक्षा कर रहे थे, जब वेदों को सहस्रों देवी-देवताओं की पूजा का प्रतिपादक तथा जातिभेद, अस्पृश्यता, बालविवाह और यज्ञों में पशुहिंसा आदि का समर्थक मानते थे, जब पवित्र वेदों का स्थान अधिकतर रामायण, महाभारत, भगवद्गीता, पुराणादि ने ले लिया था, महर्षि दयानन्द ने फिर 'वेदों की ओर चलो, वेद सब सत्यविद्याओं के पुस्तक हैं, वेद का पढ़ना-पढ़ाना और सुनना-सुनाना सब आर्यों का परमधर्म है,' का सिंहनाद करके जनता में अद्भुत जागृति पैदा कर दी, पवित्र वेदमन्दिर के द्वार को—

'यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः'।
(यजु० २६-२)

इस वैदिक आदेशानुसार सब नर-नारियों के लिये खोलने की जो उदारता दिखाई, वेदों की सार्वभौमिक, सार्वकालिक, युक्ति-युक्त और वैज्ञानिक शिक्षाओं को जिस उत्तम रूप से जो जगत् के सम्मुख रखकर उस वेदभानु की ज्ञान-किरणों से समस्त अज्ञानान्धकार को छिन्न-भिन्न करने का अत्यन्त अभिनन्दनीय कार्य किया, उसका किन शब्दों में वर्णन किया जाए। वैदिक ज्ञानप्रसार-विषयक महर्षि दयानन्द के उपकार अत्यन्त महान् और अनुपम हैं, यदि ऐसा कहा जाए तो इसमें अणुमात्र भी अत्युक्ति न होगी। वेदों को केवल कर्मकाण्ड-परक और यज्ञों में पशुहिंसा-प्रतिपादक समझ कर अच्छे-अच्छे विचारक उनसे विमुख हो रहे थे। महर्षि ने वेदों के सर्वशास्त्रसम्मत महत्व को बता कर उन्हें वेदाध्ययन में पुनः प्रवृत्त किया।

महर्षि दयानन्द के वेदविषयक मन्तव्य—

(१) महर्षि दयानन्द ने अत्यन्त प्रबल युक्तियों और प्रमाणों से मानवसृष्टि के आरम्भ में ईश्वरीय ज्ञान

की आवश्यकता को सिद्ध करते हुए अनेक कसौटियों से प्रमाणित किया कि ईश्वरीय ज्ञान वेद ही है, जिसकी शिक्षाएँ सर्वथा पवित्र सार्वभौम युक्ति तथा तत्त्वज्ञान-सम्मत हैं।

(२) वेद ईश्वरीय ज्ञान है और मानवसृष्टि के प्रारम्भ में प्रकाशित होने के कारण नित्य है। अतः उनमें अनित्य इतिहास नहीं हो सकता। वेदों में पाये जाने वाले वसिष्ठ, जमदग्नि, विश्वामित्र, अत्रि, कवि इत्यादि शब्द व्यक्तिविशेष-वाचक नहीं, किन्तु गुणविशिष्ट व्यक्ति तथा पदार्थसूचक हैं। जैसे कि 'प्राणो वै वसिष्ठ ऋषिः (शत० ८,१,१,६) प्रजापतिर्वै वसिष्ठः (कौषीतकी ब्रा० २५,२२६,१६), प्रजापतिर्वै जमदग्निः (शत० १३,२,२,१४) श्रोत्रं वै विश्वामित्र ऋषिः (शत० ८,१०,२,६), मनो वै भरद्वाज ऋषि, (शतः८,१,१,६), प्राणो वा अङ्गिराः (शत० ६,१,२,८), कण्व इति मेधाविनाम (निघ० ३,५) इत्यादि आर्ष वचनों से सिद्ध होता है।

(३) वेदों के शब्द यौगिक वा योगरूढ़ हैं, केवल रूढ़ नहीं जैसे कि—

'सर्वाणि नामान्याख्यातजानि इति नैरुक्तसमयः।'
(निरुक्त १,४,१२)

नाम च धातुजमाह निरुक्ते,
व्याकरणे शकटस्य च तोकम्।
(महाभाष्य ३,३,१)

इत्यादि में बताया गया है।

उन्हें लौकिक संस्कृत के अनुसार रूढ़ मानकर उनकी व्याख्या करना ठीक नहीं। यौगिक होने के कारण अग्नि, इन्द्र, मित्र, वरुण, यम, मातरिश्वा, रुद्र, देव आदि शब्द आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक दृष्टि से अनेकार्थक हैं।

(४) वेद विशुद्ध रूप से एकेश्वरवाद का प्रतिपादन करने वाले हैं। अग्नि, मित्र, इन्द्र, वरुण आदि शब्द जैसे कि —

'इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुः—
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति॥
(ऋ. १,१६४,४६)

इत्यादि मन्त्रों को उद्धृत करते हुए बताया गया है, प्रधानतया परमेश्वरवाचक हैं। आधिभौतिक क्षेत्र में वे ज्ञानी ब्राह्मण, ऐश्वर्य सम्पन्न राजा, जीव, पुरोहित, अज्ञानान्धकारनिवारक श्रेष्ठपुरुष इत्यादि के वाचक भी हैं। ८ वसु, ११ रुद्र, १२ आदित्य के वाचक भी हैं। ८ वसु, ११ रुद्र, ११ आदित्य (मास), इन्द्र (विद्युत्) और प्रजापति (यज्ञ) ये ३३ तत्त्व प्रकाशदायक तथा लाभकारी होने के कारण वेदादिशास्त्रों में देव कहे गये हैं, किन्तु उपास्य परमदेव एक परमेश्वर ही है।

(५) यज्ञ शब्द जिस यज् धातु से बनता है उसके देवपूजा, सङ्गतिकरण और दान ये तीन अर्थ हैं जो अपने से बड़ों, बराबर स्थिति वालों और हीनों (छोटों) के प्रति कर्त्तव्य के सूचक हैं। अतः अपने तथा जगत् के कल्याण के लिये किया गया प्रत्येक शुभकार्य यज्ञ कहलाता है। यज्ञों में पशुहिंसा सर्वथा वेदविरुद्ध है। यज्ञ के लिये वेदों में सैंकड़ों स्थानों पर 'अध्वर' शब्द का प्रयोग किया गया है जिसका अर्थ है "अध्वर इति यज्ञनाम ध्वरति हिंसाकर्मा तत्प्रतिषेध" (निरुक्त १,८) इत्यादि यास्काचार्यकृत निरुक्तानुसार हिंसारहित शुभकर्म है।

(६) वेदों में अध्यात्मविद्या के अतिरिक्त भौतिक विद्याओं का भी बीजरूप से उपदेश है। ज्योतिष, आयुर्वेद, धनुर्विद्या, समाजशास्त्र, राजनीतिविद्या, विज्ञानादि का मूल वेदों में विद्यमान है। महर्षि दयानन्द द्वारा अभिमत ये मन्तव्य प्राचीन ऋषिमुनियों द्वारा सम्मत हैं और उनके समर्थन में सैंकड़ों प्रमाण प्रस्तुत किये जा सकते हैं। पर लेखविस्तारभय से ऐसा करना यहाँ सम्भव नहीं।

महर्षि दयानन्द को वेदार्थविषयक शास्त्र तथा तर्कसम्मत इस क्रान्ति का देश-विदेश के निष्पक्षपात विद्वानों पर क्या प्रभाव पड़ा और किस प्रकार उनको अपने पुराने विचार बदलने को विवश होना पड़ा, यह मैंने 'ऋषि वेदभाष्यकार के रूप में' इस नाम के निबन्ध में विस्तार से बताया है, जिसके प्रकाशन की व्यवस्था की जा रही है। यहाँ तो इतना ही लिखना पर्याप्त है कि सुप्रसिद्ध जर्मन विद्वान् प्रो. मैक्समूलर, तथा नोबल पुरस्कार-विजेता और Great Secret (महान् रहस्य)

नामक उत्तम ग्रंथ के लेखक मैटर्लिक—दोनों ने वेदों को ज्ञान का विशाल भण्डार बताया है, जिसे मानवसृष्टि के प्रारम्भ में ऋषियों पर प्रकट किया गया।

Vast resevoir of the Wisdom that some where took shape simultaneously with the origin of man (Materlink in the 'Great Secret').

रूस के ऋषि तालस्ताय, अमेरिका के सुप्रसिद्ध विचारक थोरियो, आयर के जेम्स कजिन्स इत्यादि पाश्चात्य विद्वानों, जगद्विख्यात योगी श्री अरविन्द जी, महाविद्वान् और योगी श्री कपाली शास्त्री जी, श्री माधव पुण्डलीक पण्डित भी आदि भारतीय विद्वान् योगियों, पारसी विद्वान् श्री दादाचान जी, बी. ए., एल.-एल. बी. तथा सर सय्यद अहमद खां, सर यामिनखान आदि मुसलमान विद्वानों पर महर्षि दयानन्द के वेदादिविषयक विचारों तथा उन के वेदभाष्यादि का अदभुत प्रभाव पड़ा।

पण्डितराज, सारस्वतसार्वभौम, सामवेद तथा यजुर्वेद भाष्यकार स्वामी भगवदाचार्य जी, कनखल हरिद्वार के महामण्डलेश्वर चातुर्वर्ण्य भारतसमीक्षा, ऋग्-यजुः-साम-अथर्वसहितोपनिषच्छतकों के लेखक परमहंस परिव्राजक स्वा. महेश्वरानन्द जी गिरि, सनातनधर्म कालेज मुलतान के भू० आचार्य विद्वच्चूड़ामणि श्रद्धेय पं. चूड़ामणि जी शास्त्री (स्व. विज्ञानभिक्षु जी, सनातनधर्ममण्डल देहली के प्रधान पं. गङ्गाप्रसाद जी शास्त्री इत्यादि पर महर्षि दयानन्द के वेदविषयक इन मन्तव्यों का यह प्रभाव पड़ा कि उन्होंने स्त्रीशूद्रादि सब के वेदाधिकार के सिद्धान्त का अपने ग्रंथों में खुले तौर पर समर्थन किया, गुणकर्मानुसार वर्णव्यवस्था के सिद्धान्त का प्रबल समर्थन अनेक शास्त्रीय प्रमाणों से किया और महर्षि दयानन्द जी को कलियुग में 'आस्तिक-शिरोमणि' बताया (स्वा. भगवदाचार्य जी सामसंस्कारभाष्य की भूमिका में)। महामण्डलेश्वर स्वाः महेश्वरानन्द जी गिरि ने—

> बहूनामनुग्रहो न्याय्यः, समाजराष्ट्ररक्षकः।
> महर्षि-श्रीदयानन्दो दम्भपाखण्डमर्दकः॥
> वेदधर्मप्रचाराय, मर्दनाय विधर्मिणाम्।
> आर्याणां संघशक्त्यर्थः प्रयासो येन वै कृतः॥
> तस्य महानुभावस्य, सम्मतिश्चास्ति कृष्णवत्।
> गुणकर्मानुसारेण, चातुर्वर्ण्यव्यवस्थितिः॥

(चातुर्वर्ण्यभारतसमीक्षा, महामण्लेश्वर स्वा० महेश्वरानन्द जी गिरिकृत् द्वितीयखण्ड पृ० १५)

इन श्लोकों में स्वामी दयानन्द जी को महर्षि, समाजराष्ट्ररक्षक दम्भपाखण्ड-मर्दक, वेदधर्म-प्रचारक और आर्यों की सङ्घशक्ति का वर्धक कहा है और यह कहा है कि वर्णव्यवस्था के विषय में उनकी श्रीकृष्ण जी महाराज जैसी सम्मत्ति है कि वर्णव्यवस्था गुणकर्मानुसार होती है।

स्व० श्री पं० इन्द्र जी विद्यावचस्पति तथा अन्य आर्य विद्वानों से जीवनभर शास्त्रार्थ करने वाले महामहोपाध्याय पं० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी को भी लिखना पड़ा कि—

(वेद के वैज्ञानिक युग के व्याख्याकार श्री स्वामी दयानन्द जी हैं। उन्होंने वेद के गौरव की ओर आर्य-जाति की दृष्टि बहुत कुछ आकृष्ट की है। इस कारण से उनका भी उपकार विशेष माननीय है। (वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति' पं० गिरधर शर्मा जी कृत पृ० १८)

अग्नि, इन्द्र, मित्र, वरुण आदि शब्दों से स्वा० भगवदाचार्य जी तथा स्वा० महेश्वरानन्द जी ने प्रधानतया ईश्वर का तथा 'देवाः' का अर्थ विद्वान् ग्रहण किया। यह सब महर्षि दयानन्द का सनातनधर्माभिमानी विद्वानों पर अद्भुत प्रभाव सूचित करता है। ऐसे वेदोद्धारक-शिरोमणि महर्षि दयानन्द सरस्वती को हमारा कोटिशः प्रणाम हो। इस लेख का उपसंहार मैं स्वनिर्मित निम्न श्लोकों द्वारा करना उचित समझता हूँ।

१. निखिलनिगमवेत्ता, पापतापापनेता,
रिपुनिचयविजेता, सर्वपाखण्डभेत्ता।
अतिमहित-तपस्वी, सत्यवादी मनस्वी,
जयति स समदर्शी, वन्दनीयो महर्षिः॥

२. प्रथितधवलकीर्तिः, शुद्धधर्मस्य मूर्तिः
प्रसृतनिगमरीतिः, शत्रुवर्गेऽप्यभीतिः।
अनुसृतशुभनीतिः, वेदशास्त्रेष्वधीती
विबुधगणवरेण्यो वन्दनीयो महर्षिः॥

३. अधिकतम उदारो धर्मसंबोधकेषु
श्रुतिविहितविचारो लोकसंरक्षकेषु।
विदितनिगमसारो ब्रह्मचार्यग्रगण्यो
जयति स कमनीयो वन्दनीयो महर्षिः॥

—धर्मानन्द सरस्वती विद्यामार्तण्डः

आर्य समाज कैसे उन्नत हो ?

[लेखक— ब्रह्मनिष्ठ स्वामी धर्मानन्द जी सरस्वती विद्यामार्तण्ड, अध्यक्ष विश्ववेदपरिषद् —ज्वालापुर
तथा आचार्य सार्वभौम वैदिक परिवार सङ्घ—मथुरा]

१. दशसूत्री कार्यक्रम से यह, आर्यसमाज समुन्नत हो।
पवित्रता के कारण इसका, नाम जगत में विश्रुत हो ॥

२. व्यक्ति व्यक्ति का जीवन पावन, सत्य प्रेममय होवे ।
इनका समूह रूप तप निश्चय, आर्य समाज समुन्नत हो ॥

३. परिवारों का जीवन निर्मल, वेदों के अनुकूल बने।
सन्ध्या हवन यज्ञ संस्कारों, से वह पूर्ण परिष्कृत हो।

४. आर्य समाज सदस्य जनों का, होय परस्पर सच्चा प्रेम।
ईर्ष्या द्वेष विरोध न होवे, आर्य समाज समुन्नत हो।

५. जाति भेद का भूत भगावें, अस्पृश्यत्व कलङ्क मिटावें।
दलित पतित को उच्च बनावें, तब यह समाज समुन्नत हो ॥

६. आर्य कुमार सभाएँ होंवें, युवकों में उत्साह बढ़े।
महिलाओं में श्रद्धा हो तब, आर्य समाज समुन्नत हो ॥

७. हो उत्तम पुस्तक निर्माण, कर दे जो चरित्र निर्माण।
वेदों का स्वाध्याय करें सब, आर्य समाज समुन्नत हो ॥

८. शुद्धान्दोलन चले वेग से, पाखण्डों का खण्डन हो।
सभी विश्व को आर्य बनायें, तब यह जगत समुन्नत हो ॥

९. पुरोहितों यतियों का मान, जिन्हें समाजोन्नति का ध्यान।
वैदिक शिक्षा प्रथम स्थान, तब समाज यह उन्नत हो ॥

१०. उत्साही हों सारे आर्य, करते वेद विहित शुभ कार्य।
वेद विद्वदाज्ञा स्वीकार्य, तब समाज यह उन्नत हो ॥

११. वर्णाश्रम मर्यादा पालन, करें प्रेम से सारे सज्जन।
जीवन सबका होवे पावन, तब समाज यह उन्नत हो ॥

१२. हो करके यह पूर्ण संगठित, कर सारे जग को आनन्दित।
साधन करता सफलविश्वहित, आर्य समाज समुन्नत हो ॥

वेद और राष्ट्रिय एकता
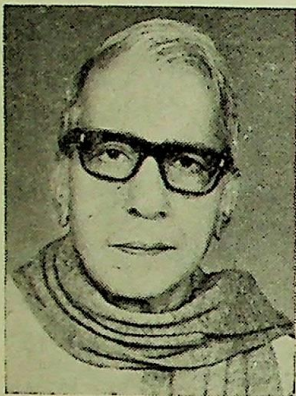
लेखक— वेदमार्तण्ड आचार्य प्रियव्रत वेदवाचस्पति
उपकुलपति (भूतपूर्व) गुरुकुल कांगड़ी
विश्वविद्यालय ।

भारतीय परम्परा में वेदों का बहुत अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान है। भारतीय आर्य-हिन्दुओं में वेदों को जो आदर और गौरव दिया जाता है वह किसी अन्य ग्रन्थ को नहीं दिया जाता ! वेद हिन्दुओं के जीवन में ओतप्रोत हैं। जन्म से लेकर मृत्यु-पर्यन्त हिन्दुओं के सब संस्कार, सब कार्य और सब अनुष्ठान वेद मंत्रों द्वारा सम्पन्न होते हैं। उनके नामकरण, मुण्डन और विवाह आदि सब मंगल कार्य वेद मंत्रों द्वारा ही किये जाते हैं। वेद के सुप्रसिद्ध गायत्री मंत्र का जाप तो प्रायः प्रत्येक हिन्दू प्रतिदिन करता ही है। श्रद्धालु हिन्दू वेदों को स्वयं परमात्मा की वाणी मानते हैं। वेदों में मानव जीवन के प्रत्येक अंग और पहलू को उन्नत और उत्कृष्ट बनाने वाले उपदेश दिये गये हैं। वेद की शिक्षायें मानव जीवन के सर्वांगीण विकास को दृष्टि में रखकर दी गई हैं। आध्यात्मिक व्यावहारिक, सामाजिक और राजनैतिक आदि मानव जीवन से सम्बन्ध रखने वाले सभी क्षेत्रों का बहुत व उत्कृष्ट ज्ञान वेदों में दिया गया है। राजनीतिशास्त्र से सम्बन्ध रखने वाले जो उपदेश वेदों के विभिन्न स्थलों में दिये गये हैं वे भी बड़े मार्मिक हैं। इस सम्बन्ध में अथर्ववेद के बारहवें काण्ड का प्रथम सूक्त देखने योग्य है। इस सूक्त में ६३ मंत्र हैं। यह सूक्त भूमि सूक्त* कहलाता है। इस सूक्त में एक आदर्श राष्ट्र का चित्र खींचा गया है जिसकी चहुँमुखी उन्नति और समृद्धि हो रही है। अपने राष्ट्र की सर्वांगीण सुख-समृद्धि उन्नति और अभ्युदय एवं इस सबके उपायों का वर्णन करते हुए राष्ट्र-भक्त उपासक कहता है कि मेरे राष्ट्र में अनेक भाषाओं को बोलने वाले और अनेक धर्मों को मानने वाले लोग रहते हैं। फिर भी वे इस तरह मिलकर रहते हैं जिस तरह एक घर में रहने वाले उसके सदस्य रहा करते हैं। मेरे राष्ट्र के सर्वतोमुख अभ्युदय का एक यह प्रमुख कारण है। राष्ट्र का भक्त वेद के मन्त्र (अर्थव १२, १, ४५) द्वारा कहता है—

जनं विभ्रतो बहुधा विवाचसं नानाधर्माणं पृथिवी यथौकसम्।
सहस्रं धारा द्रविणस्य में दुहां ध्रुवे॒व धेनुरनपस्फुरन्ती ॥

अर्थात् अनेक प्रकार से विविध प्रकार की वाणियों को बोलने वाले अनेक प्रकार के धर्मों का पालन करने वाले लोगों को समान घर में रहने वालों की भांति धारण करती हुई हमारी मातृभूमि स्थिर खड़ी हुई हिलना-डुलना न करती हुई दुधारू गौ की तरह मेरे लिए धन की हजारों धाराओं को दुहे-प्रदान करे।"

हमारी मातृभूमि पर लाखों और करोड़ों मनुष्य रहते हैं। वे भिन्न-भिन्न प्रकार की वाणियाँ बोलते हैं। उनकी तरह-तरह की बोलियाँ हैं। एक ही भाषा बोलते हुए भी उनके मुखों की ध्वनियों के भेद के कारण उनकी वाणियाँ भिन्न-भिन्न प्रकार की हो जाती हैं। किसी की आवाज कैसी है और किसी की कैसी। उनकी आवाजों के भेद के कारण, एक ही भाषा बोलते हुए भी उनकी वाणियाँ और बोलियाँ तरह-तरह की हो जाती हैं। कई बार ऐसा होता

*इस सूत्र की विस्तृत और मौलिक व्याख्या लेखक की वेद का राष्ट्रीय गीत नामक पुस्तक में देखिये।

है कि जलवायु और अन्य परिस्थितियों के भेद और उनके भिन्न प्रकार के प्रभाव, अपनी पुरानी भाषा को शुद्ध रखने के प्रयत्न में शिथिलता और असावधानी आदि कारणों से कालक्रम में भेद पड़ते-पड़ते राष्ट्र के एक भाग या प्रान्त में रहने वाले लोगों की भाषा दूसरे भाग या प्रान्त में रहने वाले लोगों की भाषा से सर्वथा भिन्न प्रकार की हो जाती है। इस अवस्था में राष्ट्र निवासियों की वाणियाँ और भी भिन्न-भिन्न प्रकार की हो जाती हैं।

हमारे राष्ट्र के ये लाखों और करोड़ों निवासी नाना प्रकार के धर्मों का पालन करते हैं—नाना प्रकार के व्यवहारों का अनुष्ठान करते हैं। कोई किसी काम को कर रहा है और कोई किसी को। कोई किसी कर्त्तव्य का पालन कर रहा है और कोई किसी का। कोई राज्याधिकारी के कर्त्तव्यों का पालन कर रहा है और कोई प्रजाजन के। कोई गुरु के कर्त्तव्यों का पालन कर रहा है और कोई सन्तान के। कोई पति के कर्त्तव्यों का पालन कर रहा है और कोई पत्नी के। कोई व्यापारी के कर्त्तव्यों का पालन कर रहा है और कोई खरीदार के। कोई ब्राह्मण के कर्त्तव्यों का पालन कर रहा है, कोई क्षत्रिय के, कोई वैश्य के और कोई शूद्र के। कोई ब्रह्मचर्याश्रम के कर्त्तव्यों का पालन कर रहा है, कोई गृहस्थाश्रम के, कोई वानप्रस्थाश्रम के, और कोई सन्याश्रम के। कोई अध्यापक का काम कर रहा है, कोई सैनिक का, और कोई दुकानदारी का। कोई व्यापार कर रहा है, कोई कारखाने चला रहा है, कोई खेती कर रहा है और कोई अन्य ही कार्य कर रहा है। इस प्रकार सब राष्ट्रवासी अनेक प्रकार के कार्य कर रहे हैं—नाना प्रकार के कर्त्तव्यों का, नाना प्रकार के धर्मों का पालन कर रहे हैं।

कई बार ऐसा भी होता है कि राष्ट्र के कुछ लोगों के आत्मा, परमात्मा और प्रकृति या जगद्विषयक मन्तव्य विचार-भेद के कारण दूसरे लोगों से भिन्न प्रकार के हो जाते हैं। उनका दर्शन शास्त्र दूसरों से भिन्न प्रकार का हो जाता है। इस दर्शन-भेद या मन्तव्य-भेद के कारण उनके व्यावहारिक कर्त्तव्याकर्त्तव्य सम्बन्धी विचार भी भिन्न प्रकार के हो जाते हैं और इस विचार-भेद पर आश्रित उनके पूजा-पाठ, खान-पान, विवाह-शादी आदि से सम्बन्धित निश्चय और आचरण भी दूसरों से भिन्न तरह के हो जाते हैं। दूसरे शब्दों में, प्रचलित अर्थों में समझा जाने वाला धर्म भी उनका दूसरों के धर्म से पृथक प्रकार का हो जाता है। इस दृष्टि से भी कई बार राष्ट्र में नाना धर्मों को मानने वाले लोग हो जाते हैं।

हमारी मातृभूमि पर रहने वाले ये विविध प्रकार की बोलियों को बोलने वाले तथा नाना प्रकार के कामों को करने वाले, नाना प्रकार के धर्मों का पालन करने वाले, लोग परस्पर मिल कर रहते हैं। इस प्रकार प्रेम से मिल कर रहते हैं जिस प्रकार एक घर में रहने वाले लोग प्रेम से मिल कर रहा करते हैं। घर का कोई व्यक्ति कोई काम कर रहा होता है और कोई व्यक्ति कोई। घर में पिता कुछ काम करता है, माता कुछ काम करती है, भाई कुछ काम करते हैं और बहिनें कुछ काम करती हैं। विभिन्न प्रकार के काम करते हुए और कुछ अंश में विभिन्न प्रकार की वाणियाँ बोलते हुए भी एक घर के सब सदस्य परस्पर प्रेम से मिल कर रहते हैं। उसी प्रकार हमारे राष्ट्र के विभिन्न प्रकार की बोलियों को बोलने वाले तथा विभिन्न प्रकार के धर्मों को मानने और पालने वाले निवासी भी सब परस्पर प्रेम से मिलकर रहते हैं। अपने वाणीभेद, भाषा-भेद और धर्म-भेद के कारण वे आपस में लड़ते-झगड़ते नहीं हैं। अपने राष्ट्र को वे अपना घर समझते हैं और उसमें घर के सदस्यों की भाँति ही प्रेम से मिलकर रहते हैं।

राष्ट्रवासियों के परस्पर प्रेम से मिलकर रहने का परिणाम यह होता है कि हमारी मातृभूमि अपने निवासियों के लिये द्रविण की, सब प्रकार के धन-ऐश्वर्य की, सहस्रों धाराओं को स्थिर और अविचल भाव से बहाती रहती है। जैसे एक दुधारु गाय स्थिर, चुपचाप, खड़ी होकर बिना हिले-डुले, अपने कृपापात्र दोग्धा के लिये, धार निकालने वाले के लिये, अमृत जैसे दूध की धारायें प्रवाहित कर देती है उसी प्रकार हमारी मातृभूमि गौ भी अपने निवासियों के लिए कृपामयी होकर उनके कल्याण और सुख-समृद्धि के लिये सहस्त्रों प्रकार के ऐश्वर्य की धाराओं को स्थिर रूप से प्रवाहित करती रहती है। उसका ऐश्वर्यदान निरन्तर चलता रहता है।

हे हमारी मातृभूमि-रूपी गौ-माता! हम पुत्रों पर अपनी कृपा दृष्टि निरन्तर रखना और अपने ऐश्वर्य की धाराओं को हमारे लिए सदा बहाती रहना।

मातृभूमि के इस वर्णन और उससे की गई इस प्रार्थना द्वारा वेद ने यह उपदेश दिया है कि सब राष्ट्र-वासियों को वाणी-भेद, भाषा वेद, और धर्मभेद रहने की अवस्था में भी प्रेम से मिलकर रहना चाहिए। उन्हें अपनी मातृभूमि को अपना घर समझना चाहिए और एक घर के निवासी जैसे प्रेम से मिलकर रहते हैं वैसे ही राष्ट्रवासियों को अपने देश में प्रेम से मिलकर रहना चाहिए। जब वे इस प्रकार प्रेम से मिल कर रहेंगे तभी उनका राष्ट्र उन्नति कर सकेगा और उनके लिये ऐश्वर्य की धारायें प्रवाहित कर सकेगा। जिस राष्ट्र के निवासी लड़ते और झगड़ते रहते हैं वह राष्ट्र कभी उन्नत और समृद्ध नहीं हो सकता।

यदि किसी भी राष्ट्र के निवासी अपनी सब प्रकार की उन्नति, सुख-समृद्धि और अभ्युदय चाहते हैं तो उन्हें वेद के इस मन्त्र के अनुसार भाषा और धर्म आदि के भेदों को भुलाकर एक घर के निवासियों की भाँति प्रेम-पूर्वक परस्पर मिलकर रहना चाहिए। आज हमारे राष्ट्र भारत की जो अवस्था है उसमें हमारे देशवासियों के लिए तो वेद की इस राजनैतिक शिक्षा के अनुसार आचरण करना नितान्त आवश्यक है। हम सभी भारतवासियों को वेद की इस शिक्षा की ओर गम्भीर ध्यान देना चाहिए, और भाषाओं एवं धर्मों आदि के भेदों को भूल कर सर्वथा एक होकर अपने राष्ट्र की उन्नति में एक जुट होकर लग जाने का व्रत लेना चाहिए।

महापुरुषों के कुछ रोचक संस्मरण

संस्मरण भावों को उद्वेलित कर जीवन को गति प्रदान करते हैं। महा-पुरुषों के संस्मरण हमारी अमूल्य निधि हैं। मानव इनसे प्रेरणा-प्राप्त कर जीवन का लक्ष्य निर्धारित करता है। इसी उद्देश्य को दृष्टि में रखकर यहाँ पर कुछ पुष्प चुनकर मानव जीवन को सुरभित करने के लिये जन-मानस की सेवा में अर्पित हैं। रोचकता जीवन को सरस बनाती है, मधुर बनाती है। इसीलिये संस्मरण केवल संस्मरण के रूप में संकलित न करके रोचक संस्मरण के रूप में प्रस्तुत हैं। जिससे मानव समाज प्रेरणा प्राप्त कर अपने जीवन को सरस बनाते हुए उच्च आदर्श स्थापित करे। वैसे तो संस्मरण रूपी सिंधु अथाह है परन्तु यहाँ उस अथाह समुद्र से संचिन वे अनमोल मोती प्रस्तुत हैं जो निश्चय ही उद्देश्य की प्राप्ति में सहायक सिद्ध होंगे—

■ महर्षि स्वामी दयानन्द योगियों की खोज में गहन वनों में घूमते फिरते थे। दो दिन तक बिना अन्न-जल ग्रहण किये चलते रहे। अन्त में भूख और थकावट से निढाल होकर एक पेड़ के नीचे जा लेटे। तभी चार-पाँच भालू आये लेकिन स्वामी जी बिना डरे लेटे रहे। एक भालू उनके पास आया और सूंघ कर चला लेकिन थोड़ी देर बाद ही आश्चर्य था कि वह भालू मुंह में शहद का छत्ता दबाये आया और दयानन्द जी के पास रखकर चला गया। ऋषि ने शहद को चाटकर नवजीवन पाया और अपनी यात्रा पर आगे बढ़ गये।

■ मुक्तिकामी दयानन्द समाधी में लीन थे कि उनके कानों में किसी स्त्री का आर्तनाद सुनाई पड़ा। उन्होंने आँखें खोलीं तो देखा कि एक विधवा अपने मृतक पुत्र को साड़ी के आँचल में लपेटे ले जा रही है और शव को नदी में प्रवाहित करके वह कपड़ा उसने अपने पास रख लिया। "सोने की चिड़िया" कहलाने वाले विश्व गुरु भारत की यह दुर्दशा देखकर ऋषि जार-जार रो पड़े। तभी से मोक्षसुख के लिये गृह त्याग करने वाले दयानन्द जी देशोद्धार के लिये जी जान से जुट गये।

भारतीय दर्शन

(महर्षि दयानन्द की दृष्टि में)
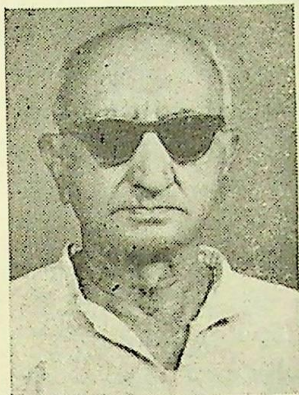
लेखक—आचार्य उदयवीर शास्त्री,
गाजियाबाद ।

भारतीय दर्शन वैदिक और अवैदिक दो भागों में विभक्त कहा जाता है। अवैदिक दर्शनों में चार्वाक दर्शन, आर्हत दर्शन तथा बौद्ध दर्शन का समावेश है। वैदिक दर्शनों में—न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा, वेदान्त—ये छह दर्शन गिने जाते हैं। इनके यथाक्रम दो-दो के युगल को 'समान-शास्त्र' कहा जाता है। जो प्रतिपाद्य विषय की समानता एवं सहयोगिता पर आधारित है। इनको वैदिक दर्शन इस आधार पर कहा जाता है, कि इनमें आत्म-अनात्म सम्बन्धी वैदिक सिद्धान्तों का दार्शनिक रीति पर विवेचन एवं उपपादन किया गया है। इन दर्शनों में वेदों को समान रूप से प्रमाण माना गया है, जब कि अवैदिक दर्शनों में ऐसा नहीं है।

दर्शनों के विभाग का यह आधार माने जाने पर वैदिक तथा अवैदिक दर्शनों के प्रतिपाद्य विषय, विचार प्रणाली, एवं तत्त्व के उपपादन आदि में परस्पर विरोध हो, यह स्वाभाविक है; परन्तु वैदिक कहे जाने वाले दर्शनों के मुख्य विषयों तक में परस्पर विरोध या असामञ्जस्य हो, तो वह अत्यन्त विचारणीय हो जाता है। प्रक्रिया के साधारण अथवा छोटे-मोटे असामञ्जस्य की उपेक्षा की जा सकती है; अन्यथा दर्शनों की छह संख्या ही निराधार हो जाय, क्योंकि किसी एक दर्शन के मुख्य प्रतिपाद्य विषय एवं तदनुकूल प्रक्रिया के प्रस्तुत करने में अन्य दर्शनों से कुछ भेद हो जाना संभव है, जो उपेक्षणीय है। इसी आधार पर इनकी संख्या छह है। परन्तु किसी एक विषय पर विभिन्न दर्शनों में विभिन्न उपपादन एक समस्या खड़ी कर देता है। यदि ऐसा भेद स्वाभाविक है, और वह प्रतिपादन वेदमूलक है, जो वैदिक दर्शन में होना चाहिये; तो वेद तक भी यह भेद का सूत्र जा पहुँचता है। यदि वहां पर भी इतने तात्त्विक भेदों के मूल विद्यमान हैं, तो वेद अमान्यता की कोटि में प्रवेश पा सकते हैं। एक ही तत्त्व को दो विरुद्ध रूपों में प्रतिपादन करने वाले शास्त्र की मान्यता कैसे सम्भव है ?

बौद्ध दर्शन के अभ्युत्थान काल में वैदिक दर्शनों में पारस्परिक विरोधी भावनाओं को उभारने का प्रयत्न किया गया, जो प्रचार की प्रबलता से अवसर पाकर दृढ़ मूल हो गया। अनन्तरवर्त्ती आचार्यों द्वारा उन्हीं भावनाओं की छाया में दर्शनों के व्याख्यान होते रहे। इन व्याख्याकारों ने उन विचारों को काफी हवा दी, जिसके परिणामस्वरूप एक ऐसा भयावह वैचारिक आकार खड़ा हो गया, जिसके प्रतिकूल कुछ भी कहने का कोई आचार्य उस समय साहस नहीं कर सका। यदि किसी ने कुछ किया भी, तो उसे प्रबल प्रचार के प्रभाव से दबा दिया गया।

प्राचीनकाल में इस प्रकार का एक आचार्य 'माधव' नाम का हुआ, जिसने अपने काल में सांख्य सिद्धान्तों को अन्यथा प्रतिपादन करने वाले बौद्ध आदि अवैदिक दार्श-

निकों का साहस पूर्वक उत्कट मुकाबला किया। बौद्ध दार्शनिकों ने खीझकर उसे 'सांख्य नाशक' विशेषण देकर अपनी रचनाओं में याद किया है, जबकि वैदिक दार्शनिक आचार्य उम्बेक भट्ट ने अपनी रचना श्लोकवार्त्तिक की टीका में 'सांख्य नायक' पद से स्मरण किया है। कुमारिल, शंकर, रामानुज सदृश मुनिकल्प प्रकाण्ड विद्वानों ने भी खुंदी हुई पद्धति का ही अनुगमन किया, अब ऐसा अनुभव होता है—कदाचित् वे आचार्य उस क्रान्तदर्शिता के उच्च स्तर पर पहुँचने से वञ्चित रह गये, जिसकी प्रशस्त पथ-निर्माण के लिये अपेक्षा रहती है। यद्यपि इन महान आत्माओं ने अपने समय में वैदिक धर्म की सेवाओं के लिये अपना जीवन तक अर्पण कर अत्यादरणीय प्रयत्न किये हैं।

गत अनेक शताब्दियों में सबसे पहला महामानव महर्षि दयानन्द हुआ है, जिसने भारतीय दर्शनों की इस दिशा पर दृष्टिपात किया और घोषणा की, कि वैदिक दर्शनों का तथाकथित पारस्परिक विरोध व असामञ्जस्य सर्वथा भ्रान्तिमूलक है। सत्यार्थ प्रकाश के अष्टम समुल्लास में एक स्थल पर लेख है—"विरोध उसको कहते हैं कि एक कार्य में एक ही विषय पर विरुद्धवाद होवे। छह शास्त्रों में अविरोध देखो इस प्रकार है। मीमांसा में —ऐसा कोई भी कार्य जगत् में नहीं होता कि जिसके बनाने में कर्म चेष्टा न की जाय। वैशेषिक में—समय न लगे बिना बने ही नहीं। न्याय में—उपादान कारण न होने से कुछ भी नहीं बन सकता। योग में—विद्या, ज्ञान, विचार न किया जाय, तो नहीं बन सकता। सांख्य में—तत्वों का मेल न होने से नहीं बन सकता, और वेदान्त में—बनाने वाला न बनावे तो कोई भी पदार्थ उत्पन्न न हो सके। इसलिये सृष्टि छह कारणों से बनती है। उन छह कारणों की व्याख्या एक-एक की एक-एक शास्त्र में है। इसलिये उनमें विरोध कुछ भी नहीं।"

दर्शनों में विवृत सृष्टि प्रक्रिया को लक्ष्य कर ऋषि का यह एक दिग्दर्शन मात्र है। यह अर्थ इतने में सीमित नहीं किया गया, प्रत्युत इस दिशा में खुले मार्ग पर विचरण करने के लिये एक संकेत है। कोई भी वस्तु बनने के लिये जिन बातों की आवश्यकता होती है, उनमें अपेक्षित छह बातों को ऋषि ने छांटा, और एक-एक का वर्णन एक-एक दर्शन में बताया। इनमें किसी वस्तु के बनने के लिये कोई बात एक-दूसरे का विरोध नहीं करती। इतना ही तात्पर्य ऋषि के लेख का है। यदि गम्भीरतापूर्वक इस पर विचार किया जाय, तो कोई भी विद्वान् यह समझ सकता है, कि वैदिक दर्शनों की रचना परस्पर विरोधी अर्थों का प्रतिपादन करने के लिये नहीं हुई। प्रक्रिया भेद भले हो; पर किसी एक विषय के प्रतिपादन में भी विभिन्न दर्शनों का अनुपेक्षणीय भेद नहीं देखा जाता। इस दृष्टि से निम्नलिखित विषयों पर संक्षिप्त विचार प्रस्तुत किया जाता है—१. वेद प्रामाण्य, २. ईश्वर का अस्तित्व, ३. प्रमाण वाद, ४. सत्कार्यवाद।

वेद-प्रामाण्य—छहों दर्शनों में वेद के प्रति अत्यन्त आदर पूर्ण भावना प्रकट की गई हैं। कोई दर्शन ऐसा नहीं, जहाँ वेद का निर्भ्रान्त प्रामाण्य स्वीकार न किया गया हो। 'स्वतः प्रामाण्य' और 'परतः प्रामाण्य' पदों की व्याख्या में भले ही प्रक्रिया का अन्तर हो, पर वेद के प्रामाण्य के लिये अन्य किसी के सहयोग अथवा सहारे की अपेक्षा है, यह किसी को अभिमत नहीं है। किसी सिद्धान्त को वेद के आधार पर प्रकट कर देने पर वह उसका परिनिष्ठित स्तर मान लिया जाता है। लेख के विस्तार भय से इस विषय के दर्शन-सूत्रों का यहाँ उल्लेख नहीं किया गया।

ईश्वर का अस्तित्व—ईश्वर के अस्तित्व को सब दर्शनों ने स्वीकार किया है। इस विषय में सबसे अधिक डिण्डिम घोष कापिल सांख्य दर्शन के लिये किया जाता है, कि वहां ईश्वर को स्वीकार नहीं किया गया। यह कहने वाले विद्वानों का विचार है, कि ईश्वर का अस्तित्व जगत् के निर्माण व नियन्त्रण की दृष्टि से स्वीकार किया जाता है। पर सांख्य में जगद्रचना के लिये प्रकृति को स्वतन्त्र मानकर ईश्वर की उपेक्षा कर दी गई है।

इस विषय में पहली बात है—कपिल के किसी सूत्र या कथन से यह स्पष्ट नहीं होता, कि सत्त्व-रजस्-तमोरूप त्रिगुणात्मिका प्रकृति सर्वथा स्वतन्त्र, चेतन निरपेक्ष होकर जगद्रचना में प्रवृत्त हुआ करती है। सांख्य षडध्यायी (सांख्य दर्शन) और तत्त्व समास सूत्रों में कोई ऐसा पद नहीं, जो उक्त अर्थ को प्रकट करता हो। कतिपय व्याख्याकारों ने सांख्य-सिद्धान्त का उल्लेख करते हुए लिखा है—सांख्य में प्रकृति को 'स्वतन्त्र' माना गया है। यदि उनका

स्वतन्त्र पद से यह अभिप्राय है, कि जगद्रचना में प्रकृति चेतन की अपेक्षा नहीं रखती, और इस प्रकार ईश्वर-चेतन की प्रेरणा व अधिष्ठातृता के बिना स्वयं जगद्रचना किया करती है; तो यह कहना होगा, कि उन विद्वानों को कापिल सिद्धान्त समझने में भ्रम हुआ है ।

यदि 'स्व-तन्त्र' पद का तात्पर्य यह समझा जाता है, कि प्रकृति जगत् के उपादान कारण की सीमा में अन्य किसी अस्तित्व की अपेक्षा नहीं रखती, अथवा अन्य अस्तित्व को सहन नहीं करती, केवल मात्र-जगत् का वही एक उपादान कारण तत्त्व है; इस अंश में और कोई उसका सहयोगी नहीं, तथा इसी दृष्टि से उसे स्वतन्त्र कहा गया है, तो ठीक है । कपिल ने जगत् के उपादान रूप में प्रकृति के अतिरिक्त अन्य किसी तत्त्व को स्वीकार नहीं किया । फलतः ईश्वर-चेतन की प्रेरणा के बिना प्रकृति जगत् का निर्माण करती रहती है, और यही उसकी स्वतन्त्रता है; इसको कापिल सिद्धान्त प्रकट करना सर्वथा निराधार है ।

सांख्य परम्परा में—चेतन निरपेक्ष प्रकृति, प्रवृत्ति किया करती है (प्रधान प्रवृत्तिर प्रत्यया पुरुषेण अपरिगृह्यमाणा आदिसर्गे वर्त्तसे-इति वार्षगण्यः । सांख्य सप्तति व्याख्या, युक्ति दीपिका) —यह विचार वार्षगण्य आचार्य का है, कपिल का नहीं । बौद्ध काल में इस विचार को बौद्ध विद्वानों द्वारा—कापिल सिद्धान्त को निरीश्वरवादी प्रकट करने, तथा उस आधार से अपने विचारों की पुष्टि के लिये—कपिल पर आरोपित किया गया, और इतना अधिक प्रचारित किया गया, कि कालान्तर में इस अप सिद्धान्त ने ही कापिल सिद्धान्त का रूप धारण किया, तथा शंकर जैसे अप्रतिम विद्वान् भी इससे अभिभूत हो गये । अनन्तरवर्त्ती व्याख्याकारों के लेख शंकर आदि का ही अनुगमन करते रहे ।

कहा जाता है—'ईश्वरासिद्धेः' सूत्र द्वारा कपिल ने स्वयं ईश्वर को असिद्ध बताया है । तब यह कैसे माना जाय, कि वह ईश्वरवादी था, और उसने ईश्वर-प्रेरणा द्वारा प्रकृति में प्रवृत्ति को स्वीकार किया है । इस विषय में निवेदन है—

उक्त सूत्र में जगत् के उपादान भूत ईश्वर को असिद्ध बताया गया है, अधिष्ठाता एवं नियन्ता ईश्वर को नहीं । ऐसे ईश्वर का होना कपिल ने स्वयं अनेक सूत्रों [१ । ९६ ॥ ३ । ५६, ५७] में स्वीकार किया है । सांख्यदर्शन के पञ्चमाध्याय के प्रारम्भ में ईश्वर की उपादान कारणता का प्रत्याख्यान करते हुए बारहवें सूत्र में केवल प्रकृति को जगत् का उपादान कारण स्वीकृत किया है, और इस विषय में वेद को आधार बताया है । केवल प्रकृति की उपादान कारणता को निश्चित करने के लिये जिन अन्य विरोधी विचारों की इस विषय में सम्भावना हो सकती थी, उनकी कल्पना कर कपिल ने पर्याप्त विवेचन इस विषय का किया है । उसी के अन्तर्गत सांख्य में ईश्वर की उपादान कारणता का प्रत्याख्यान उपलब्ध होता है ।

उक्त सूत्र में पठित 'असिद्धेः' पद से भी कपिल की यह भावना अभिव्यक्त होती है । यदि कपिल को ईश्वर का न माना जाना अभिमत होता, तो वह सीधा 'ईश्वराभावत्' ऐसा सूत्र बना सकता था । 'असिद्धेः' पद रखने से स्पष्ट होता है—ईश्वर सिद्ध तो है, उसका सर्वथा अभाव नहीं माना जाना चाहिये; पर ऐसा ईश्वर सिद्ध नहीं होता, जिसे जगत् का उपादान कारण कहा जाय ।

कतिपय व्याख्याकारों का विचार है, कि 'ईश्वरासिद्धेः' सूत्र प्रत्यक्ष लक्षण के प्रकरण में है, यहाँ जगत् के उपादान कारण का प्रसंग कैसे ? ऐसी आशंका उठाकर उन व्याख्याकारों ने सांख्य-सिद्धान्तों की उपेक्षा कर तथा पूर्वा पर प्रसंग का गम्भीरतापूर्वक विचार न करते हुए अनेक प्रकार की निराधार कल्पना की है । जो जिज्ञासु सज्जन इस विषय में विवेचना पूर्ण जानकारी चाहते हैं, वे उक्त सूत्र का विद्योदय भाष्य देखने का कष्ट करें; अथवा 'वेदवाणी' मासिक पत्रिका के १० वर्ष के ११वें अङ्क में 'ईश्वरासिद्धेः' शीर्षक लेख पढ़ लेने की कृपा करें ।

उक्त सूत्र में कपिल ने जगत् के उपादान भूत ईश्वर को असिद्ध बताया है, इस विषय का संकेत ऋषि दयानन्द ने सत्यार्थ प्रकाश में स्वयं किया है । सप्तम समुल्लास के ईश्वर प्रकरण में पूर्वपक्ष की ओर से सांख्य के उक्त सूत्र [१ । ९२] का उल्लेख कर उसका अर्थ किया है—"प्रत्यक्ष से घट सकते ईश्वर की सिद्धि नहीं होती ।" इस पूर्वपक्ष का उत्तर देते हुए आगे लिखा है—"यहाँ ईश्वर की सिद्धि में प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं है, और न ईश्वर जगत् का उपादान कारण है ।" इसी प्रसंग में

ऋषि दयानन्द ने सांख्य का एक और सूत्र [५ । ८] उद्धृत करते हुए उसकी व्याख्या में लिखा है—"इसलिये परमेश्वर जगत् का उपादान कारण नहीं, किन्तु निमित्त कारण है।" इसी के उपसंहार में उद्धृत किये एक उपनिषद् सन्दर्भ की व्याख्या करते हुए लिखा है—"प्रकृति परिणामिनी होने से अवस्थान्तर होती है, और पुरुष अपरिणामी होने से वह अवस्थान्तर होकर दूसरे रूप में कभी नहीं प्राप्त होता, सदा कूटस्थ निर्विकार रहता है; इसलिये जो कोई कपिलाचार्य को अनीश्वरवादी कहता है, जानो वही अनीश्वरवादी है, कपिलाचार्य नहीं।"

इस प्रसंग से स्पष्ट हो जाता है—ऋषि दयानन्द ने उक्त सांख्यसूत्र का यह अभिप्राय: स्वीकार किया है, कि इस सूत्र में ईश्वर की सिद्धि में प्रत्यक्ष न होने का कोई उल्लेख नहीं है, प्रत्युत ईश्वर जगत् का उपादान कारण नहीं है, इस सिद्धान्त का प्रतिपादन है। इसलिये जगत् के उपादानभूत ईश्वर की असिद्धि का ही यह सूत्र निर्देश करता है। फलतः ईश्वर के अस्तित्व के विषय में दर्शनकारों का अविरोध स्पष्ट है।

प्रमाण-वाद—प्रमाण से अर्थ की सिद्धि होती है, इस मूल सिद्धान्त के स्वीकार किये जाने से प्रमाण के अस्तित्व में किसी को नकार या सन्देह नहीं। परन्तु प्रमाणों की संख्या में विरोध का उद्भावन किया जाता है। विभिन्न दर्शनों में एक से लगाकर आठ प्रमाण तक माने गये हैं। चार्वाक दर्शन में केवल एक प्रत्यक्ष प्रमाण माना गया है। वैशेषिक और बौद्ध दर्शन, प्रत्यक्ष और अनुमान दो प्रमाण स्वीकार करना आपेक्षित समझते हैं। सांख्य-योग में-शब्द प्रमाण को पूर्वोक्त दो में और जोड़कर प्रमाणों की संख्या तीन मानते हैं। न्यायदर्शन में 'उपमान' एक अन्य प्रमाण जोड़कर प्रमाणों की संख्या चार बताई है। मीमांसा और वेदान्त में इन चार के अतिरिक्त अर्थापत्ति और अनुपलब्धि (अभाव) ये दो प्रमाण और बताकर प्रमाणों की संख्या छः मानी है। कतिपय प्राचीन नैयायिक ऐतिह्ल और सम्भव ये दो अधिक बताकर प्रमाणों की संख्या आठ मानते थे।

इस विषय में यह एक निश्चित मत है, कि किसी वस्तु की सिद्धि के लिये कोई भी उपयोगी प्रकार अस्वीकार नहीं किया जाता। फिर प्रवक्ता और बोद्धा रूप में अनेक प्रकार के अधिकारी होते हैं। उनके स्तर बौद्धिक परिज्ञान एवं अन्य अपेक्षित परिस्थितियों के अनुसार उनके सम्मुख वस्तु तत्त्व को स्पष्ट करने के लिये उनके उपयोगी प्रकारों को स्वीकार कर लिया जाता है; यद्यपि वे प्रकार अधिक व्यवस्थित प्रक्रियाओं के अन्तर्गत ही आ जाते हैं। इसलिये जिन दर्शनों में प्रमाणों की संख्या न्यून मानी गई है, वे भी शेष ज्ञान-साधन प्रकारों को प्रमाण माने जाने का विरोध नहीं करते। उनका केवल इतना कहना है; कि इनको अतिरिक्त प्रमाण मानने की आवश्यकता नहीं। अपने रूप में वे प्रमाण अवश्य हैं; क्योंकि बोद्धा उन साधन-प्रकारों से वस्तु तत्त्व को यथार्थरूप में समझ लेता है। इसलिये यदि उनका उपयोग कहीं अपेक्षित है, तो इसमें उन दार्शनिकों को कोई आपत्ति न होगी।

ऋषि दयानन्द ने अपने ग्रन्थों में जहाँ-तहाँ आठ प्रमाणों का उल्लेख कर इसी अभिप्राय: को स्पष्ट किया है। फलतः प्रमाणवाद की संख्या को लेकर दर्शनों में परस्पर विरोध की जो भावना प्रकट की जाती है, उसे निराधार ही समझना चाहिये। प्रमाण के प्रामाण्य के लिये संख्या का कोई महत्त्व नहीं; महत्त्व केवल वस्तु-साधनता का है, जो प्रमाण में स्वरूपेण निहित है।

सत्कार्य-असत्कार्यवाद—इन वादों के आधार पर मध्य कालिक व्याख्याकारों ने बड़े कड़े संवाद प्रस्तुत किये हैं। पहला वाद (सत्कार्य) सांख्य का और दूसरा (असत्कार्य) न्याय-वैशेषिक का समझा जाता है। योग सांख्य से बाहर नहीं; तथा वेदान्त भी उसका साथ देता है; यद्यपि नाम उसका कुछ अन्य रख लेता है। इस प्रकार मुख्य रूप में यह अखाड़ा न्याय और सांख्य का रह जाता है।

यह वाद वस्तुओं के कार्य-कारण भाव पर आश्रित है। जो वस्तु कार्य है, उसका कोई कारण अवश्य होगा। कार्य वह वस्तु है, जो अपने कारणों से उत्पन्न होती अथवा जानी जाती है। प्रश्न यह है—वह वस्तु जो अपने कारणों से जनी गई है, उस जन्म से पहले भी अपने कारणों में है, या नहीं? 'है' यह सत्कार्य सिद्धान्त है, इसका अभिप्राय: है—कोई भी कार्य वस्तु अपने जन्म से पहले भी अपने कारणों में विद्यमान रहती है। 'नहीं' यह असत्कार्यवाद है। अर्थात् कोई भी कार्य अपनी उत्पत्ति

से पूर्व अपना अस्तित्व नहीं रखता। स्पष्ट ही ये वाद परस्पर विरुद्ध प्रतीत होते हैं।

असत्कार्यवाद का अपने विषय में तर्क है—यदि कपड़ा बुने जाने से पहले धागों में विद्यमान है, तो बुने जाने को आवश्यकता ही नहीं रहनी चाहिये; और कि जो काम कपड़े से लिया जाता है, वह धागों से ले लिया जाना चाहिये। पर ऐसा व्यवहार में नहीं देखा जाता। धागों को बुने बिना काम नहीं चलता; और कपड़े का काम भी धागों से नहीं लिया जाता। स्पष्ट है, बुने जाने से पहले कपड़ा नहीं था, बुने जाने पर बना, इसलिये उत्पत्ति से पहले कार्य को असत् माना जाना युक्त एवं व्यवहार के अनुकूल है।

सत्कार्यवाद का तर्क आगे चलता है। उसका कहना है, यदि धागों में कपड़ा नहीं है; तो जैसे धागों में नहीं है, वैसे मट्टी के डलों में भी नहीं है, धागों और डलों में समान रूप से कपड़े का अभाव है; तो अभाव होने पर भी जैसे धागों से कपड़ा उत्पन्न होता है, डलों से भी होना चाहिये। अथवा डलों से उत्पन्न न होने के समान धागों से भी उत्पन्न न होना चाहिये। परन्तु व्यवहार में ऐसा नहीं देखा जाता। हम जानते और देखते हैं—कपड़ा धागों से बनता है, डलों से नहीं। स्पष्ट है, जहां जो वस्तु है वहीं से निकलेगी, जहां नहीं है वहां से नहीं। क्योंकि कपड़ा धागों से निकलता है, तो समझना चाहिये—वह पहले से वहाँ विद्यमान है। इसलिये अपने प्रकट होने से पहले कार्य अपने कारणों में विद्यमान् (सत्) रहता है।

यहाँ असत्कार्यवाद का पुनः कहना है—यदि उत्पत्ति से पहले कार्य की सत्ता है, तो उसके लिये प्रयत्न क्यों किया जाता है? इसका उत्तर सत्कार्यवाद की ओर से दिया जाता है—प्रकट होने से पहले कार्य छिपा रहता है, अपने कारणों में अन्तर्हित रहता है; उसे प्रकट में लाने के लिये प्रयत्न किया जाता है। परन्तु असत्कार्यवाद में इसका क्या उत्तर है, कि कपड़ा बनाने के लिये धागों का ही संग्रह क्यों किया जाता है, डलों का क्यों नहीं? और घड़ा बनाने के लिये डलों का ही संग्रह क्यों किया जाता हैं; धागों का क्यों नहीं? जबकि दोनों जगह कार्यों का अभाव (असत् होना) समान रूप से रहता है?

इसका उत्तर महर्षि गौतम ने न्यायदर्शन के एक सूत्र में इस प्रकार दिया है—

बुद्धिसिद्धन्तु तदसत्। (४।१।५०)

वह कार्य जो उत्पत्ति से पूर्व असत् कहा जाता है, वस्तुतः उसका अस्तित्व बुद्धिसिद्ध रहता है। इसका अभिप्राय है—हम एक व्यवस्था देखते हैं, कि नियत कारणों से ही कोई कार्य विशेष उत्पन्न होता है; प्रत्येक कार्य प्रत्येक कारण से उत्पन्न नहीं होता। अर्थात् कोई भी कार्य किसी भी कारण से उत्पन्न हो जाय, ऐसा नहीं होता। इस स्थिति का नाम है—उपादान नियम। इससे हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं, कि कार्य का निर्माता अपनी बुद्धि द्वारा इस स्थिति को जानता है, कि इन कारणों में से अमुक कार्य बन सकता है। कार्य की आकृति लम्बाई चौड़ाई, गोलाई, ऊँचाई, छोटाई, बड़ाई आदि प्रत्येक स्वरूप का उसे ज्ञान है, कि इस कारण से मैंने इस-इस प्रकार का कार्य बनाना या प्रकट करना है। वह उस कार्य के नियत स्वरूप को उन कारणों में अन्तर्हित समझता व देखता है, और एक नियत धारणा के साथ अपना प्रयत्न करता है, उसी के अनुरूप वह कार्य प्रकट में आ जाता है। उपादान नियम का यही वास्तविक आधार है।

कार्य-कारण की इस परिस्थिति को गम्भीरता से समझने पर यह परिणाम स्पष्ट होता है, कि गौतम के विचार के अनुसार भी कारण में कार्य का अस्तित्व 'स्व' रूप से तो नहीं, पर निर्मातृ बुद्धि द्वारा उसकी रूप रेखा का निश्चय कारणों के रूप में अवश्य रहता है। यदि यह वर्णन यथार्थ है, तो दर्शनों में एतद्विषयक विरोध की परिस्थिति यहां आकर दम तोड़ जाती है। सांख्य भी कार्य के प्रकट होने से पहले सर्वात्मना कार्य-स्वरूप के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करता। प्रत्युत कार्य रूपों को कारण-रूप में रहना मानता है। इस प्रकार वस्तु तत्व के वर्णन करने की रीति में भले ही कुछ अन्तर हो, पर मन्तव्य अर्थ लगभग एक स्तर पर आ जाता है।

अन्य भी अनेक दार्शनिक विषयों पर प्रकाश डाल कर ऋषि दयानन्द ने उनकी यथार्थ दिशा को समझाने का पूरा प्रयत्न किया है। जीवात्मा-परमात्मा का भेद, जगत् के उपादान और निमित्त कारणों का एक न होना, सांख्य की प्रकृति एवं वैशेषिक के परमाणुओं का जगत्सर्ग में स्थान, मोक्ष से पुनरावर्तन आदि ऐसे ही विषय हैं। ऋषि प्रदर्शित दार्शनिक विचारों की छाया में दर्शन शास्त्र का अध्ययन, दर्शनों के तथा कथित विरोध की भावना को अपास्त कर उनके पारस्परिक सहयोग व समन्वय की भावना को उभारता है। दर्शन विषय में ऋषि का यह दृष्टि कोण दर्शनों की यथार्थता को समझने में एक महत्वपूर्ण योगदान है।

सन् १९७३ शताब्दि समारोह के स्मरणीय देवता

लेखक—श्री इन्द्रराज मन्त्री, मेरठ आर्य समाज।

सन् १८७५ में पहला आर्य समाज महर्षि दयानन्द सरस्वती के कर कमलों द्वारा बम्बई में स्थापित हुआ था। सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा नई दिल्ली ने आर्य समाज स्थापना शताब्दि समारोह सन् १९७५ में बम्बई में मनाने का निश्चय किया। बम्बई चलने के लिये सारे देश में तैयारियों को देखते हुए बम्बई में **शताब्दि** समारोह को मनाने का निश्चय सार्वदेशिक को बदलना पड़ा। इस प्रकार से नई दिल्ली में **शताब्दि** समारोह की तैयारियाँ होनी प्रारम्भ हुईं।

१. स्वर्गीय श्री पं० प्रकाशवीर जी शास्त्री

परन्तु सार्वदेशिक सभा द्वारा सन् १९७५ में **शताब्दि** समारोह को पूरी तरह सफलता के साथ देखने का एक महान् आत्मा ने स्वप्न लिया। उस महान् आत्मा ने अपनी दूर दृष्टि से देखा कि सार्वदेशिक सभा का निर्माण तो आर्य प्रतिनिधि सभा उत्तर प्रदेश लखनऊ के सतत प्रयत्नों से हुआ है और आर्य प्रतिनिधि सभा उत्तर प्रदेश आर्य समाज मेरठ के सतत प्रयत्नों का फल है। उत्तर प्रदेश सब प्रान्तों से बड़ा प्रान्त है। यदि उत्तर प्रदेश पूरी तरह से आन्दोलित हो जायेगा तो सार्वदेशिक सभा द्वारा मनाई जाने वाली **शताब्दि** पूरी तरह से सफल हो जायेगी।

उस महान् आत्मा ने विचार करके उत्तर प्रदेश में तीन स्थानों पर **शताब्दि** समारोह मनाने का निश्चय किया और आर्य प्रतिनिधि सभा उत्तर प्रदेश की अन्तरङ्ग सभा में मेरठ, कानपुर और वाराणसी के स्थल क्रमशः उत्तर प्रदेश पश्चिमी, मध्य और पूर्वी भागों को आन्दोलित करने के लिये चुन लिये गये।

मेरठ में जो **शताब्दि** समारोह हुआ उसका स्वागत-मन्त्री लेखक स्वयं था। स्वागत मन्त्री के नाते मैं उस महान् आत्मा स्वर्गीय प्रकाशवीर शास्त्री के निकट सम्पर्क में आया। निकट सम्पर्क से ही मैं उस महान् व्यक्तित्व से बहुत प्रभावित हुआ। एक विशाल दृष्टिकोण, संगठन, की अद्भुत क्षमता, एक अद्भुत आकर्षक व्यक्तित्व, ओजस्वीनी वाणी के धनी, श्रेष्ठ सांसद, अपने मित्रों के पूरे हितैषी आदि विभिन्न प्रकार के गुणों से विभूषित वह महान् आत्मा थे।

उनके निर्देशन में मेरठ **शताब्दि** समारोह बड़ी सफलता पूर्वक सम्पन्न हुआ। भारत में ही नहीं विदेशों में भी इसकी धाक जमी।

सन् १९७४ में कानपुर में **शताब्दि** समारोह उनके निर्देशन में मनाया गया। उस सम्मेलन की सफलता का श्रेय भी श्रद्धेय शास्त्री जी को था।

सन् १९७५ में सार्वदेशिक सभा द्वारा दिल्ली में **शताब्दि** समारोह से पूर्व उसकी भूमिका के रूप में श्री शास्त्री जी के निर्देशन में तीसरा **शताब्दि** समारोह वाराणसी में धूमधाम से मनाया गया। मेरठ को यज्ञ और भोजन का कार्य सौंपा गया जिसे मेरठ के कार्यकर्ताओं ने बड़ी सफलतापूर्वक निभाया।

गुरु विरजानन्द धाम मथुरा, आर्य समाज हरिद्वार का भव्य भवन, आर्य प्रतिनिधि सभा उत्तर प्रदेश का विशाल भवन, श्रद्धानन्द अर्धशताब्दि का भव्य आयोजन आदि अनेकों दु:साध्य कार्य उनके स्मारक के रूप में हमारा मार्ग दर्शन कर रहे हैं।

इस **शताब्दि** को मनाने का जब विचार बना तब मैंने उन्हें पत्र लिखा कि उन्हीं के निर्देशन और मार्ग दर्शन में यह मेरठ आर्य समाज स्थापना **शताब्दि** समारोह मनाया जायेगा। उन्होंने सहर्ष प्रार्थना को स्वीकार किया और अपनी स्वीकृति प्रदान की। उनके स्वीकृति पत्र को अविकल रूप में पाठकों के सम्मुख प्रकाशित कर रहा हूँ—

के० एम० मुन्शी लेन, नई दिल्ली
दिनांक १९ जुलाई, १९७७

भाई श्री इन्द्रराज जी,

नमस्ते।

आपका पत्र मिला। यह जानकर प्रसन्नता हुई कि मेरठ आर्य समाज आगामी वर्ष सितम्बर-अक्तूबर में अपना **शताब्दि** समारोह मनाने जा रहा है। इसमें मैं स्वयं जो भी सहयोग अधिक से अधिक कर सकूंगा उसके लिये प्रसन्नता होगी। अच्छा यह हो कभी आप इधर ही निकल आयें और विस्तार से सारी बातें हो जांये तो ठीक है। अन्यथा फिर मैं जब उधर आऊँगा तो आपको सूचना दूंगा।

भवदीय :
प्रकाशवीर शास्त्री

उस महान् देवता के शब्द कानों में गूंज रहे हैं और घूम रहे हैं। परन्तु वह महान आत्मा आज हमारे मध्य में नहीं है। वह ओजस्वी वाणी जो युवकों के हृदयों में अदम्य उत्साह भर देती थी सुनने को नहीं मिलेगी। उस अर्चनीय देवता को बार-बार नमन करता हूँ। भगवान से प्रार्थना है कि उनकी अदृश्य प्रेरणाओं से हमारे कार्यकर्त्ता साथी उत्साहित होकर इस शताब्दि को सफल बनायें।

२. स्व० महात्मा आनन्द स्वामी जी महाराज

आनन्द की वर्षा करने वाले महात्मा आनन्द स्वामी जी का आशीर्वाद मेरठ वासियों को प्रायः प्राप्त होता रहता था। आर्य जगत को महात्मा जी पर गर्व था। सन् १९७३ की शताब्दि समारोह मेरठ में लाखों लोगों को उनकी आनन्दमयी वाणी सुनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। श्री स्व० जानकीनाथ जी प्रधान आर्य समाज, थापर नगर, के पुरुषार्थ से आर्य समाज मन्दिर थापर नगर के प्रांगण में मेरठवासी उनके अमृतमय उपदेशों से निरन्तर लाभ उठाते रहे। अन्तिम बार जब वे मेरठ पधारे थे, उनके शरीर में महान कष्ट था, परन्तु फिर भी वे निरन्तर आनन्द की वर्षा में मेरठवासियों को आप्लावित करते रहे। आज वह आनन्दमयी ओजस्वी वाणी हमारे मध्य में नहीं है। वह प्रेरणादायक आकर्षक व्यक्तित्व-सदा सर्वदा के लिये हमसे जुदा हो गया है। निष्ठुर काल ने उस तपस्वी को हमसे छीन लिया है। फिर भी उनकी ओजस्वी आनन्दमयी वाणी आज भी दुःखी और सन्तप्त संसार को आनन्द सागर में स्नान करवा रही है। उस महान तपस्वी को हमारा बार-बार प्रणाम है।

३. स्वामी स्व० विद्यानन्द जी विदेह

वेदामृत की वर्षा करने वाले स्वामी विद्यानन्द जी विदेह एक चुम्बकीय वाणी के धनी थे। मेरठवासियों को प्रतिवर्ष उनके वेदोपदेशामृत का पान करने का सौभाग्य प्राप्त होता था। वेद मन्त्रों की व्याख्या में वेद मन्त्र के मर्म को स्पर्श करने की क्षमता उस ओजस्वी वाणी में थी। भव्याकृति, आकर्षक व्यक्तित्व, वेद साधना में रत वह वेदमय जीवन, काल के कराल गाल में लुप्त हो गया। मेरठवासियों पर श्रद्धेय स्वामी जी की विशेष कृपा दृष्टि थी। जब भी यहाँ से निमन्त्रण जाता था मेरठ की जनता को वेदोपदेश सुनने का सुअवसर प्राप्त हो जाता था। इस शताब्दि समारोह में श्रद्धेय स्वामी जी की सेवा में जब शताब्दि की तिथियों से कुछ पूर्व से वेदकथा करने के लिए निमन्त्रण भेजा तो कृपा कर उन्होंने तुरन्त स्वीकृति प्रदान कर दी, परन्तु सहारनपुर में आर्य सम्मेलन के अवसर पर मंच पर ही वेदोपदेश देते-देते वे हमसे हमेशा-हमेशा के लिए विदा हो गये। उनका पत्र भी अविकल रूप से पाठक वृन्द के सम्मुख प्रकाशित कर रहा हूँ :—

वेद संस्थान राजौरी गार्डन, नई दिल्ली

२३–१२–७७

स्वे गमे जागृहि (य० २७—३)=अपने जीवन सदन में जाग।

भगवन्, सादर सप्रेम नमस्ते।

आपके १७ दिसम्बर के पत्र के अनुसार सात दिन १८ से २४ अक्तूबर मैंने डायरी में अंकित कर ली है। सफलता की कामना करता हुआ।

प्रभु का प्रभु में

विद्यानन्द जी विदेह

उनकी ओजस्वी वेदवाणी चारों ओर गूंज रही है और हमें वेद साधना में निरन्तर रत रहने की प्रेरणा कर रही है।

३. स्व० सेठ जानकी नाथ जी

लम्बा कद, सुन्दर और प्रभावशाली व्यक्तित्व के स्वामी स्व० श्री जानकी नाथ जी प्रधान आर्य समाज थापर नगर मेरठ ने शताब्दि समारोह १९७३ में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया। धन संग्रह के दुरुह कार्य में उनका योगदान अपूर्व था। बाहर से पधारे विशिष्ट अतिथियों की सेवा आर्य समाज थापर नगर में उनके नेतृत्व में हुई। अतिथि सेवा उस महान व्यक्तित्व का परम धर्म था। प्रायः आनन्द स्वामी जी महाराज उन्हीं की प्रेरणा से मेरठ पधारते थे, और उन्हीं के निवास स्थान पर रहते थे। कोई भी अतिथि उस घर से खाली नहीं जाता था। वह कर्मवीर हमारे मध्य में नहीं रहा। उस देवता को हम सबका प्रणाम है। भगवान उनकी प्रेरणाओं को हमारे मध्य में सदैव जागृत रखे।

४. स्व० विश्वमित्र जी

सौम्य मूर्ति, विनम्र स्वभाव, मधुरवाणी एवं दानशील प्रवृत्ति के धनी श्री स्व० विश्वमित्र जी निःस्वार्थ सेवी व्यक्ति थे। जहाँ वे व्यापारिक संस्थाओं की सेवा करते थे वहाँ वे समाज सेवी भी थे। वे झाँसी में केन्द्रीय आर्य समिति के मन्त्री रहे। रोशनलाल ट्रस्ट सोसायटी के मन्त्री

थे तथा आर्य विद्या सदन थापर नगर के भी वे सुयोग्य और सफल मन्त्री थे। इस प्रकार की सौम्य मूर्ति के अब दर्शन कहाँ ? उस सौम्य व्यक्तित्व को हमारा शत-शत प्रणाम।

५. स्वर्गीय वीरेन्द्र सेठी

सात्विक मन से युक्त एक नव युवक आर्य समाज थापर नगर के माध्यम से हमारे सम्पर्क में आया। निकट से जैसे ही सम्पर्क हुआ, उस युवक को लोकेषणा से ऊपर पाया। समाज का सच्चा और निःस्वार्थ सेवक, महर्षि दयानन्द के सिद्धान्तों पर मर मिटने वाला, संकुचित भावनाओं से ऊपर वह तरुण हृदय आज हमारे मध्य में नहीं है। अमर बलिदानी पं० लेखराम जी के सन्देश को आगे ले जाने वाला वह कर्मवीर आर्य समाज थापर नगर को नहीं, अपने परिवार को ही नहीं, अपितु मेरठ के आर्य जगत् को शून्यमय (सूना) कर गया। मेरठ के नव युवक उस सात्विक देवता को सदैव नमन करते रहेंगे।

६. स्वर्गीय श्री बलजीत जी शास्त्री

मेरठ की ही नहीं वह उत्तर प्रदेश की विभूति, जो धीरे-धीरे अपनी विनम्र सेवाओं से मेरठ के आर्य जगत् का गौरव, उत्तर प्रदेश में ही नहीं अपितु भारत में ऊँचा कर रही थी। जिस विभूति ने सन् १९७३ की शताब्दि में प्रचार मन्त्री का दुरुह कार्य सम्भाला। जिसकी नम्रता और योग्यता के समक्ष प्रत्येक व्यक्ति झुकता था। जिसमें वैदिक संस्कार एक पैत्रिक सम्पत्ति के रूप में कूट-कूट कर भरे थे, जो व्यक्ति अपनी विनम्रता से चारों ओर सुगन्धी बिखेर रहा था, जिसका नगर में एक विशिष्ठ स्थान था, जिस पर मेरठ के आर्य समाज को गर्व था, वह एक रात्रि हृदयाघात से हमसे सदैव के लिये वियुक्त हो गया। मेरठ आर्य जगत् को सूना कर गया। उनकी प्रान्तीय ही नहीं अपितु सार्वदेशिक स्तर की योग्यता और क्षमता से आर्य जगत् विशेष लाभ न उठा सका। उस अद्वितीय महान आत्मा को बार-बार नमन कर श्रद्धांजली अर्पित करते हैं।

७. स्वर्गीय श्री विद्या सागर जी

सन् १९७३ की शताब्दि में श्रद्धेय स्व० श्री बाबू मुसद्दी लाल जी की प्रेरणा से भोजन नि.शुल्क देने का निश्चय किया गया था। भोजन समिति का कार्य भार आर्य समाज लालकुर्ती ने सम्भाला था। उस समय श्री विद्यासागर जी इस आर्य समाज के मन्त्री थे। स्वभावतः वे ही भोजन के संयोजक बन गये। भोजन निर्माण के विषय में वे बड़े निष्णत थे। यह क्या विदित था कि शताब्दि के अवसर पर इतनी अधिक संख्या में आर्य भाईयों के भोजन की व्यवस्था करनी पड़ेगी। परन्तु श्री रामधन जी के सक्रिय सहयोग से तीन दिन और तीन रात वह भोजन व्यवस्था में जूझता रहा। भोजन व्यवस्था की सुगन्धि सारे देश में फैल गई। वाराणसी की शताब्दि में भी भोजन की व्यवस्था उनके ही पास थी। वहाँ भी सफलता प्राप्त हुई और मेरठ का मस्तक गौरवान्वित हुआ। कुम्भ के मेले में सार्वदशिक सभा द्वारा लगाये गये प्रचार कैम्प में भी भोजन व्यवस्था उनके ही हाथ में थी। उसमें भी सफलता मिली। भोजन की व्यवस्था की जहाँ भी चर्चा होती उनका नाम और मेरठ का नाम लिया जाता। धीरे-धीरे वे सभा की अन्य व्यवस्थाओं में भाग लेने लगे। मेरठ नगर, मेरठ जिले से आगे बढ़ कर भूसम्पत्ति विभाग आर्य प्रतिनिधि सभा उत्तर प्रदेश के अधिष्ठाता बना दिये गये। प्रान्त को उनसे बहुत आशायें थीं, परन्तु क्या पता था कि काल इनको हमसे बहुत जल्दी ही छीन लेगा। उनकी मृत्यु से घर, समाज, नगर और प्रान्त सूना हो गया। हम उस महान आत्मा को नमन करते हैं।

८. स्वर्गीय बाबू मुसद्दी लाल जी

नगर आर्य समाज मेरठ एवं आर्य उप प्रतिनिधि सभा जिला मेरठ के प्रधान पद को सुशोभित करने वाले महान आत्मा का स्मरण सहसा सामने उपस्थित होता है। वे प्रान्तीय सभा एवं सार्वदेशिक सभा की अन्तरङ्ग सभाओं में एक उदार और विशाल दृष्टिकोण से निर्भीकतापूर्वक बड़ी योग्यता से अपने विचार प्रस्तुत करते थे। इतिहास उनका विषय था। वे इतिहास में एम० ए० थे। परन्तु अन्य विषयों में भी उनकी गति थी। स्वाध्यायशील तो थे ही ध्यानी पुरुष भी थे। उनकी योग में भी गति थी, केवल ध्यान योगी ही नहीं थे आर्योचित्त पवित्र जीवन वाले थे। सरकारी सेवा में रत रहते हुए इतनी ईमानदारी से जीवन व्यतीत करना यह उनके पवित्र जीवन की साधना थी। जब भी उनके समीप बैठने का सुअवसर प्राप्त होता था ऐसा अनुभव होता था जैसे एक ज्ञान के

समुद्र में स्नान कर आनन्द प्राप्त हो रहा हो। मन ही मन उनको प्रेरणा का स्रोत मानकर मैं अपना गुरु भी मानता था। जब १९७३ की शताब्दी हुई उससे पूर्व वे लखनऊ में निवास करते थे। मैंने उन्हें मार्ग दर्शन के लिये लिखा, वे तुरन्त मेरठ आ गये। सर्व प्रथम उन्होंने ही यह सुझाव दिया कि कोई भी यज्ञ ब्रह्मभोज के बिना सफल नहीं होता। इसलिये इस विशाल समारोह में आर्य भाईयों का भोजन निःशुल्क होना चाहिये। पहले पहले तो इस सुझाव का विरोध हुआ, परन्तु उनकी सात्विक प्रेरणा सफल हुई। इस कारण शताब्दि समारोह की सुगन्धि दूर-दूर तक फैली। अब तक जितने भी शताब्दि समारोह हुए, उनमें मेरठ का आतिथ्य सर्वोपरि रहा। पूरी शताब्दि में उनके प्रेरणादायक विचारों से सफलता मिलती रही। शताब्दि के पश्चात् वे लखनऊ चले गये। एक दिन समाचार मिला कि उनका देहावसान हो गया है, मन ने नहीं माना, परन्तु निष्ठुर काल कब किसको छोड़ता है? गुरुदेव चले गये। उनके उपदेशों पर चलकर ही उनको श्रद्धांजलि अर्पित करने का प्रयत्न कर रहा हूँ। जितना भी सामाजिक कार्य है उसमें उनकी प्रेरणायें स्तुत्य हैं। उस महान आत्मा को बार बार नमस्कार है।

९. स्वर्गीय श्री नरेन्द्र जी हैदराबाद

(स्वामी सोमानन्द जी)

छोटा शरीर और महान आत्मा, सन् १९७३ की शताब्दि में हमारा मार्ग दर्शन करती रही। पं० नरेन्द्र जी शताब्दि से कुछ दिन पूर्व ही मेरठ पधार गये थे। उनकी सेवा में रहने और निर्देशन में चलने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। उनके जीवन की कहानी भी एक क्रान्ति की कहानी है। हैदराबाद सत्याग्रह स्वतन्त्रता संग्राम की प्रखर ज्वाला में वह महान आत्मा कूद गया। उसने गृहस्थ सुख का परित्याग किया। आयु-भर स्वतन्त्रता और धर्म स्वतन्त्रता के संघर्ष में जूझता रहा। समर्पित जीवन पं० नरेन्द्र के शरीर का एक हड्डी निज़ाम के क्रूर अत्याचारों की कहानी सुना रही थी। छोटा शरीर, निर्भीक, कठोर किन्तु कोमल व्यक्तित्व, वैदिक धर्म का दीवाना, त्यागी, तपस्वी, विनम्र परन्तु अग्नि पुञ्ज वैदिक पथ पर चलते चलते सन् १९७५ की शताब्दि में स्वामी सोमानन्द सरस्वती के रूप में संन्यास की दीक्षा लेकर अग्निमय हो गया। आशा थी स्वामी सोमानन्द जी महाराज दहकती हुई अग्नि के समान संसार के रोगों, द्वेषों, और पापों को भस्मी भूत कर देंगे। परन्तु एक निष्ठुर दिन आया जिस दिन वे संन्यासी हमसे सदैव सदैव के लिये विलग हो गये। सन्यासी के रूप में मेरठ वासी उनके दर्शन भी न कर सके। इस शताब्दि समारोह में उनके कितने मार्ग दर्शन की आवश्यकता थी ये हमारी भूलें ही प्रकट करेंगी। आज उनका स्मरणमात्र स्फूर्ति पैदा कर देता है। उस महान वीतराग महात्मा को शत-शत प्रणाम।

संस्मरण—

■चापोद-आश्रम में रहते हुए ऋषि योगाभ्यास में लीन रहते थे। वे उन दिनों केवल दूध ही पीते थे जो पास के ग्रामवासी आश्रम में भेज देते थे। एक दिन उनके गुरु तथा साथी कुछ दिनों के लिये आश्रम से बाहर चले गये। ग्रामवासियों ने समझा कि आश्रम मे कोई नहीं है और उन्होंने दूध भेजना बन्द कर दिया। ईश्वर-प्राणिधानी दयानन्द निराधार समाधी में लीन रहे। दूसरे दिन ही एक गाय भागती हुई आई और ऋषि की कुटिया के आगे रम्भाने लगी। तभी गाय को खोजते हुए उसके मालिक भी वहाँ आ गये और उसे खींचकर ले जाने लगे, लेकिन गाय टस से मस न हुई। कोलाहल सुनकर ऋषि बाहर आये तो गाँव वालों को अपनी भूल मालूम पड़ी। वहीं पर गाय का बछड़ा लाया गया और दूध दुहकर ऋषि को पिलाया गया। इस तरह दयानन्द जी को दूध पिलाकर ही गोमाता लौटी। ●

महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वतीजी महाराज की कुछ स्मरणीय अज्ञात बातें

लेखक—महामहोपाध्याय आचार्य विश्वश्रवाः व्यास वेदाचार्य
एम० ए० वेदमन्दिर ९९, बाजार मोतीलाल
बरेली (उ० प्र०)।

(१) आर्य समाज की स्थापना तिथि चैत्र शुक्ला प्रतिपदा संवत् १९३१, ७ अप्रैल बुद्धवार सन् १८७५ को हुई इस सम्बन्ध में आर्य समाज बम्बई के लिखित इतिहास की कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं

सं० १९३१ नी सालाना चैत्र सुद १ ने दिने प्रथम मुँबई मा एक आर्य समाज स्वर्गवासी रा० रा० गिरधरलाल दयाल दास कोठारी, बी० ए० एल-एल० बी०, हाइकोर्ट ना प्लीडर ना प्रमुख पणा नीचे स्थापन थयो।

(आर्य समाज बम्बई का इतिहास)

(क) अतः आर्य समाज स्थापनातिथि चैत्रशुक्ला पञ्चमी नहीं है।

(ख) स्थापना के दिन ही यह निश्चय हुआ कि शनिवार ५½ बजे अधिवेशन हुआ करे।

(ग) शनिवार १० अप्रैल प्रथम अधिवेशन में स्वामी जी का व्याख्यान आर्य समाज की आवश्यकता पर हुआ।

(२) महर्षि दयानन्द सरस्वती सहस्र औदीच्य सामवेदी ब्राह्मण थे इस का विवरण।

आज से एक सहस्र वर्ष पूर्व सिद्धपुर (गुजरात) का राजा मूलराज सोलंकी उत्तर भारत के तीर्थों की यात्रा के लिये गया। नैमिषारण्य कान्यकुब्ज स्थाण्वीश्वर तीर्थों से एक सहस्र उत्तम कुलीन ब्राह्मणों को ले आया। राज्य में भूमि देकर बसा दिया। ये सब उत्तर भारत से आये थे अतः औदीच्य कहाये और संख्या में एक हजार थे अतः सहस्र औदीच्य कहलाये। उन ब्राह्मणों में ऋग्वेदी, यजुर्वेदी सामवेदी सब प्रकार के ब्राह्मण थे। उन में से एक सामवेदी औदीच्य ब्राह्मण परिवार नारायण सरोवर तीर्थ यात्रार्थ कच्छ गया उन्हीं दिनों कच्छ नरेश अपनी राजधानी भुज में एक यज्ञ का आयोजन कर रहे थे। उस यज्ञ की रचना को देखकर उस ब्राह्मण ने कहा कि यह वेदि तान्त्रिक है। इसके नीचे बड़े पशु की हड्डी अवश्य है। उससे राजा को हानि होगी। राजा ने उस ब्राह्मण से पूछा कि आपने कैसे जाना। ब्राह्मण ने कहा कि यज्ञ रचना देखकर मैंने अनुमान किया है। वेदि खोदी गई बड़े पशु की हड्डी निकली। तब राजा प्रसन्न हुआ पर उस ब्राह्मण ने कहा कि मैं यज्ञ नहीं कराऊँगा आप का कुल पुरोहित ही करावे। वह ब्राह्मण भी यज्ञ में रहा। उसको राजा ने भूमि देकर नहीं बसा। भुज के आस पास उसी ब्राह्मण के वंशज कच्छ भर में फैले हैं और कच्छ से सौराष्ट्र में फैले।

सन् १६०२ में महाराजा जामरावल ने जामनगर राज्य की स्थापना की। उसी वंश के एक सामवेदी सहस्र औदीच्य ब्राह्मण ने जामनगर राज्य की स्थापना धार्मिक विधि से कराई। उसके उपलक्ष में जामरावल ने दक्षिणा और भूमि दी उनमें से एक महाप्रतापी विद्वान हरिभाई त्रिवाड़ी हुआ जो टंकारा बस गया। उसकी तीसरी या चौथी पीढ़ी में लाल जी तिवाड़ी हुआ जो टंकारा में बस गया। लाल जी त्रिवाड़ी के अन्य सन्तान केशिया हरियाणा आदि में अब तक बसे हुए हैं। इस प्रकार लाल जी त्रिवाड़ी का सम्बन्ध जामनगर शाखा से है।

इसके अतिरिक्त सहस्र औरीच्य सामवेदी ब्राह्मणों का ही एक टंकारा शाखा है और एक मौर्वी शाखा भी है। महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती उन शाखाओं में से नहीं हैं। वंश परम्परा ऋषि की इस प्रकार है—

हरिभाई त्रिवाड़ी, उनके पुत्र लाल जी त्रिवाड़ी, उनके पुत्र कर्षन जी, उनके पुत्र मूल शंकर (स्वामी दयानन्द सरस्वती) ऋषि ने बताया कि औरिच्य ब्राह्मण १५ शाखा प्रति शाखा में बटे हुए हैं। अतः प्रत्येक औदीच्य ब्राह्मण ऋषि का वंशज नहीं है ऋषि जिस शाखा में पैदा हुए वह शाखा वह है जो उत्तर भारत से सिद्धिपुर (गुजरात) आये।

(२) सिद्धिपुर (गुजरात) से जो शाखा कच्छ गई

(३) कच्छ से जो शाखा जामनगर गई

३. स्वामी जी की बुआ, माता और बहन

(क) ऋषि के बालसखा इब्राहीम ने बताया था कि स्वामी जी की माता का नाम **अमृतबाई** था। जो भुज गांव की रहने वाली थीं। भुजगांव कच्छ स्टेट में है।

(ख) ऋषि की बुआ का नाम **केसर बाई** था। केसरबाई ने विजय शंकर बम्बई को बताया था कि ऋषि के पिता जी के दो नाम थे—**अम्बा शंकर** राशि नाम और **कर्षन जी** प्रसिद्ध नाम। इसी प्रकार स्वामी जी के भी दो नाम थे **मूलशंकर** और **दयाराम**।

(ग) स्वामी जी की बहन का नाम **प्रेम बाई** था उसके पति का नाम **बोधारावल** था। उस बोधारावल की पुत्री का पुत्र **पोपट रावल** था। जो मथुरा शताब्दी पर उपस्थित था। स्वामी जी के दो भाई दो बहन थीं। भाइओं की और एक बहन की मृत्यु हो गई अतः कर्षन जी की सम्पत्ति का मालिक पोपटरावल हुआ।

मौर्वी में रहने वाला एक व्याकरणाचार्य लाभशंकर है वह भी सहस्र औदीच्य सामवेदी ब्राह्मण है उसके पूर्वजों ने कर्षन जी की सम्पत्ति का मालिक बनने के लिये कर्षन जी का वंशज अपने को बताया। पर कोर्ट में केस चलने पर यह सिद्ध हुआ कि ये लोग सहस्र औदीच्य सामवेदी ब्राह्मणों की दूसरी शाखा है।

१५ वीं शताब्दी में जब कच्छ के राजपूतों ने सौराष्ट्र पर हमले करके राज्य स्थापित किये तब कच्छ से कुछ सामवेदी औदीच्य ब्राह्मणों को भी साथ लाए। यह शाखा वरसा मेड़ीं होकर वडाल आई। वडाल में दो शाखा हो गईं। एक निर्वंश हो गई दूसरी टंकारा आकर बस गई। इस टंकारा शाखा में मूल पुरुष मेघ जी त्रिवेदी। उसके दो पुत्र। एक कुंवर जी जो टंकारा में ही रहा। उसका भाई विश्राम जी को जीवा मैना के निमन्त्रण पर जीवापुर जाकर बस गया। इस शाखा में व्याकरणाचार्य लाभशंकर के पूर्वज थे। स्वामी जी के कनिष्ठ माता **बल्लभ** के स्वर्गवास के कारण और स्वामी जी के निकल जाने के कारण सम्पत्ति विवाद खड़ा हुआ। केस में लाभशंकर के पूर्वजों के हारने पर यह लाभशंकर परिवार ऋषि का भी शत्रु हो गया और नाना प्रकार की मिथ्या बातें स्वामी जी के पूर्वजों के बार में फैलाई कि स्वामी जी के पिता की दो पत्नी थीं इत्यादि। यह सारा विवरण हमको राजकोट के श्री कृष्ण शर्मा आर्यमिश्नरी सावित्री सदन मनहर प्लाट राजकोट (सौराष्ट्र) ने नोट कराया था।

४. (आर्य समाज बम्बई की रजिस्ट्री मसविदा)

बम्बई में आर्यसमाज के २८ नियम बने। पर आर्यसमाज बम्बई काकड़वाडी गिरगांव जिसकी स्थापना ऋषि ने संवत १९३१ चैत्र शुक्ला प्रतिपदा को की उसकी रजिस्ट्री इन्हीं दस नियमों पर बम्बई में हुई है। जिन दश नियमों को लाहौर में बना बताया जाता है। आर्य समाज बम्बई की रजिस्ट्री अंग्रेजी भाषा में है और उसमें इन्हीं दस नियमों का अंग्रेजी अनुवाद है। बम्बई वाले २८ नियमों का नहीं।

५. ये दस नियम हैं या उद्देश्य

सब सत्यविद्या और जो पदार्थ विद्या से जाने जाते हैं इत्यादि जब सर्वप्रथम रजिस्टर पर स्वामी जी ने लिखाये थे। वह रजिस्टर मैंने तलाश करके महात्मा हंसराज जी को दे दिया था जब मैं डी. ए. बी. कालिज लाहौर की सर्विस में था। महर्षि ने इनको—

'आर्य समाज के उद्देश्य'

इस रूप से लिखा था अर्थात् आर्य समाज की स्थापना इन दस उद्देश्यों के लिये की थी। ताकि हर एक काम आर्य समाज के नाम पर कर चलो।

६. उपनियमों की स्थिति क्या है।

इन उपनियमों के बनाने में रा. ब. मूलराज का हाथ

है आर्य समाज के उसी प्रथम रजिस्टर पर स्वामी जी ने अपनी टिप्पणी दे दी थी कि—

एक वर्ष के लिये इन उपनियमों को चालू कर रहा हूं सब एकत्र होकर एक वर्ष बाद आर्य समाज का विधान बनाना, वह आज तक न हुआ। अतः ये उपनियम अनार्ष हैं गम्भीर विचारकों को आर्य समाज का विधान बनाना चाहिये।

६. ऋषि ने अपनी आयु स्वयं बताई

ऋषि बालब्रह्मचारी थे अतः उनका अनुमान था कि उनकी आयु चार सौ वर्ष या इससे अधिक हो सकती है। अतः महर्षि ने वेद भाष्य प्रारम्भ करने से पूर्व ये शब्द अपने हाथ से लिखे।

एकैकस्य शतादुपरि काल

अर्थात् एक-एक वेद पर भाष्य करने में सौ-सौ से अधिक वर्ष लगेंगे इस दृष्टि से महर्षि ने विस्तार से वेदों का भाष्य लिखना प्रारम्भ किया। पर फिर उन्हें ज्ञात हो गया कि मेरी आयु सौ वर्ष भी नहीं है। अतः उन्होंने तत्क्षण अपनी लेखनी से लिख दिया कि—

शतावध्यागन्तुको मृत्यु। नाकाले म्रियते जन्तुः।

अर्थात् सौ वर्ष के अन्दर-अन्दर मेरी मृत्यु है, सौ वर्ष भी पूरे नहीं होंगे। मृत्यु का समय निश्चित है।

यह विचार कर विस्तृत भाष्य करना बन्द कर दिया और दूसरी शैली से वेद भाष्य करना प्रारम्भ किया जो केवल यजुर्वेद का पूरा और ऋग्वेद के सप्तम मण्डल के इकसठ सूक्त के दूसरे मन्त्र तक ही हो पाया।

७. ऋषि ने तीन वेद भाष्य किये-संक्षिप्त, विस्तृत और मध्यम

(क) विस्तृत भाष्य करते-करते छोड़ दिया।
(ख) मध्यम भाष्य मुद्रित मिलता ही है। यजुर्वेद की चार जिल्दें सम्पूर्ण यजुर्वेद भाष्य तथा ऋग्वेद के ६ भाग, सप्तम मण्डल इकसठ सूक्त दूसरा मन्त्र तक।

ऋषि का सम्पूर्ण चारों वेदों का भाष्य

उपर्युक्त दोनों प्रकार के भाष्यों को करने से पूर्व महर्षि ने चारों वेदों पर एक ग्रन्थ स्वयं लिखा वह इस प्रकार है।

ऋग्वेद में १०५२२ मन्त्र हैं (दस हजार पांच सौ बाइस)
यजुर्वेद में १९७५ मन्त्र हैं (एक हजार नौ सौ पिछत्तर)
सामवेद में १८७५ मन्त्र हैं (एक हजार आठ सौ पिछत्तर)
अथर्ववेद में ५९७७ मन्त्र हैं (पांच हजार नौ सौ सतत्तर)

कुल संख्या चारों वेदों के मन्त्रों की २०३४६ (बीस हजार तीन सौ उनन्चास है)

इस प्रकार चारों वेदों के इन समस्त मन्त्रों पर प्रत्येक मन्त्र में किस विषय का वर्णन यह समाधिस्थ होकर देख कर लिखा। यही ऋषियों का काम है क्योंकि—

नह्येषु प्रत्यक्षम स्त्यनृषेरतपसोवा (निरुक्त)

अर्थात् जो व्यक्ति ऋषि और तपस्वी नहीं है उसको इस बात का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता कि अमुक मन्त्र में किस विषय का वर्णन है। जब यह पता चल जावे कि इस मन्त्र में इस विषय का वर्णन है तो हम वेदाचार्य लोग भी उस मन्त्र का भाष्य कर सकते हैं।

महर्षि के स्वर्गवास के पश्चात् ऋषि से बचे हुए वेद भाग पर आर्य विद्वानों ने परिश्रम करके वेदभाष्य रचे जिससे चारों वेदों का भाष्य पूरा हो जाये।

(क) पं० तुलसीराम स्वामी ने ऋषि का अनुकरण करते हुए सामवेद पर संस्कृत और आर्यभाषा में भाष्य छापा सम्पूर्ण सामवेद का है।
(ख) पं० क्षेमकरणदास त्रिवेदी ने अथर्ववेद का सम्पूर्ण वेद भाष्य संस्कृत और आर्यभाषा में छापा।
(ग) महामहोपाध्याय पं० आर्यमुनि जी और पं० शिवशंकर काव्यतीर्थ जी ने ऋग्वेद के उस मन्त्र से भाष्य प्रारम्भ किया जहाँ पर करते-करते ऋषि मोक्ष पधार गये। अर्थात् ऋग्वेद के सप्तम मण्डल के इकसठ सूक्त के तीसरे मन्त्र से इन लोगों ने भाष्य प्रारम्भ किया क्योंकि इससे पूर्व तक ऋषि भाष्य कर चुके थे। ये दोनों आर्य विद्वान ऋग्वेद के नवम मण्डल तक ही पहुँचे और इन दोनों का भी स्वर्गवास हो गया। ऋग्वेद के दशम मण्डल पर भाष्य नहीं हो पाया। इन दोनों विद्वानों ने भी अपना वेद भाष्य **संस्कृत और आर्यभाषा दोनों भाषाओं में रचा। इन चारों विद्वानों ने वेदभाष्य संस्कृत और आर्यभाषा में प्रकाशित किया।**

पर हमें इस बात का दु:ख है कि आर्य समाज शताब्दि के प्रवाह में जनज्ञान और सार्वदेशिक सभा ने इन चारों के वेद-भाष्यों को छापा पर संस्कृत भाग छोड़ दिया और अपनी-अपनी भूमिका में इस बात की चर्चा भी नहीं की कि इन चारों विद्वानों के भाष्य संस्कृत भाषा में थे भी या नहीं। ऊँची दूकान सस्ता माल। ऋषि के वेद-भाष्यों की भी आर्यभाषा ही छापी पर ऋषि के संस्कृत भाष्य और आर्यभाषा की रक्षा परोपकारिणी सभा करती

ही है पर इन चारों विद्वानों के वेद भाष्यों का संस्कृत भाष्य लुप्त हो जायेगा।

(उपर्युक्त चारों विद्वानों का दौर्भाग्य)

ऋषि ने चारों वेदों के प्रत्येक मन्त्र पर जो ग्रन्थ लिखा था कि किस मन्त्र में किस विषय का वर्णन है। यह ग्रन्थ उपर्युक्त चारों विद्वानों को प्राप्त नहीं हुआ। यह ऋषि का ग्रन्थ धरती में गड़ा हुआ था। अतः इन चारों विद्वानों को स्वयं निर्णय करना पड़ा कि किस मन्त्र में किस विषय का वर्णन है। यदि यह ग्रन्थ इन चारों को मिल जाता और ऋषि के लिखे विषयों को लेकर के चारों अपना वेद भाष्य करते तो इन के वेद भाग्य भी आर्य हो जाते। पर ये निरपाध थे इन्हें पता नहीं था।

दीवान बहादुर हरविलास शारदा जी के काल में वह ग्रन्थ धरती से निकाला गया। मैंने स्वयं पर्याप्त समय श्री पूज्य हरविलास जी के पास रहकर इस ग्रन्थ को पढ़ा। और आग्रह करके इस ग्रन्थ का फोटो करवाया और फिर छपवाया भी। आज वह परोपकारिणी सभा के पास मुद्रित प्रकाशित है मूल्य केवल ५ रु० है। आर्य जनता के उपयोग में नहीं आ सकता। विद्वानों के उपयोग के योग्य है।

(यह ग्रन्थ शताब्दि से पूर्व छप गया था)

आर्यसमाज स्थापना शताब्दी से बहुत पूर्व यह ग्रन्थ छप गया था। आर्य समाज स्थापना शताब्दी पर चारों वेदों के भाष्यों की धूम मची। और ऋग्वेद के दशम मण्डल पर भाष्य का प्रश्न सबके सामने था। शताब्दी पर चारों वेदों का भाष्य वेचने वालों ने दशम मण्डल पर किसी न किसी विद्वान् से दशमण्डल पर भाष्य रचाया।

(ते के न जानीमहे)

अब जबकि ऋषि का वह ग्रन्थ छप ही गया था उस के बताये विषयों को लेकर दशम मण्डल का भाष्य यदि कराया गया होता दशम मण्डल का ही भाष्य ऋषि के आधार पर हो जाता। पर आश्चर्य है कि न वेद भाष्य करने वालों ने न वेद भाष्य करवाने वालों ने उस ग्रन्थ की ओर आँख उठाकर देखा। परिणाम यह हुआ कि दशम मण्डल का भाष्य तीन जगह हुआ और तीनों का अलग-अलग। ऋषि के उस ग्रन्थ के होते हुये अपना धातुपाठी भाष्य करने वाले और करवाने वाले देवानां प्रियाः अवश्य हैं। एक उदाहरण देकर इस प्रबन्ध को समाप्त करता हूं।

ऋग्वेद के दशम मण्डल में एक मन्त्र है जो संस्कार विधि में स्वास्तिवाचन में आता है और सब आर्यों को कण्ठस्थ है। मन्त्र यह है—

सुत्रामाणं पृथिवीं द्यामनेहसं सुशर्माणमदितिं सुप्रणीतिम्।
दैवी नावं स्वरित्रा मनागसमस्रवन्तीमारुहेमा स्वयते॥
(ऋ-१०)

इस मन्त्र में किसका वर्णन है इस सम्बन्ध में तीनों जगह हुए शताब्दिभाष्य पृथक्-पृथक् विषय बताते हैं। इस मन्त्र में दैवी नौका का वर्णन है। दैवी नौका क्या है—

(क) एक शताब्दिभाष्य कहता है कि दैवी नौका मोक्ष है।

(ख) दूसरा शताब्दिभाष्य कहता है कि दैवी नौका हवाई जहाज है।

(ग) तीसरा शताब्दिभाष्य कहता है कि दैवी नौका परमात्मा है। अब आर्य लोग अकल से ही सोचें। यज्ञ में आप लोग इस मन्त्र को बोल रहे हैं कि ऋयते **स्वस्तये= कल्याण के लिये** हम दैवी नौका का आश्रय लेवें यहाँ हवाई जहाज की क्या तुक है। तथा च नौका पर बैठ कर कहीं जाया जाता है नौका पर सदा नहीं बैठे रहते। अतः यदि मोक्ष या परमात्मा ही दैवी नौका है तो उसके आगे और कहाँ जाओगे। दैवी नौका तो वह चीज हो सकती है जिसके आश्रय से हम मोक्ष या परमात्मा के पास पहुँचे। अतः दैवी नौका का अर्थ मोक्ष या परमात्मा भी बेतुका अर्थ है।

(दैवी नौका क्या है इस पर ऋषियों का मत)

जैमिनि कार्य लिखते हैं कि—

दैव्येषा नौर्यद् यज्ञः। (जै० ब्रा० १। १६६)

अर्थात् दैवी नौका यज्ञ है। महर्षि ने भी अपने उस चारों वेदों के ग्रन्थ जिसका नाम चतुर्वेद विषय सूची है उसमें इस मन्त्र का विषय यज्ञ ही लिखा है। शतपथ ब्राह्मणकार यज्ञवप्लव का तथा उपनिषत्कारों का भी यही कहना है कि ये यज्ञप्लव=नौका है अतः सोचो कितना सुसंगत अर्थ हो जाता है कि यज्ञ में बैठा यजमान बोल रहा है कि मैं अपने कल्याण के लिये इस दैवी नौका =यज्ञ का आश्रय ले रहा हूँ।

आर्यों बुरा न मानो आर्य समाज की इस द्वितीय शताब्दी में ऋषि से बचे वेद भाग पर ऋषि के उस ग्रन्थ को लेकर फिर से वेदों का भाष्य कराया जाना चाहिये। इत्याचार्यमतम् शमित्याम।
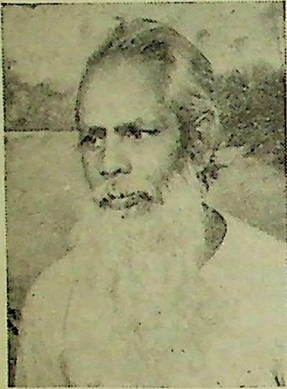
आर्य समाज के सौ वर्ष

लेखक—महात्मा आर्य भिक्षु जी, प्रधान,
आर्य वानप्रस्थाश्रम, ज्वालापुर ।

हम अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर गत दिसम्बर माह में भारतवर्ष की राजधानी दिल्ली में अपना स्थापना शताब्दी समारोह मना चुके हैं। क्या यह आवश्यक नहीं है कि अपने सौ वर्ष का लेखा-जोखा प्रस्तुत करने के सन्दर्भ में हम कसौटी के रूप में महर्षि के उस वचनामृत को सामने रखें जिसे उन्होंने आर्य समाज की स्थापना के ही समय बड़ा बल देकर कहा था "मेरा अपना मन्तव्य वही है जो सब को तीन काल में एकसा मानने योग्य है, मेरी अपनी कोई नवीन कल्पना अथवा मतमतान्तर चलाने की लेषमात्र भी इच्छा नहीं है। किन्तु जो-जो सत्य है उसे मानना और मनवाना और जो-जो असत्य है उसे छोड़ना और छुड़वाना अपना अभीष्ट है।"

विगत सौ वर्षों में निःसन्देह हमने तहरीर और तकरीर का काम बन्द न होने पावे अमर शहीद पं० लेखराम जी की वसीयत के रूप में लाखों व्याख्यान करवाये, सहस्रों शास्त्रार्थ रचाये, कितनी ही पत्र-पत्रिकायें निकलवाईं, ट्रैक्टस् बाँटे, पुस्तकें लिखवाईं, गुरुकुल खुलवाये, विधवा आश्रम चलवाये और कालेजों की भी एक लम्बी कतार खड़ी कर दी किन्तु क्या यह सब साधन ही मात्र नहीं है, उस परम साध्य की प्राप्ति के लिए जिसे महर्षि ने हमें सौंपा था "मानना मनवाना और छोड़ना छुड़वाना" आइये अब हम गम्भीरतापूर्वक अपनी-अपनी छाती पर हाथ रख कर देखें कि हम कितने अंशों में सत्य को माने और लोगों को मनवाया तथा कितने अंशों में असत्य को छोड़ा और छुड़वाया उत्तर मेरी दृष्टि में सन्तोषजनक नहीं है। इससे निश्चय हो गया कि हमने अब तक क्या-क्या किया। इसके ही ढोल पीटने में अपने कर्त्तव्य की इतिश्री न समझ कर इस पवित्र अवसर पर पूर्ण दृढ़ता एवं निष्ठा के साथ एक संकल्प लें कि हम संसार को सत्य मनवा कर रहेंगे असत्य से दुनिया का पीछा छुड़ावेंगे किन्तु इसके पहले स्वयं सत्य को धारण करेंगे और असत्य का परित्याग करेंगे। इस कार्य को हाथ में लेने वाले वर्ग को ही सम्भवतः सम्बोधित करते हुवे सुप्रसिद्ध दार्शनिक कारलायल ने लिखा था, "स्वयं को पवित्र बनाओ तब दृढ़ता और विश्वासपूर्वक कह सकेंगे कि दुनियां में एक दुष्ट तथा गन्दा कम हो गया है और वह तुम स्वयं हो। इस दिशा में हम उदाहरण के रूप में आर्य समाज के एक कार्यक्रम को लिखें जिसके पालन करने पर महर्षि ने बड़ा बल ही नहीं दिया अपितु आर्यों के लिए सुगमता तथा सरलता की दृष्टि से इसी निमित्त एक लघु पुस्तिका भी लिखी जिसे पञ्चमहायज्ञ विधि कहते हैं। आज हममें से कितने आर्य नहीं-नहीं प्रचारक और उपदेशक हैं जो यह कह सकते हैं कि हम सर्वांश में इसका पालन कर रहे हैं या करते हैं। इन पंक्तियों का लेखक भी इस परीक्षा में कठिनाई से न्यूनतम अंक (उत्तीर्ण होने के लिये अनिवार्य) प्राप्त कर सका है दोनों समय नियमपूर्वक संध्या तथा अग्नि होत्र करने के नाते ४० प्रतिशत अंक का ही अधिकारी है। यह तो प्रश्न पत्र का पहला भाग था जो मेरी दृष्टि में अपेक्षाकृत सहज तथा सुगम है। आइये यह भी देखें असत्य को छोड़ने में हमारी क्या स्थिति है। जन्म जात, जाति-पांति की बातें ही ले लें।

हममें से अधिकांश का पीछा उससे नहीं छूटा है। नाम के पीछे सरनेम के स्थान पर महाजन, इत्यादि जन्मजात सूचक शब्द आज भी शोभा पा रहे हैं। कण्ठीमाला संकीर्तन इत्यादि हमारे पीछे लगा हुवा है। मेरी दृष्टि में इस स्थिति का मूल कारण हमारी संख्या वृद्धि की नीति ही रही है। हमने गुण वृद्धि पर बल न देकर संख्या वृद्धि को अपना लक्ष्य बना लिया है। एक सदाचारी, परोपकारी तथा विद्वान व्यक्ति लाखों व्यक्तियों को मार्ग दर्शन करता हुआ उन्हें उलझन से पार करा सकता है किन्तु सहस्रों वक्ता तथा लेखक अपनी वाणी तथा लेखनी से अपनी वाक पटुता एवं लेखनशैली की प्रशस्ति तो भले ही प्राप्त कर लेवें लेकिन दूसरों को उलझन से निकालना तो दूर रहा सारी जिन्दगी स्वयं ही उलझा रह जाता है। ठीक ही कहा है—

"इकबाल बड़ा उपदेशक है मन बातों में मोह लेता है।
गुफ्तार का गाजी बन तो गया, किरदार का गाजी बन न सका।"

इसी प्रसंग में सन्त शिरोमणि कबीर लिखते हैं :—
और कहें कागज की लेखी मैं तो कहूँ आखन की लेखी।'
आज हमारी सदस्य संख्या लाखों में नहीं करोड़ों में है। किन्तु हमारा नैतिक स्तर हमारे पूर्व के आर्यों का सा नहीं रहा है यह एक कुट सत्य है, जिसे कहना कठिन तो है ही किन्तु सुनना उससे अधिक कठिन। हमारे यहाँ अर्थात् इस संगठन में महर्षि ने तथा उनके पश्चात हमारे दिवंगत आर्य नेताओं ने आर्य सदस्य तथा सहायक सदस्य दो वर्ग की व्यवस्था कर रखी है। कोई भी व्यक्ति हमारे उद्देश्य तथा नियम में आस्था रखने और तदानुकूल आचरण करने की प्रतिज्ञा करता हुआ हमारा प्रवेश पत्र भर कर हमारे संगठन का सहायक सदस्य तो बन सकता है किन्तु विद्याबल अथवा धन के आधार पर तत्काल आर्य सदस्य नहीं बनाया जा सकता। आज अधिकाँश में इन्हीं बाह्य किन्तु आकर्षक स्थितियों के हम शिकार हो गये हैं। और शीघ्रता में प्रमाद तथा असावधानी के परिणाम स्वरूप अपने मध्य में उन लोगों को इकट्ठा कर देते हैं जिनका हमारे उद्देश्य और नियम से वास्तव में कोई लगाव नहीं होता। इसके परिणामस्वरूप हमारे संगठन की अधिकांश इकाइयों का नेतृत्व उन लोगों के हाथ में चला जाता है जिनसे संगठन के उद्देश्य पूर्ति की बात तो दूर रही उसके सिद्धान्त के विरुद्ध भी कृत्य होने लगते हैं और तब अन्त में हम यही कहते सुनते दीख पड़ते हैं "हमने तो समझा था कि पढ़ा लिखा आदमी है, काम तो सम्भाल ही लेगा और आगे भी ले जावेगा, हमने समझा था प्रभावशाली तथा पराक्रमी व्यक्ति है इससे समाज की स्थिति ऊँची उठेगी। हमने समझा था पैसे वाला है निश्चय ही कुछ कर दिखायेगा। किन्तु परीक्षण पर पता लगा नहीं यह विडम्बना और कोरी कल्पना मात्र है। समाज का हित तो समाज के दीवाने इस दीपक के परवाने और मिशन के मतवाले ही कर सकते हैं चाहे उनके पास विद्याबल अथवा धन अपेक्षाकृत कम ही क्यों न हो। आइये विचार करें कि आज की वर्तमान स्थिति का निराकरण कैसे सम्भव है इस दिशा में अपने तीन दशक वर्षों के अनुभव के आधार पर कुछ निवेदन करने का साहस करता हूँ जिससे वर्तमान आपाधापी में सुधार होगा और हम सब एक सार्वदेशिक संगठन के अन्तर्गत महर्षि के सपनों का समाज बनाने में सफल होंगे :—

(१) प्रकाशन की दिशा में—सत्यार्थ प्रकाश ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका तथा संस्कार विधि इन तीन महर्षि की मौलिक एवं क्रांतिकारी कृतियों पर अपने सर्वोच्च संगठन का एकाधिकार होना चाहिये। जिससे प्रकाशन का व्यय न्यूनतम हो जायेगा। और विभिन्नताओं जिसके परिणाम स्वरूप विषमताओं का जन्म होता है सहज ही में समाप्त हो जावेंगे।

(२) पुरोहितों की दिशा में दोनों ओर से सुधार किये जाने की आवश्यकता है प्रथम योग्य सदाचारी एवं मिशनरी भाई और तथा बहिनों को ही इस दिशा में प्रोत्साहित किया जाना चाहिये न कि नौकरी के इच्छुक जीवन निर्वाह की वृत्ति वालों को। दूसरी दिशा में संगठन के द्वारा पुरोहितों के कुशल क्षेत्र तथा आदर सत्कार का पूर्ण सम्बन्ध होवे जिससे इसमें आये हुए व्यक्ति स्थायी रूप से रुक सकें ऐसा नहीं जैसा कि अधिकांश में देखा जाता है कि कठिनाइयों से पीड़ित होकर अथवा मिशन की दीवानगी के फलस्वरूप आये हुये भी व्यक्ति शीघ्र इसे छोड़कर अन्य दिशाओं में विशेषतया अध्यापन अथवा चिकित्सा में चले जाते हैं। सब से बड़ा सुझाव तो यह है कि हमारा पुराहित संगठन का सर्वोच्च व्यक्ति स्वीकार

किया जाना चाहिये न कि उसका एक वेतन भोगी कर्मचारी, और इसका क्रियात्मक स्वरूप यही हो सकता है कि समाज की इकाइयों के प्रधान अथवा कार्यकर्त्ता प्रधान पुरोहित ही हों। इनको छोड़ कर अन्य पदों का निर्वाचन किया जावे। पुरोहितों को दी जाने वाली दक्षिणा समाज की स्थिति पर नहीं अपितु पुरोहित की आवश्यकता के आधार पर होनी चाहिये। इसके मध्य में आर्थिक स्थिति की कठिनाई का निराकरण पुरोहित स्वयं करे जिसमें हमारा पूर्ण सहयोग होवे।

(३) प्रचार गाँव की दिशा में—हमारा प्रचार कार्य नगरों की अपेक्षा गाँवों में कम रहा है यह हम सभी अनुभव करते हैं। इसके लिये लोक गीत तथा लघु कथाओं का हमें अपने सिद्धान्तों के आधार पर सम्पादन करना होगा। ग्रामों में यज्ञों के माध्यम से प्रचार अधिक सुगम तथा सुलभ होता है उस दिशा में ट्रेक्टों का भी बहुत अधिक उपयोग होगा जिसे क्षेत्रीय भाषा में तैयार कराया जाना चाहिए। इसके साथ ही हमें ग्राम के पुरोहित वर्ग को भी अपने विश्वास में लाना होगा। उनके स्थान पर नये लोगों को पुरोहित का कार्य सौंपने की अपेक्षा उन्हें ही अपने ढंग पर तैयार करना अधिक श्रेयस्कर होगा जिससे उनके स्वार्थ को धक्का न लगने पाये और अपने उद्देश्य की पूर्ति भी हो जावे।

(४) विद्यार्थी वर्ग और आर्य समाज :—आर्यसमाज ने निस्सन्देह शिक्षा जगत में अविस्मरणीय कार्य किया है। किन्तु परिणाम बहुत सन्तोषजनक न हो पाया। आज स्थान-स्थान पर विशेषतया जनपदों में विद्यार्थी प्रवास की आवश्यकता प्रचार की दृष्टि से अत्यन्त उपयोगी है। जहां बाहर गाँव से आकर नगर में पढ़ने वाले विद्यार्थियों के प्रवास की यथा शक्ति निःशुल्क व्यवस्था हो और उनको समाज के पुरोहित की देखरेख में आर्योचित दिन-चर्या का अभ्यास कराया जावे। जिससे अपने संस्कार उन के अध्ययन काल में ही मिल जावें और आगे वे दृढ़ आर्य विचार वाले बनें। इसके साथ ही प्रत्येक विद्यालय में चारित्रिक उत्थान के लिए एक विशेष पारितोषिक की व्यवस्था की जावे जिसकी आचरण संहिता समाज का पुरोहित तैयार करें। वार्षिक उत्सवों के अवसर पर क्षेत्र के विद्यालयों में महर्षि दयानन्द, वैदिक धर्म और भारतीय संस्कृति पर लेखमाला की व्यवस्था करके अधिकारी विद्यार्थियों को पुरस्कृत किया जावे।

(५) महिला वर्ग आर्य समाज—महिलाओं के लिये शुभ अवसरों पर गाये जाने वाले गीत तैयार कराये जावें। पुत्रियों के सामूहिक यज्ञोपवति संस्कार का आयोजन हो एवं स्थान-स्थान पर वैदिक परिवार गोष्ठियाँ लगाई जावें।

संस्मरण—

■एक दिन स्वामी दयानन्द जी नर्मदा के तट पर बैठे प्राकृतिक शोभा निहार रहे थे। नदी में बच्चों व स्त्री-पुरुषों से भरी एक नाव आती दिखाई दी। नाव के पास आते ही बड़ी भयंकर आँधी-तूफान एवम् वर्षा आ गई, जिससे नाव में सवार सभी व्यक्तियों में भय ओर आतंक छा गया और सभी जोर-जोर से रोने, चींखने व चिल्लाने लगे। इस भगदड़ में नाव में पानी भर गया और वह नीचे को धँसने लगी। इस समय बच्चों व स्त्रियों का करुण चीत्कार दिल को दहला दे रहा था। ऋषि यह करुण दृश्य देखकर आगे बढ़े तथा "बलंसि बलं मयि देहि" का जाप करते हुए पचासों आदमियों से भरी नाव को अकेले ही तट पर खींच लाये।

■ऐसे ही एक दिन पेड़ के नीचे सो रहे थे कि सर के पीछे साँप की फुफकार सुनाई दी। ऋषि यह सोच ही रहे थे कि अपनी रक्षा कैसे करूँ, एक बाज उड़ता हुआ आया और झपट्टा मारकर साँप को ले उड़ा।

संवत्सर की प्रतिमा गायत्री
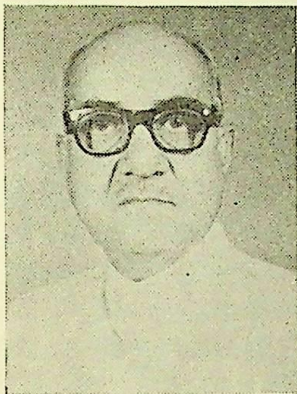
लेखक—श्री पं० वीरसेन वेदश्रमी, विज्ञानाचार्य,
वेदसदन, महारानी पथ,
इन्दौर ४५२००१ (म० प्र०)।

वेद माता गायत्री संवत्सर की प्रतिमा है। उसमें संवत्सर का प्रतिमान अर्थात् स्वरूप दर्शन होता है। अथर्व वेद में संवत्सर की प्रतिमा रात्रि को कहा है और उसकी उपासना का प्रायोजन आयुष्मती प्रजा, धनैश्वर्य एवं पुष्टि बताया है। मन्त्र निम्न प्रकार है—

संवत्सरस्य प्रतिमां यां त्वा रात्र्युपास्महे।
सा न आयुष्मतीं प्रजां रायस्पोषेण सं सृज॥
(अथर्व० ३।१०।३)

इस मन्त्र में जिस रात्रि की उपासना करने और उसके फल की कामना का संकेत है, वह गायत्री ही है। सुखों को देने वाली तथा दुःखों को दूर करने वाली भूर्भुवः स्वः रूपी त्रिविध ऐश्वर्य प्रदान करने वाली गायत्री ही है। यही त्रिविध ऐश्वर्य- आध्यात्मिक, आधिभौतिक एवं आधिदैविक रूप से भी त्रिविध है तथा इन्हीं त्रिविध प्रकार के दुःखों को हरने वाली भी गायत्री ही है। त्रिविध ऐश्वर्यों की दाता होने से रात्रि शब्द गायत्री के लिये है। रा-अर्थात् देने वाली, त्रि-अर्थात् त्रिविध ऐश्वर्य। गायत्री का सवितुः पद समस्त ऐश्वर्य के उत्पत्तिकर्त्ता एवं ऐश्वर्यप्रदाता की ओर अग्रसर होने की प्रेरणा देता है। अतः वेदमाता गायत्री ही उपास्य रात्रि वाचक है।

गायत्री मन्त्र के द्वारा उपास्य सविदा देव का भर्ग वरण किया जाता है, अतः गायत्री साधन रूप से होने पर भी प्रारम्भ में उपास्य कही गई है। इसी उपासनीय गायत्री मन्त्र को महामन्त्र, गुरुमन्त्र तथा वेदमाता आदि नाम से कहा गया है। इस मन्त्र के अतिरिक्त जो गायत्री छन्दोमय मन्त्र हैं वे तथा अन्य सभी मन्त्र इस उपास्य गायत्री मन्त्र में अंगभूत रूप में सम्बन्धित हैं। अतः गायत्री छन्दोबद्ध अन्य मन्त्रों को वह महत्व प्राप्त नहीं होता। इसलिये गुरुमन्त्र नाम से उपदिष्ट गायत्री मन्त्र का ही प्रधान रूप से महत्व है तथा उसी को वेदमाता भी माना गया।

उक्त गायत्री मन्त्र के महत्व को प्रकट करने वाला अथर्ववेद का उपरोक्त मन्त्र है। अतः कतिपय विद्वान्, तपस्वी, वेदमर्मज्ञ, सन्तों ने अथर्ववेद के उपरोक्त मन्त्र को ही गायत्रीमय होने से घोषित किया कि चारों वेदों में गुरूमन्त्र गायत्री है, जो कि अथर्ववेद में शब्द साम्य से नहीं अपितु परोक्ष स्वरूप साम्य होने से यही वह गायत्री है।

अथर्ववेद के उपरोक्त मन्त्र में गायत्री को संवत्सर की प्रतिमा कहा गया है। अर्थात् संवत्सर के स्वरूप का इस गायत्री मन्त्र में दर्शन होता है, जो निम्न प्रकार है :—

(१) अहोरात्र में ६० घटी होती हैं। भूर्भुवः स्वः में ४ अक्षर हैं और तत्सवितुः ० से धीमहि तक जहां प्रथम विराम है वहां तक १५ अक्षर हैं। दोनों संख्याओं को गुणा करने पर ४ × १५ = ६० संख्या प्राप्त होती है, जो अहोरात्र की ६० घटिकाओं की संख्या का प्रतिमान है।

(२) अहोरात्र की ६० घटिकाओं में प्रति घटी में २४ मिनट होते हैं। गायत्री छन्द २४ अक्षर का

माना जाता है। अतः प्रति घटिका के विभाग का प्रतिमान गायत्री में प्रकट होता है।

(३) एक अहोरात्र में २४ घन्टे होते हैं। गायत्री छन्द में २४ अक्षर माने जाने से अहोरात्र के घण्टों के रूप में गायत्री में प्रतिमान विद्यमान है।

(४) अहोरात्र के पश्चात् संवत्सर में सप्ताह का क्रम है। गायत्री के प्रथम चरण या पाद में तत्सवितु-वरेण्यं— सात ही अक्षर हैं। ये सात अक्षरों की संख्या सप्ताह के ७ दिनों का प्रतिमान है।

(५) सप्ताहं के पश्चात् पक्ष का क्रम है। पक्ष में १५ तिथियाँ होती हैं। तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो वेदस्य धीमहि— इस प्रथम पंक्ति में १५ ही अक्षर हैं, जो पक्ष की तिथियों का प्रतिमान प्रकट करते हैं।

(६) पक्ष २ होते हैं। पक्ष की तिथियों के प्रतिमान रूप जो गायत्री की प्रथम पंक्ति है वह गायत्री के २ चरणों से बनी है। अतः २ पक्ष की संख्या की बोधिका है।

(७) २ पक्षों की तिथियों से ३० दिन का मास होता है। गायत्री की प्रथम पंक्ति के १५ अक्षरों की संख्या का उसी में निहित २ चरण या पाद संख्या से गुणा करने पर १५ × २ से ३० संख्या का स्वरूप दोनों पक्ष से निर्मित एक मास की तिथियों का बोधक हैं।

(८) पक्ष के पश्चात् मास का क्रम है। १५-१५ दिनों के एक-एक पक्ष से २४ पक्ष वर्ण में होते हैं। २ पक्षों का युग्म रूप ही एकमास है। गायत्री के २४ अक्षरों के युग्मों से १२ मासों की संख्या का प्रतिमान गायत्री में विद्यमान है।

(९) दो-दो मासों के युग्मों से ६ ऋतुओं का संवत्सर में अस्तित्व है। अतः १२ युग्मों के भी २-२ युग्मों से ६-६ चतुरदक्षर समूह बन जाते हैं, जो कि ६ ऋतु संख्या के बोधक है।

(१०) ऋतुओं के पश्चात् संवत्सर के २ विभाग उत्तरायण एवं दक्षिणायन हैं। गायत्री त्रिपदा होने पर भी अवसान रूप से दो विभागों में विभक्त है। अतः सम्पूर्ण गायत्री का रूप में विभाजन दो आयनों का प्रकट करता है।

(११) संवत्सर में नक्षत्रों का बहुत महत्व है। नक्षत्रों के कारण ही १२ राशि बनती हैं। १२ राशियाँ ही १२ मास के रूप में है। प्रधान रूप से नक्षत्र २७ माने जाते हैं। गायत्री में तत्सवितु से प्रयोदयात् तक २३ अक्षर हैं। उसमें महाव्याहृति भूर्भुवः स्वः के चार अक्षरों का योग करने पर २३ + ४ = २७ नक्षत्र संख्या प्रकट हो जाती है। यही नक्षत्रों का प्रतिमान गायत्री में विद्यमान है।

(१२) सावन संवत्सर के वर्ष में ३६० अहौरात्र होते हैं। गायत्री बन्द छन्द की २४ अक्षर संख्या में गुरूमन्त्र गायत्री की प्रथम पंक्ति की अक्षर संख्या १५ का गुणा करने से २४ × १५ = ३६० अहौरात्र संख्या ज्ञात हो जाती है।

(१३) संवत्सर (वर्ण) में ५२ सप्ताह होते हैं। तत्सवितुर्वरेण्यं० इस सम्पूर्ण गायत्री में २३ अक्षर हैं। इस गायत्री के प्रारम्भ में ३ महाव्या-हृतियाँ हैं। दोनों संख्याओं का योग करने से २३ + ३ = २६ संख्या बनती हैं। गायत्री मन्त्र की प्रथम पंक्ति २ चरणों की होने से २६ को २ से गुणा करने पर २६ × २ = ५२ अंक वर्ष के सप्ताह का अंक प्राप्त हो जाता है।

(१४) सम्पूर्ण संवत्सर का गायत्री में प्रतिमान बीज रूप से विद्यमान है, अतः गायत्री द्वारा संवत्सर का आच्छादन हो रहा है। संवत्सर का निर्माण अहौरात्र, शुक्ल पक्ष, कृष्ण पक्ष, षड्ऋतु, द्वादश मासों से होता है। इस सबके यदि अक्षरों की गणना की जाये तो २४ संख्या निम्न प्रकार प्रकार प्रकट होती हैं :—

अहौरात्र —४ अक्षर शुक्ल पक्ष —४ अक्षर, कृष्ण पक्ष ४ अक्षर, षडुतु ३ अक्षर, द्वादशामास ५ अक्षर, संवत्सर ४ अक्षर, इस प्रकार सब मिलाकर २४ संख्या हो जाती है। अतः गायत्री संवत्सर का प्रतिमान है।

इस प्रकार गायत्री का समस्त संवत्सर या काल चक्र में आच्छादन या विलय होने के कारण यह गायत्री रात्रि रूपा है। यजुर्वेद अ. २३ मं. ५४ में रात्रि को पिशंगिला कहा है। अर्थात् राशि वह है जा सबके रूप को अपने में विलय करती, समाविष्ट करती एवं उन्हें प्रकट भी करती है। अतः गायत्री ही रात्रि है, जो कि संवत्सर की प्रतिमा अर्थात् प्रतिमान है। सर्वे ऐश्वर्यों की उत्पत्ति कृत होने से गायत्री की उपासना की प्रेरणा अथर्ववेद का उपरोक्त मन्त्र दे रहा है।

इसी प्रकार से वेदों का, सृष्टि का, अग्निहोत्र का तथा मानव देह का भी प्रतिमान गायत्री में विद्यमान है।

ओ३म्

वैदिक संस्कृति—एक विश्लेषण

लेखक—शिव कुमार शास्त्री—सी (२) मलकागंज दिल्ली।

वेद की संस्कृति के सम्बन्ध में यजुर्वेद ७।१४ में 'सा प्रथमा संस्कृतिर्विश्ववारा' कहा गया है। अर्थात् यह संस्कृति सबसे प्रथम की है। इससे पहले कोई और संस्कृति थी ही नहीं और इसकी विशेषता यह है कि यह 'विश्ववारा' समस्त संसार के द्वारा वरण करने योग्य है।

संसार में व्यक्ति और समाज के जीवन यापन का वेद का एक विशेष दृष्टिकोण है और उसकी उपादेयता अब भी उसी प्रकार अक्षुण्ण है। यजुर्वेद के चालीसवें अध्याय में समस्त प्राणियों के सुख दुखः को अपने सुख दुःख से तुलना करके उनके साथ व्यवहार करने का उपदेश है।

'यस्मिन्त्सर्वाणिभूतानि आत्मेवाभूद्विजानतः'

इसी की छाया गीता 'आत्मवत् सर्व भूतेषु' तथा 'पण्डिताः समदर्शिनः' में विद्यमान है।

झगड़े की वास्तविक जड़ विषमता है। जब हम अपने जीवन में दोहरे मानदण्ड अपनाते हैं, अपने लिये कुछ और तथा दूसरे के लिए कुछ और, बस वहीं विवाद और संघर्ष को जन्म दे देते हैं। यदि 'आत्मनः प्रतिकूलानि परेषान्न समाचरेत्।' (महाभारत) कि जिसे हम अपने लिये पसन्द नहीं करते उसे दूसरे के साथ भी कभी नहीं करना चाहिए का दृष्टिकोण रहे तो फिर संघर्ष का अवसर ही कहाँ है? इतना ही नहीं वेद में मानवता के उच्चतम धरातल पर, जिसे देवत्व ही कहा जा सकता है, व्यक्ति को रखकर उसे उपदेश दिया है कि तू अपनी इष्ट और प्रिय वस्तुओं का भी परित्याग, दूसरे प्राणियों को सुख सुविधा पहुँचाने के लिये कर। उस स्वार्थ त्याग में तुम्हें वह अलौकिक आनन्द प्राप्त होगा जो भोग में कभी प्राप्त नहीं हो सकता। यजुर्वेद में एक सम्पूर्ण अध्याय इस उपदेश से भरा हुआ है कि तुम्हारी सम्पूर्ण आयु और शरीर का प्रत्येक अंग 'यज्ञमय' व्यवहार करने वाला हो 'आयुर्यज्ञेन कल्पताम्' इसी बात का उपदेश गीता में इन शब्दों में दिया गया है कि, 'यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्विषैः। भुन्जते ते त्वघंपापा ये पचन्त्यात्मकारणात्।' अर्थात् उत्तम कोटि के व्यक्ति पहले दूसरों को खिला कर उनसे बचा हुआ फिर स्वयं खाते हैं और सब पापों से छूट जाते हैं। और जिनके घर में केवल अपने लिये ही भोजन बनता है दूसरों का ध्यान नहीं करते वे खाना नहीं खाते अपितु पाप खाते हैं।

चारों वेदों में एक प्रश्न है और प्रश्न के शब्द ये हैं—पृच्छामि यत्र भुवनस्य नाभिः। अर्थात् वह कौनसी नाभि-केन्द्र (सेन्टर) है जिस पर यह विश्व टिका हुआ है अथवा वह कौन सी धुरी है जिस पर यह संसार चक्र घूम रहा है? इन प्रश्न का चारों वेदों में एक ही उत्तर है। 'अयं यज्ञो विश्वस्य भुवनस्य नाभिः'। यह यज्ञ की भावना-त्यागपूर्वक भोग की भावना दूसरों को खिला कर खाने की भावना, बस यही नाभि, केन्द्र (सेन्टर) है जिस पर यह दुनिया ठहरी हुई है। जहाँ त्याग का स्थान भोग, परोपकार का स्थान स्वार्थ ले लेता है वहीं से विनाश प्रारम्भ हो जाता है। एक सम्मिलित परिवार में चार भाई अपनी-अपनी कमाई को दूसरे भाइयों की सुख सुविधा के लिए होमने को उद्यत हैं। वह परिवार सानन्द फूलता फलता चला जायेगा और इसके विपरीत जब उन भाइयों के मन में, मैं और मेरी पत्नी और बच्चे का भाव जागृत होगा तो व्यवहार में असमानता आ जायेगी। इस स्थिति में परिवार में गतिरोध होगा और एक दिन सब भाई पृथक्-पृथक् अपनी दुनिया बसा लेंगे। इसी परिवार की बात को हम समाज पर घटाकर देख सकते हैं। शतपथ ब्राह्मण में यह बात एक कहानी के रूप में बहुत रोचक ढंग से समझाई गई है। कहानी इस प्रकार है:

देवाश्च वा असुराश्चवा उभये प्राजापत्याः पस्पर्धिरे। ततो सुरा अतिमानेनेव कस्मिन्नु वयं जुहुयामेतिस्वेष्वेवास्येषु जुहृवतश्चेरुः। ते अतिमानेनेव पराबभूवुः। तस्मान्नातिमन्येत। पराभवस्य हैतन्मुखं यदतिमानः। अथ देवा अन्योऽन्यस्मिन्नेव जुहृवतश्चेरुः। तेभ्यः प्रजापतिरात्मानं ददौ। यज्ञो हैषाभास, यज्ञो हि देवानामन्नम् शतपथ ११।१।८।१-२

देव और राक्षस दोनों ही प्रजापति की सन्तान थे। किन्तु राक्षसों को सदा यह शिकायत रहती थी कि प्रजापति देवों की रियायत करते हैं और हमारी उपेक्षा करते हैं। प्रजापति का कहना था कि हमारे लिये तो तुम सब समान हो। देवों में कुछ व्यावहारिक गुण ऐसे हैं कि वे उनसे लाभ उठा लेते हैं और तुम अपने दुर्गुणों के कारण दुःखी रहते हो। प्रजापति ने अपनी बात को समझाने के लिये एक प्रयोग किया। दोनों के लिये एक भोज का प्रबन्ध किया और राक्षसों को पहले भोजन करने का अवसर दिया। किन्तु एक विशेष बात यह कर दी कि सब राक्षसों के हाथ कोहनी पर से मुड़ने बन्द हो गये। सीधे-सीधे ऊपर उठ सकते थे। सामने को जा सकते थे। किन्तु मुड़कर ग्रास तोड़ कर मुख की तरफ नहीं आ सकते थे। भोजन का समय निश्चित था। स्वादिष्ट और सुन्दर भोज्य पदार्थ सामने सजे थे। पर हाथ का ग्रास तोड़कर मुंह की ओर आता ही न था। प्रत्येक ने बहुत प्रयत्न किया। किन्तु सब व्यर्थ, समय समाप्त हो गया और राक्षसों को भोजनशाला से हटा दिया गया।

इसके बाद देवों को अवसर दिया गया और राक्षसों के समान इनके हाथों की भी वही दशा कर दी। देवों ने जब यह देखा कि हाथ ग्रास लेकर अपने मुख की ओर तो नहीं मुड़ता किन्तु सामने वाले व्यक्ति के मुख की ओर तो बिना कठिनाई के जा सकता है। बस एक दूसरे ने एक दूसरे को खिलाना प्रारम्भ कर दिया। परिणाम यह हुआ कि समय से पहले सब खाकर निवृत हो गये और इस उत्तम भोज के लिए प्रजापति का धन्यवाद किया। प्रजापति ने राक्षसों को कहा कि बस यह अन्तर है तुममें और देवों में। ये इस त्यागवृत्ति के कारण फूलते फलते हैं और सुखी रहते हैं। तुम लोग स्वार्थों के कारण एक दूसरे की टांग खींचते हो और दुःखी रहते हो।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि वैदिक संस्कृति यज्ञमय जीवन अर्थात् त्यागपूर्वक भोग (तेन त्यक्तेन मुंजीथाः) (यजुर्वेद) का संदेश संसार को देती है। यह बहुत महत्व की बात है और यही एक मात्र मार्ग है जो संसार को अशान्ति और विनाश से बचा सकता है।

पाश्चात्य संस्कृति में भोग की प्रधानता मुख्य रूप से, वर्तमान विक्षोभ और खींचातानी के लिये उत्तरदायी है।

संक्षेप से वैदिक संस्कृति और पाश्चात्य संस्कृति की तुलना निम्न प्रकार से की जा सकती है। पाश्चात्य संस्कृति का ध्येय भोग है। वैदिक संस्कृति का ध्येय त्याग है। भोग का अनिवार्य परिणाम द्वेष होता है। द्वेष का दुःख और दुःख का अशान्ति। उधर त्याग का अनिवार्य परिणाम होता है प्रेम, प्रेम का सुख और सुख का शान्ति। भोगी मनुष्य भोगासक्त होता है, आसक्ति की विरोधी वस्तुओं से द्वेष होगा। जहाँ द्वेश है वहाँ दु.ख अवश्यंभावी है और जहाँ दुःख है वहाँ अशांति रहती ही है। इसी प्रकार दूसरी ओर जहाँ त्याग होता है वहाँ प्रेम अवश्य होता है। प्रेम की अधिष्ठान भूमि है त्याग और प्रेम की विनाशक भूमि है स्वार्थ। यह तथ्य है जहाँ प्रेम है वहीं सुख है। जहाँ लक्ष्य त्याग होता है— वहाँ जीवन में कर्त्तव्य पालन की प्रधानता होती है और जहाँ ध्येय भोग होता है वहाँ भोग प्राप्ति के अधिकार की।

इस समय संसार में संघर्ष को जन्म देने वाली ये भोगवृत्ति ही है। इस अशान्ति को दूर करने का एक मात्र उपाय वैदिक संस्कृति है। यही मार्ग महात्मा गान्धी जी का था। स्वतन्त्रता के बाद भारत को अपना पुन-निर्माण अपनी संस्कृति के आधार पर करना चाहिये था। किन्तु अंग्रेजी की कुशिक्षा के परिणाम स्वरूप पथभ्रष्ट होकर वह भी उसी दलदल में जा फंसा। यहाँ भी रात दिन अधिकार प्राप्ति का संघर्ष है। भोगों के अभाव का रोना है। सबसे अधिक वेतन पाने वाले जीवन बीमा निगम और बेंकों के कर्मचारी भी स्ट्राइक कर रहे हैं? कोई यह नहीं सोचता कि दूसरों को तो वह भी उपलब्ध नहीं हैं जो हमें मिलता है? पहले अधिकार हमारी अपेक्षा अभाव ग्रसितों का है—जिनके लिये रोटी और कपड़े तक की समस्या है।

कितने साधन ही बढ़ जावें, जब तक दृष्टिकोण नहीं बदलेगा—अशान्ति बनी रहेगी। सब भोग भोगने पर भी जब ययाति की तृप्ति नहीं हुई तो महाभारत में व्यास महर्षि ने ययाति के मुख से बड़े पते की बात कहलवाई है।

यत् पृथिव्यां व्रीहियवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः।
नालमेकेन तत् सर्वमिति मत्वा शमं व्रजेत्॥

अर्थात् पृथ्वी पर चावल, जौ, सोना, पशु और स्त्रियाँ जितनी भी छोटी से लेकर बड़ी तक उपभोग की वस्तुयें हैं वे सब यदि मनुष्य असंयत हो जाय तो एक के लिए भी पर्याप्त नहीं हो सकतीं। अतः विषय वासना पर विजय प्राप्त करके ही मनुष्य शान्ति प्राप्त कर सकता है।

वेद के आधार पर जीवन के इस रहस्य को भारत के ऋषि और महर्षियों ने जाना था और यही एक मात्र शान्ति का मार्ग है दूसरा नहीं।

योरुप के एक शान्ति सम्मेलन के अध्यक्ष पद से भाषण देते हुए एक महिला मिस जटस्कू ने भारत की संस्कृति के रहस्य को समझकर अपने श्रोताओं का पथ प्रदर्शन करते हुए कहा था—

"O ye assembled scholars of the earth, if you desire to keep the atmosphere of the world quite and calm go to the saints in caves and forests of India; sit at their feet and learn divine wisdom from their holy lips and then propagate it in Europe and America.

अर्थात् ओ भूमण्डल के एकत्रित विद्वानों यदि तुम संसार के वायु मण्डल को शान्त तथा सुखदायक बनाना चाहते हो तो भारत के सन्तों के पास गुफा और जंगलों में जाओ। उनके चरणों में बैठकर उनसे वेद ज्ञान को सीखो और उपदेश का योरुप और अमरीका में प्रचार करके शान्ति का राज्य स्थापित करो।

भारत के पुनर्निर्माण के लिए मि० हैवल ने भारतीयों को परामर्श देते हुए लिखा है—

"None but the ignorant will recommend you the path of western commercialism, as leading to true national prosperity. No where in India. not utter depravity, such a hopeless physical moral and spritual degradation, as that which exists in the commercial cities of Europe directly brought out by modern industrial methods."

अर्थात् सिवाय उस पुरुष के जो अज्ञानी हो तुम्हें कोई भी राष्ट्रीय उन्नति के लिए पाश्चात्य व्यवसायवाद का अनुसरण करने के लिये न कहेगा। भारत में भयंकर से भयंकर अकाल के समय में भी किसी भी प्रान्त में, इतनी दुराचार की सीमा, इतनी निराशाजनक उपायरहित शारीरिक, नैतिक और आत्मिक अधोगति नहीं हुई। जितनी कि इन योरप के व्यावसायिक नगरों में इन औद्योगिक माध्यमों के द्वारा हुई है।

अतः भारत को सुखी तथा समृद्ध बनाने के लिये हमें अपनी इस अमूल्य निधि को जानकर उस पर आचरण करना चाहिए। तभी हम स्वाधीनता का आनन्द प्राप्त कर सकते हैं।

संस्मरण—निर्भीक दयानन्द

काशी शास्त्रार्थ के दिन बल्देव प्रसाद ने कहा कि महाराज आज बहुत भीड़-भाड़ होगी। काशी गुण्डों का नगर है, यदि फरुखाबाद होता तो १० या २० मनुष्य आपकी ओर होते। स्वामी जी यह सुनकर हँस पड़े और बोले कि योगियों का निश्चित सिद्धान्त है कि सत्य का सूर्य अन्धकार की सेना पर अकेला ही विजय पाता है। जो पक्षपात रहित होकर सत्य का उपदेश करता है उसे भय कहाँ? सतपुरुष डरकर सत्य को नहीं छिपाते। जान जाये तो जाये परन्तु ईश्वर की आज्ञा से जो सत्य है, वह न जाये। ऐ बल्देव! क्या चिन्ता है, एक मैं हूँ, एक ईश्वर है, एक धर्म है, और कौन है?

स्वामी दयानन्द जी की शिक्षा और कार्य

लेखक—बिहारी लाल जी शास्त्री,

सन् 1857 का स्वतन्त्रता संग्राम विफल हो गया था। सन् 1858 में तो अंग्रेजों का शासन पूरे दबदबे के साथ स्थापित हो गया था। सब भारतीय निराश आत्महीन किंकर्त्तव्य विमूढ़, से हो गये थे। साम्राज्ञी विक्टोरिया की विज्ञप्ति प्रजा में बाँटी गयी "अब ईस्ट इण्डिया कम्पनी के हाथ से शासन हमने ले लिया है। अब प्रजा के साथ पक्षपातरहित, न्याययुक्त, माता पिता के समान दया पूर्ण शासन होगा"

इसे पढ़कर, सुनकर प्रजा फूली न समायी मुसलमान नेताओं ने सर सैय्यद अहमद के नेतृत्व में पहले ही अंग्रेज शासकों के सामने घुटने टेक दिये थे अब हिन्दू भी साम्राज्ञी की शक्ति में सिर झुकाने लगे। कवियों ने विक्टोरिया की त्रिजटा का अवसर लिखना प्रारम्भ कर दिया। सब ओर अंग्रेजी शासन का जय जयकार था। यह देखकर अंग्रेजों ने विचारा कि भारत पर शारीरिक विजय तो प्राप्त कर ही ली। अब सांस्कृतिक मानसिक विजय भी प्राप्त करनी चाहिये बस फिर क्या था, देश भर में स्कूल कालेज खुले और पादरी घूमने लगे। हिन्दुओं की धार्मिक भावना नष्ट होने लगी। अपनी संस्कृति, सभ्यता, धर्म और इतिहास को हिन्दू नवयुवक हीन समझने लगे हिन्दू आत्महीनता के रोग से पूरी तरह ग्रस्त हो गया। मुसलमानों पर प्रभाव बहुत कम इसलिए पड़ा कि वे अपने मत में बहुत कट्टर होते हैं परन्तु फिर भी पादरी अमानुद्दीन पादरी अब्दुल हक आदि उनमें भी बने। पादरी अमानुद्दीन ने तो तारीखें मुहम्मदी और उमहातुल मोमनीन यह दो किताबें लिख कर इस्लाम की जड़ें ढीली कर दीं।

ऐसी आँधी का समय था जब ऋषिदयानन्द धर्म प्रचार के क्षेत्र में उतरे।

बहलोल लोदी का समय था जबकि एक ब्राह्मण को बादशाह ने जिन्दा ही जलवा कर मरवा डाला कि वह हिन्दू और मुसलमान दोनों मतों को समान बताता था। भला कुफर और इस्लाम बराबर। यह भारी गुनाह है।

ईस्ट इण्डिया का शासन बंगाल में स्थापित हो जाने पर श्री राजा राम मोहन राय ने ईसाई, मुसलमान और सब धर्मों को बरावर कहने का साहस किया। फिर महात्मा गाँधी ने भी राजा साहब की ही बात दोहराई पर हिन्दू तो मानते चले गये मगर ईसाई और मुसलमानों ने न राजा साहब की बात मानी और न महात्मा जी की। वह लोग हिन्दू धर्म को निकृष्ट और कुफ्र और असत्य ही कहते रहे। महात्मा गाँधी के दाहिने हाथ अली बन्धुओं ने भी हिन्दू धर्म को कुफ्र ही कहा। बस केवल दयानन्द ही इस बात में ऐसे हुए कि जिन्होंने घोषणा करी कि वैदिक धर्म ही सर्वोच्च धर्म है। सनातन है तर्क पूर्ण और बुद्धि संगत है। भारतीय आर्य संस्कृति ही सर्वोत्तम है "साप्रथमा संस्कृतिर्विश्ववारा"—यजुः, अन्य संस्कृतियाँ इसकी विकृतियाँ हैं अन्य धर्म धर्म नहीं केवल मत हैं। वेद और एव परीधर्मा: धर्म केवल वेदोपदेश है। यह केवल कहा ही नहीं सत्यार्थ प्रकाश द्वारा सप्रमाण सिद्ध करके दिखा दिया। इसका परिणाम हुआ कि शताब्दियों से नीचे

झुकी हुई हिन्दू की गर्दन ऊपर उठी। आर्य जाति का स्वधर्माभिमान जीवित हुआ। आर्य जाति की आत्महीनता की भावना आत्म गौरव में बदल गई। जो विदेशी मत आर्य जाति को समूल मिटाने का स्वप्न देख रहे थे उनके चेहरे उतर गये। ऋषि के शास्त्रार्थों से विधर्मी दहल गये। आर्य धर्म में भी जो अन्ध विश्वास गुरडम और कुरीतियाँ प्रविष्ट हो गयी थीं स्वामी ने उनका घोर खण्डन किया। अब आर्य धर्म स्वच्छ और निर्मल बन गया स्वार्थ रहित निष्पक्ष विद्वान आर्य समाज में बड़ी रूचि से आने लगे हिन्दुओं में भावनात्मक एकता (Emotional Integration) के लिए स्वामी जी ने दार्शनिक एकता पर बल दिया। विधर्मीजन हिन्दुओं पर यह लांछन लगाते थे कि हिन्दू बहु देव पूजक हैं। और हिन्दू साम्प्रदाय स्वयं भी ऐसी भावनाओं का प्रचार करके आपस में भेद भाव बढ़ाते थे। देव और वैंश्णवों का विरोध मिटाने के लिए श्री गोस्वामी तुलसी दास ने भी बड़ा उद्योग किया। शिव राम के भक्त हैं और राम शिव के पूजक हैं। यह उन्होंने बार-बार लिखा। परन्तु दो अस्तित्व प्रथक-प्रथक हैं इस धारणा को वह न हटा सके। परन्तु स्वामी जी ने आर्य ग्रन्थों को पढ़ा था वेद का सर्वांग पूर्ण अध्ययन उन्होंने किया था। अतः उन्होंने प्रतिपादन किया कि वेदों उपनिषद में केवल एक ही ईश्वर की उपासना का विधान है। इन्द्रादि नाम भी केवल ईश्वर के ही हैं। पृथक-पृथक देवों का अस्तित्व कहीं नहीं है और आर्य प्रभाव अपने पक्ष की सिद्धि में प्रस्तुत किये। देखो कितना स्पष्ट प्रभाव है।

"सब्रह्मा स विष्णु: स रूद्रस्स शिवस्सोऽक्षतस स परमः स्वराट स इन्द्र स काललिः स चन्द्रमाः" (कैवल्य उपनिषद) समु० आगे वेद मन्त्रों के भी प्रमाण दिये हैं।

दूसरा विरोध था हिन्दुओं में दर्शन शास्त्रों पर वेदान्ती अपनी बघारता था नैंयायिक के नगाड़े अलग बज रहे थे। वैंशेषिक की वीणा निराली थी। मीमांसा का मेल किसी से भी नहीं था योग की युक्तियाँ निराली थीं ? एक दूसरे के खण्डन में कमर कस कर लगे हुए थे तो ईसाई मुसलमान मतों के द्वारा किए हुए आक्षेपों के उत्तर कौन देता।

ऋषि दयानन्द ने कहा कि

"सृष्टि के छः कारण हैं। इनमें से एक-एक की व्याख्या एक-एक शास्त्रकार ने की है। इसलिए उनमें कुछ भी विरोध नहीं (स० प्र० उस० म०) तीसरा रोग है हिन्दुओं में बिरादरी की छुटाई-बढ़ाई का। इस नीच-ऊँच की भावना के कारण हिन्दू राष्ट्र को अपार हानि पहुँची है। ऋषि दयानन्द ने सप्रमाण सिद्ध किया कि ऊँच-नीच, वर्ण, आश्रम गुण कर्मानुसार है। बाल विवाहों का विरोध कर जाति का बहुत ही हित वर्धन किया। वैदिक धर्म केवल भारत का नहीं, हिन्दूओं का नहीं किन्तु सार्वभौम धर्म है। इस घोषणा का प्रभाव यह हुआ कि विदेशी मतों को मानकर अपनी राष्ट्रीयता भी जो लोग बदल चुके थे वे लोग आर्य जाति में सम्मिलित होकर पुनः भारतीय राष्ट्रवाद के भक्त बन गये। आर्य समाज ने कई सहस्र आगाखानियों, ईसाइयों और अन्य सुन्नी आदि को अपने में मिलाया और कई लाख व्यक्तियों को आगाखाँ के जाल में जाने से रोक दिया। लाखों को ईसाई बनने से रोका और राष्ट्रहित की दृष्टि से यह काम देश के लिये अति उत्तम हुआ। स्वामी जी ने सब ही मतों की आलोचना पक्ष रहित होकर करी क्योंकि उनका लक्ष्य सार्वभौम मानव हित था देखो "और जो मत मतान्तर के परस्पर विरुद्ध झगड़े हैं उनको मैं पसन्द नहीं करता। क्योंकि इन्हीं मतवालों ने अपने मतों का प्रचार कर मनुष्यों को फँसा कर परस्पर शत्रु बना दिया है। इस बात को काट सर्वसत्रा का प्रचार कर सबकी ऐक्ययत करा, द्वेष छुड़ा परस्पर में प्रीति युक्त कराके सबसे सबको सुख लाभ पहुँचाने के लिये मेरा प्रयत्न और अभिप्राय है ?"

(सत्यार्थ प्र० स्वयं)

श्री स्वामी जी का उपर्युक्त लेख अक्षरशः सत्य है इन मतवालों ने अपने से अन्य धर्म वालों पर तो अत्याचार किये ही परन्तु आपस में भी हत्याकाण्ड किये रोमन केथोलिकों ने खुलकर लाखों प्रोटेस्टों की हत्या करी और प्रोटेस्टों ने लाखों कैथोलिकों को मौत के घाट उतारा। तनक-तनक से मतभेद पर पोपों ने निर्दयता पूर्वक सहस्त्रों की हत्या करा डाली ईसाइयों का इतिहास पढ़ा तो आश्चर्य होता है यही दशा मुसलमानों की भी रही। शिया-सुन्नियों के संघर्ष में लाखों मुसलमान मारे गये। तैमूर ने लाखों हिन्दुओं की तो हत्या करी ही साथ ही सुन्नी मुसलमानों पर भी डटकर अत्याचार किये पाकिस्तान में भी शियों की अहमदियों की हत्यायें हुई और अहमदियों की तो

पाकिस्तान में अब घोर दुर्दशा हो रही है। लखनऊ में भी शिया सुन्नियों का संघर्ष मार काट चलती ही रहती है। इन हत्याओं से केवल आर्य जाति के सब संप्रदाय मुक्त हैं। कारण कि आर्य जाति बुद्धिवाद को प्रधानता देती है। बौद्धिक खण्डन मण्डन, शास्त्रार्थ होते रहे। खण्डन-मण्डन के अनेक ग्रंथ लिखे गये केवल तर्क से काम लिया जाता रहा। तलवार से नहीं। आर्य जति से सब ही सम्प्रदायों में बुद्धिवाद और आचार को महत्व दिया गया है केवल विश्वासों पर नहीं।

ऋषि दयानन्द जिस धर्म को सबको अपनाने के लिये प्रस्तुत करते हैं यह भी आचारात्मक ही है। ऋषि लिखते हैं :—

"सुनो सब लोगों, भाषण में धर्म है या मिथ्या में सब एक स्वर होकर बोले—सत्य भाषण में धर्म और असत्य भाषण में अधर्म है। वैसे ही विद्या पढ़ने, ब्रह्मचर्य रखने, पूर्ण युवास्था में विवाह, सत्संग, पुरषार्थ, सत्य व्यवहार आदि में धर्म और अविद्या ग्रहण, ब्रह्मचर्य न रखने, व्यभिचार करने, कुसंग, आलस्य असत्य व्यवहार, छल, कपट, हिंसा पर हानि आदि कर्मों में अधर्म है ?" (सत्या।। समु०)

यहाँ व्यावहारिक धर्म को स्वामी भी सार्वजनिक बता रहे हैं ? वस्तुतः मतवालों और वैदिक धर्म में यह बड़ा अन्तर है मतवादी लोग सदाचार और नैतिकता (Character and Mobility) को प्रमुख स्थान नहीं देते। एक दुराचारी भी मसीह पर ईमान लाने से तर सकता है हजरत मुहम्मद पर विश्वास रखने वाला दुराचारी भी सदाचारी अन्य धर्म वाले से अच्छा है। ऐसी मान्यताओं ने व्यवहारात्मक धर्म का विध्वंस कर डाला परन्तु वैदिक धर्म में "आचारः परमोधर्मः" सदाचार धर्म की आधार शिला माना गया है। यह तो हुआ स्वामी जी का धार्मिक सामाजिक विचारों का दिग्दर्शन अब उनके राजनैतिक विचारों की भी झलकें देखिये :—

(१) सृष्टि से लेकर पाँच सहस्र वर्षों से पूर्व समय पर्यन्त आर्यों का सार्वभौम चक्रवर्ती अर्थात् भूगोल में सार्वोपरि एक मात्र राज्य था।

(२) (मैत्री उप० चक्रवर्ती राजाओं के नाम) इत्यादि प्रमाणों से सिद्ध है कि सृष्टि से लेकर महाभारत पर्यन्त चक्रवर्ती सार्वभौम राजा आर्य कुल में ही हुये थे। (११ समु० स० प्र०)

(३) अब अभाग्योदय और आर्यों के आलस्य, प्रमाद, परस्पर के विरोध से अन्य देशों के राज्य करने की कथा ही क्या किन्तु आर्यावर्त में भी आर्यों का अखण्ड स्वतन्त्र, स्वाधीन निर्भय राज्य नहीं है, जो कुछ है सो भी विदेशियों के पदाक्रान्त हो रहा है।

(४) कोई कितना ही करे परन्तु जो स्वदेशीय राज्य होता होता है वह सर्वोपरि उत्तम है ? अथवा मतमतान्तर के आग्रह रहित अपने और पराये का पक्षपात शून्य, प्रजा पर पिता माता के समान कृपा, न्याय और दया के साथ भी विदेशियों का राज्य पूर्ण सुखदायक नहीं है। (८ वां समु स० प्र०)

ये पंक्तियाँ देश की पराधीनता पर स्वामी जी की आहें हैं। देश दशा देखकर दयानन्द का हृदय क्रन्दन कर रहा है।

तीसरे अनुच्छेद में साम्राज्ञी विक्टोरिया की उस विज्ञप्ति का उत्तर है जो सन् ५८ में निकली थी कि प्रजा के साथ पक्षपात रहित न्याय किया जायगा। इस विज्ञप्ति पर सब ही भारतीय जन सन्तुष्ट थे परन्तु दयानन्द का हृदय सन्तुष्ट नहीं था। उत्तम से उत्तम भी विदेशी प्रशासन शासित देशवासियों में आत्महीनता पैदा कर देता है और फिर अत्याचार भी होने लगते हैं। जाति में जड़ता आ जाती है। अतः अत्याचारों के विरोध की शक्ति नहीं रहती। स्वामी दयानन्द की इस विचार धारा का प्रभाव यह हुआ कि स्वामी जी के प्रमुख शिष्य श्री श्याम जी कृष्ण वर्मा ने इंग्लैण्ड और फिर फ्रांस में रहकर श्री मदन लाल ढींगरा जैसे अनेक क्रान्तिकारी उत्पन्न कर दिये पूज्य वीरसावरकर जी, श्री श्याम जी कृष्ण वर्मा की ही मण्डली के थे। इधर पूज्य लाला लाजपतराय, सरदार अजीत सिंह आदि अनेक गर्म दल के नेता पूज्य स्वामी श्रद्धानन्द जी जैसे सर्वस्व त्यागी देश भक्त आर्य समाज ने ही देश को दिये तथा वीर बलिदानियों में सरदार भक्त सिंह, पं० राम प्रसाद बिस्मिल, ठाकुर रोशन सिंह आदि

अनेक वीर आर्य समाज से ही प्रकट हुए। केवल मात्र देश में एक ही मुसलमान हुआ है जिसने देश की स्वतन्त्रता के लिए फाँसी के रस्से को गले लगाया। वीर अशफाकुल्ला खाँ शाहजहाँपुरी यह देश भक्त वीर पं० राम प्रसाद बिस्मिल के शिष्य थे। पंडित जी ने ही खान साहब के विचार बदले थे ? विचार बदलने का डाक्टर केवल आर्य समाज है इसी प्रकार महात्मा गाँधी के मुहम्मद अली बदल गये। कट्टर लीगी बनाये। परन्तु आर्य समाज ने जिस मुहम्मद अली के विचार बदल कर शान्ति स्वरूप बनाया वह ६२ वर्ष की आयु तक वैदिक धर्मी रहे और दृढ़ कांग्रेसी। जब बाजार जाते तो काँग्रेस का झण्डा हाथ में लिये होते थे। एम० एल० ए० भी रहे थे।

महात्मा गाँधी का पुत्र हीरा लाल जब अब्दुल्ला बना तो महात्मा जी तो संतोष कर चुप रह गये किन्तु माता कस्तूरबा का रोना और शोक जारी रहा। उस समय माता कस्तूरबा को धैर्य बँधाया केवल पं० विजय शंकर प्रधान आर्य समाज बम्बई ने। एक मास के भीतर ही अब्दुल्ला को पुनः हीरा लाल बना दिया। यदि हीरा लाल अब्दुल्ला ही बना रहता तो इस समय भारत में उसकी समाधि बनी हुई होती और मुसलमानों के साथ-साथ हिन्दू भी उस कबर को पूजते और यह अविद्याक्रम चालू रहता। कनाडा, मारिशस और अफ्रीका में यहाँ से गये हुए हिन्दू ईसाई बन रहे थे परन्तु किसी भी नेता को चिन्ता न थी। तब आर्य समाज के सन्यासी पूज्य स्वामी शंकरानन्द जी ने जाकर वहाँ शुद्धियाँ करीं और आगे ईसाई बनने से रोका तथा हिन्दुओं के अनेक कष्ट सरकार से दूर करवाये।

स्वामी जी के स्थापित किये आर्य समाज के देश हित, समाज हित और धर्म सशोधन के बड़े-बड़े काम किये हैं पर उनका डंका नहीं पीटा। आज भी स्वामी दयानन्द के विचारों के प्रसार की बड़ी आवश्यकता है ताकि भ्रष्टाचार दूर हो, साम्प्रदायिक विद्वेष नष्ट हो, मानव हित की सद्भावना फैले। अंधविश्वास दूर हो और इन पदलोलुप नेताओं ने जनहित के बहाने से जो उपद्रव मचा रक्खे हैं वे नष्ट हों।

एक और भी उत्तम विचार स्वामी जी ने दिया है— आर्यों से पूर्व यहाँ भारत में कोई भी मनुष्य नहीं बसता था। इस देश का नाम आर्यावर्त्त आर्यों ने ही रक्खा। मानव सृष्टि उत्पत्ति तिब्बत में हुई और वहाँ से आकर मैदान में जो लोग बसे वह आर्य कहलाते थे।

आर्य कोई जाति नहीं थी किन्तु इसी मानव जाति के दो विभाग थे—आर्य धार्मिक व्रती सदाचारी, दस्यु अव्रती (सदाचारहीन)

"आर्य लोग बाहर से आये और यहाँ के निवासियों को मार कर दक्षिण की ओर खदेड़ दिया आदि"।

इस मिथ्या प्रचार ने जो अंग्रेजों ने अपने हित के लिये किया था आज देश में हिन्दुओं में फूट फैला दी है द्रमुक (द्रविड संघ) और हिन्दू ऐतरेम ब्राह्मण की कथा है कि विश्वामित्र के जो शिष्य पढ़ना लिखना छोड़कर भाग गये वे द्रविड़ आदि हैं द्रविड़ दौड़ा हुआ अर्थात् जो गुरूकुल छोड़कर दौड़ गया, चला गया। वास्तव में यह भेद नस्ल, जाति या रेस का नहीं है अतः पूरे भारत की जाति एक है—आर्य, आर्य समाज को अगली शताब्दि में भी श्रम के साथ बहुत काम करना है ताकि हमारा स्वराज्य सुराज बने और अन्यदेशों से भी सांस्कृतिक भाई चारा बढ़े।

संस्मरण—अहिंसा-सिद्ध-योगीराज

एक दिन कानपुर में महर्षि दयानन्द गंगा के जल में लेटे हुए थे। आधा शरीर जल में और आधा शरीर जल से बाहर था कि इतने में थोड़ी दूर पर ही एक मगर निकला। पं० हृदयनारायण वकील के लघु भ्राता उसे देखकर भागे और चिल्लाये कि स्वामी जी मगर निकला है। परन्तु उनके मुंह पर भय की किंचित मात्र रेखा भी न दिखाई दी, वे जैसे पड़े थे वैसे ही पड़े रहे और बोले कि जब हम उसका कुछ नहीं बिगाड़ते तो वह भी हमें दुःख न देगा।

महर्षि दयानन्द और आर्य समाज

लेखक—विश्वबन्धुः शास्त्री, प्रधान आर्य प्रतिनिधि सभा, उत्तर प्रदेश।

महर्षि दयानन्द सरस्वती शान्ति और क्रान्ति के महान् प्रेरक एवं महान् युग-दृष्टा महर्षि थे। उनका जीवन संसार के उपकार के लिये ही था। वे मानवों में सर्वोच्च एवं चरमोत्कर्ष पर थे। उनके हृदय में प्राणी मात्र के लिये उदार एवं दयापूर्ण भाव थे। वे सत्यनिष्ठ, तपोनिष्ठ, ब्रह्मनिष्ठ महर्षि थे। वे ब्रह्मर्षि, देवर्षि, राजर्षि एवं महर्षि थे। वे ब्रह्मचारियों एवं ब्रह्मचर्य के पक्षपाती तथा योगियों के हिमायती एवं ऋषियों के साथी थे।

वे वक्ता, लेखक, शङ्का समाधाता शास्त्रार्थ कला निपुण एवं व्यवहार कुशल थे। वे निर्भीक मना, उदार-चेता, मनीषी, युग निर्माता महापुरूष थे।

वेदार्थं द्रष्टा, सत्यार्थ प्रणेता, निरन्तर अज्ञान से जूझने वाले, अन्याय के प्रबल विरोधी एवं क्षमा का मूर्त्त रूप थे।

वे सारे संसार को असत्य से सत्य की ओर ले जाने वाले, अन्धकार से प्रकाश की ओर ले चलने वाले और मृत्यु से अमृत की ओर ले चलने वाले महामानव थे।

विषपान करने वालों में अग्रगण्य, अमृत पिलाने वालों में महामान्य, संकटों के झेलने में अनन्य, निन्दा-स्तुति से परे, रागद्वेष से दूर, प्रेम प्रीति से भरपूर, पाखण्ड खण्डन में शूर महा मनीषी महर्षि थे।

त्रेता में मर्यादा पुरूषोत्तम राम के साथ ऋषिगण और ब्रह्मचारी हनुमान थे। परन्तु द्वापर में योगिराज कृष्ण के साथ ब्रह्मचारी भीष्म न थे और ऋषि व्यास वे थे जो स्वयं हाथ उठाकर अपने विषय में घोषणा करते थे कि अब मेरी कोई नहीं सुनता।

अर्ध्वबाहुर्वि रोम्येष न च कश्चिच्छणोति माम्।
धर्मादर्थश्च कामश्च स धर्मः किं न सेव्यते।

संसार अर्थ और काम की प्राप्ति में धर्म को स्थान नहीं दे रहा जबकि धर्म से ही अर्थ और काम की प्राप्ति करनी चाहिये। महर्षि ने देखा इस कलिकाल में द्वापर वाली भावना भी नष्ट हो गई है। अतः मुझे ही पूर्ण ब्रह्मचारी, पूर्ण योगी एवं मन्त्र द्रष्टा, क्रान्तदर्शी ऋषि बनना चाहिये। इसलिये तीनों का समन्वित रूप महर्षि दयानन्द थे। आर्य भाषा (हिन्दी) के प्रबल समर्थक, गुजराती होते हुए भी समस्त ग्रन्थ संस्कृत और विशुद्ध आर्य भाषा में लिखने वाले मन-वचन और कर्म में समान, महर्षि ने आर्य समाज की स्थापना लोक कल्याण के लिये की।

समस्त अवतार ऋषियों की आश्रम परम्परायें बने। अवतार का लक्ष्य एक ही होता है।

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्म संस्थापनार्थाय।

अर्थात् वे सज्जनों की रक्षा और दुष्टों को विनाश कर धर्म की स्थापना किया करते हैं। महर्षि ने भी प्रयत्न किया कि राम और कृष्ण का कोई वंशज क्षत्रियों में अवतार बनने की क्षमता रखता हो तो अवतार बना दिया जावे। परन्तु सारा राजस्थान छान मारा, पर कोई अवतार बनने के योग्य नहीं हुआ। अधिकतर सुरा-सुन्दरी के चक्र में ही क्षत्रियों को पाया तब उन्होंने बम्बई नगर में समुद्र के तट पर आर्य समाज की स्थापना की कि सब समुदाय ही अवतार बनकर वह कार्य करें कि सज्जनों की रक्षा और दुष्टों का विनाश।

यदि आर्य समाज उस कार्य में पूरा नहीं उतरता तो समुद्र में डूब मरना चाहिये।

यह संकेत है बम्बई के समुद्र तट पर आर्य समाज की स्थापना अतः आर्यो! ऋषि का काम जो वे सौंप गये हैं या तो उसे पूरा करो अथवा समुद्र में डूब मरो।
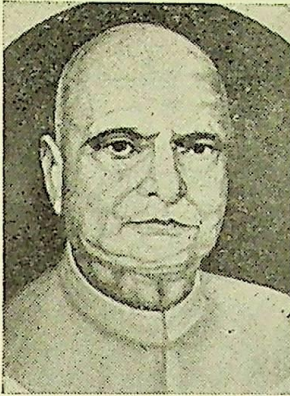
ओ३म्

वर्ण-व्यवस्था और उस पर आक्षेप

लेखक—बुद्धदेव विद्यालङ्कार

मनुष्य कठिन कार्य करने से कितना डरते हैं, इसका बड़ा सुन्दर उदाहरण उस आन्दोलन में मिलता है, जो आजकल वर्ण-व्यवस्था के विरुद्ध उठाया जाता है। विरोधियों की बात तो जाने दीजिये स्वयं आर्यसमाज में एक जन-समुदाय ऐसा उत्पन्न हो गया है, जो इसका विरोध करना अपना धर्म समझता है। इस लेख में उन प्रश्नों का संक्षेप से उत्तर दिया गया है जो वर्ण-व्यवस्था के विषय में लोगों की ओर से किये जाते हैं।

सबसे पहिली बात जो इसके विरुद्ध कही जाती है वह यह है कि वर्ण-व्यवस्था स्वयंभू है, खुद रौ है, इसके प्रचार की क्या आवश्यकता? अध्यापक, सिपाही, व्यापारी, मज़दूर यह लोग तो स्वयमेव हर एक देश में होते हैं। इनके सम्बन्ध में किसी प्रकार के प्रचार की क्या आवश्यकता है? ऐसा कहने वाले न तो वर्ण का अर्थ समझते हैं, न व्यवस्था का। उनका कहना ऐसा ही है क्योंकि हाथ, पैर, नाक, कान आदि तो सब के स्वयं होते हैं, फिर व्यायाम तथा उत्तम भोजन द्वारा इनको सुडौल और सुपुष्ट बनाने की क्या आवश्यकता? मकान संसार में बनते ही हैं फिर वास्तु-विद्या (Engineering) की क्या आवश्यकता? बीज धरती में पड़ कर अनाज पैदा होता ही है फिर कृषिशास्त्र की क्या आवश्यकता? यह लोग यह भूल जाते हैं कि हर एक अध्यापक ब्राह्मण नहीं, हर एक सिपाही क्षत्रिय नहीं, हर एक व्यापारी वैश्य नहीं। ब्राह्मण केवल उन अध्यापकों का नाम है जो जीविका के लिये अध्यापक नहीं किन्तु अध्यापन के लिये अध्यापक हैं। सत्य का प्रचार जिनके जीवन का ध्येय जिन्होने अध्यापन कार्य को व्रत मान कर ग्रहण किथा है और यश अथवा धन का बड़े से बड़ा प्रलोभन आने पर भी इस कार्य को छोड़ने के लिये तैयार नहीं।

हर एक सिपाही का नाम क्षत्रिय नहीं, किन्तु क्षत्रिय नाम उन लोगों का है जिन्होंने संसार से अन्याय को मिटाने का व्रत धारण किया है और संसार के बड़े प्रलोभन के आने पर भी इस व्रत को छोड़ने के लिये तैयार नहीं।

हर एक व्यापारी का नाम वैश्य नहीं किन्तु वैश्य वह व्यापारी है जो प्रजा की दरिद्रता मिटाने के लिये धन कमाते हैं और ब्राह्मणों और क्षत्रियों का यश होते देखकर अपने व्रत को छोड़ने के लिये तैयार नहीं।

इस प्रकार के अध्यापक, सिपाही अथवा व्यापारी खुद रौ नहीं, किन्तु बचपन से व्रत धारण करके उसी के अनुसार तैयार करने पर बड़ी कठिनता से प्राप्त होते हैं।

यह तो हुई वर्ण की बात, अब व्यवस्था को लीजिये। आवश्यकता इस बात की है कि समाज में सबसे ऊँचा स्थान सत्य के प्रचारकों को दिया जाय फिर क्षत्रियों और फिर वैश्यों को। किन्तु इस समय सब से ऊँचा स्थान स्वार्थी व्यापारियों अर्थात् असुरों को प्राप्त है। इस अवस्था को बदलने के लिये घोर संग्राम करना पड़ेगा और सम्भव है इसमें लाखों जीवनों का बलिदान हो। इसलिये न वर्ण खुद रौ है, न व्यवस्था। वर्ण नाम उस व्रत का है जो अभाव, अन्याय और अविद्या को मिटाने की तैयारी करने के लिये धारण किया जाता है। यह व्रत वर्ण और फिर उसका पालन, घोर तप और निरन्तर अभ्यास माँगता है। इसलिये वर्ण-व्यवस्था को खुद रौ कहना भूल है।

वर्ण-व्यवस्था के विरुद्ध तीसरा आक्षेप यह किया जाता है कि इन नामों को यदि स्थिर रहने दिया जाय तो थोड़े दिनों में फिर वही पुरानी जन्म की वर्ण-व्यवस्था नये रूप में सामने आकर खड़ी हो जायगी। किन्तु यह लोगों की भूल है। पुरानी जन्म के आधार पर खड़ी होने वाली वर्ण-व्यवस्था के प्रति लोगों के हृदय में घृणा

उत्पन्न करने का सब से अच्छा साधन, सच्ची वर्ण-व्यवस्था को स्थापित करना है। यदि जात-पाँत तोड़ कर भी लोग वहाँ के वहीं रहे जहाँ जात-पाँत तोड़ने से पहिले रहते थे तो जात-पाँत तोड़ने का लाभ क्या हुआ। भंगी अथवा चमारों के कुल में पैदा होने वाला एक सच्चा ब्राह्मण अथवा क्षत्रिय जितना लोगों के हृदय में जन्म की जात-पांत के अन्याय के विरुद्ध भावना उत्पन्न कर सकता है, उतना हज़ार व्याख्यान नहीं कर सकते। फिर जब लोगों ने जन्म की जात-पाँत की हानियें इतनी अच्छी प्रकार देख ली हैं तो वे इस गढ़े में कभी नहीं गिरेंगे। सच तो यह है कि यह पुरानी जात-पाँत की रूढ़ियें इसी लिये नहीं छूटतीं क्योंकि पुराने ब्राह्मणों और क्षत्रियों के स्थान में नये नहीं बनाये गये। कल्पना कीजिये कि आपके सामने दो कुल हैं। एक में वही पुराने ढर्रे का अनपढ़ पुरोहित अन्ध-विश्वासों की रखवाली कर रहा है। दूसरी ओर एक सच्चा त्यागी, तपस्वी विद्वान् पुरोहित (चाहे वह ब्राह्मण कुलोत्पन्न न हो) अपनी सङ्गति के प्रभाव से अपने यजमानों की दिन दूनी रात चौगुनी उन्नति करे तो जन्म की झूठी जात-पाँत से लोगों को स्वभाव से ही घृणा होगी। जाली सिक्के का जालीपन पूरी तरह तब ही स्पष्ट होता है जब असली सिक्का सामने रख दिया जाय। इसलिये सच्ची वर्ण-व्यवस्था का बनना तो, उलटा झूठी जात-पाँत से और भी घृणा दिलाने वाला होगा। इसलिये यह आक्षेप भी निर्मूल है कि इससे फिर पुरानी जन्म-मूलक वर्ण-व्यवस्था हमको आ घेरेगी।

वर्ण-व्यवस्था पर चौथा आक्षेप यह है कि इसका निश्चय किस प्रकार हो। एक मनुष्य प्रातःकाल से सायं-काल तक बारी-बारी से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शुद्र सभी के कर्म करता है। फिर वह ब्राह्मण आदि में से क्या कहलायेगा। यह आक्षेप भी सार हीन है। इसका उत्तर भी पहिले दिया जा चुका है वर्ण का निर्णय व्रत से होता है। अविद्या, अन्याय, अभाव में से जिस किसी एक के विरुद्ध लड़ाई करने में विशेष कौशल किसी ने प्राप्त किया हो तथा युद्ध करने का व्रत धारण किया हो उसी से उसके वर्ण का निश्चय होता है। यहाँ यह ध्यान रखना चाहिये कि विशेष अभ्यास का यह अर्थ कदापि नहीं कि वह दूसरे कर्मों का अभ्यास बिलकुल न करे। आंपत्काल में राष्ट्र विप्लव होने पर सबको क्षत्रिय। वानप्रस्थाश्रम में सब को ब्राह्मण और दुर्भिक्षादि के समय सब को वैश्य कर्म भी करना पड़े, तो करना चाहिये किन्तु विशेष अभ्यास मनुष्य एक ही कर्म का कर सकता है वही उसका वर्ण है।

वर्ण-व्यवस्था के सम्बन्ध में दूसरा प्रश्न यह किया जाता है कि डाक्टर, इन्जीनियर, कलाकार, वकील आदि सैंकड़ों पेशे संसार में हैं उन्हें चार में क्यों बाँटा जाय? यह लोग यह भूल जाते हैं कि पेशा और वस्तु है, और वर्ण और वस्तु। चरक संहिता में लिखा है कि एक वैद्य ब्राह्मण भी हो सकता है, क्षत्रिय भी और वैश्य भी। यदि यह आयुर्वेद विद्या की उन्नति में लगा है और प्रजा का उपकार मात्र उसका ध्येय है तो वह ब्राह्मण है। यदि वह रणक्षेत्र में युद्ध करने जाता है, और अपने घायल साथियों को फिर युद्ध के लिये तैयार करने में इस विद्या का प्रयोग करता है, और उसका व्रत अन्याय से युद्ध करना है तो वह वैद्य क्षत्रिय है। यदि वह अपनी विद्या से धन कमाकर प्रजा के कल्याण के लिये दान करता है तो वह वैद्य वैश्य है। इसलिये ब्राह्मणत्व, क्षत्रित्व, वैश्यत्व का निर्णय व्रत से होता है पेशे से नहीं। हाँ यह व्रत तीन ही प्रकार के हो सकते हैं और जो इन तीनों व्रतों के अयोग्य हो तो वह इतना ही व्रत धारण करे कि समाज की शरीर से ही सेवा करूँगा। आलसी और ईर्ष्यालु होकर नहीं रहूँगा। इस प्रकार व्रत चार ही हो सकते हैं। व्रतों के साधन अनेक हो सकते हैं। पेशों का सम्बन्ध मस्तिष्क से है, व्रतों का चरित्र से। यही मर्म न समझ कर लोग प्रश्न कर उठते हैं कि चार ही वर्ण क्यों?

तीसरा प्रश्न वर्ण-व्यवस्था के विरोधियों की ओर से यह किया जाता है कि यह किसी समय अच्छी रही होगी परन्तु अब यह बिल्कुल निकम्मी सिद्ध हो चुकी है। सो यह भी ठीक नहीं। वर्ण-व्यवस्था को भूल कर लोगों ने उसके स्थान पर जो अन्यायपूर्ण दुर्व्यवस्था प्रचलित कर दी है उसे वर्ण-व्यवस्था के विरुद्ध युक्ति के रूप में उपस्थित करना अन्याय है। इस प्रकार तो जीवनमात्र ही असफल सिद्ध हो चुका है क्योंकि सृष्टि के आदि से आज तक कोई भी अमर होने से सफल नहीं हुआ इसलिये सब लोग जन्म से ही सङ्खिया खाकर मर जावें। सच तो यह है कि यद्यपि ऐश्वर्य के अत्यन्त बढ़ जाने से वर्णा-

श्रम व्यवस्था में कुछ ढीलापन आ गया है, किन्तु जितने समय तक इस व्यवस्था ने संसार का कल्याण किया है अन्य किसी व्यवस्था ने नहीं किया। और अब भी थोड़े ही उद्योग से फिर वैसी ही संसार की कल्याण करने वाली हो सकती है। किसी व्यवस्था का भ्रष्ट रूप उसके असली रूप के विरुद्ध युक्ति रूप में उपस्थित नहीं किया जा सकता। और अब ऋषि दयानन्द जैसे महापुरुष की सञ्जीवनी बूटी पाकर वणश्रम-व्यवस्था फिर जीवित हो उठी है और वह संसार को अपना चमत्कार दिखा कर रहेगी।

पाँचवाँ आक्षेप वर्ण-व्यवस्था पर यह किया जाता है कि यह अव्यवहार्य्य (Impracticable) है। इस आक्षेप के उपस्थित करने के समय स्याने लोग जो लम्बा-सा मुंह बनाते हैं वह दर्शनीय होता है।

भला विचारिये तो सही कि सोशलिस्ट लोगों का छोटे से लेकर बड़े तक सारे पूंजीपतियों की पूंजी छीन, कर राष्ट्र की सम्पत्ति बना देना तो व्यवहार्य्य (Practicable) है, किन्तु सम्पत्ति का दुरुपयोग करने वाले थोड़े से पूंजीपतियों की सम्पत्ति छीन कर शेष को भय द्वारा सीधे रास्ते लाना अव्यवहार्य्य है। यह कहाँ की तर्क बुद्धि है। सबकी अपेक्षा कुछ की संख्या छोटी है यह तो साधारण गणितशास्त्र की बात है। व्यवहार्य्यता की दृष्टि से देखें तो कुछ बुरे पूंजीपतियों की सम्पत्ति छीनने तथा शेष के ऊपर भारी कर लगाने के नियम तो वर्तमान अवस्था में भी पेश किये जा सकते हैं और पास भी हो सकते हैं। किन्तु सम्पूर्ण सम्पत्ति छीनने के कार्य में जो घोर संग्राम करना होगा वह तो और भी कठिन कार्य है। किन्तु मेरे लिये तो कठिनता और व्यवहार्यता का प्रश्न ही नहीं। जिन्होंने अपराध नहीं किया, जो सम्पत्ति का सदुपयोग कर रहे हैं उनकी सम्पत्ति छीनना व्यवहार्य (Practicable) हो तो भी नहीं छीननी चाहिये क्योंकि यह अन्याय है। सच बात तो यह है कि यह Practicable और Impracticable की समस्या है ही रोगियों और नपुंसकों के लिये। नौजवानो ! उठो और अपना रास्ता काटो। जब रास्ता तैयार हो जायगा तो यह लम्बे मुंह लटकाने वाले भी पीछे-पीछे चले आवेंगे।

छठा प्रश्न यह उठाया जाता है कि अब हम क्या करें ? सो इसका उत्तर यह है कि जहां कहीं भी किसी नौजवान को यह समझ में आ जाये कि वर्ण-व्यवस्था के अनुसार मनुष्य जाति का संगठन आवश्यक है वही :—

(१) नौजवान लोग यह विचारना आरम्भ कर दें कि वह ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य इनमें से किस श्रेणी में आना चाहते हैं। ऐसे लोग दीक्षार्थी कहावेंगे।

(२) जो नौजवान इस निश्चय पर पहुँच जावें कि वह क्या बनना चाहते हैं वह वर्णाश्रम संघ से अथवा अपने स्थानीय आर्यसमाज से यज्ञोपवीत पूर्वक अपने वर्ण की दीक्षा ले लें। यदि उनकी संस्कारविधि में दी हुई विधि के अनुसार दीक्षा लेना किसी कारण अभीष्ट न हो तो जो उनकी दृष्टि में व्रत धारण का सबसे पवित्र मार्ग हो उसके अनुसार व्रत धारण कर लें और इसकी सूचना वर्णाश्रम संघ को दे दें।

(३) अपने नगर में वर्णाश्रम में विश्वास रखने वालों का एक गढ़ बना लें।

(४) वर्णाश्रम संघ से नियमावली मँगा कर उसके विधि पूर्वक सभासद् बन जावें।

(५) बूढ़े लोग नौजवानों को इस रास्ते पर चलने की प्रेरणा करें।

(६) वर्णाश्रम संघ के सम्बन्ध में बड़ा ग्रंथ काया-कल्प है। उसमें इस विषय पर और भी विस्तार से विचार किया गया है।

शान्ति कब और कैसे ?

लेखक—विवेकानन्द सरस्वती, प्रभात आश्रम, मेरठ ।

वैसे तो यह समस्त विश्व ही एक रहस्यमयी पहेली है किन्तु मानव जीवन उसमें सर्वाधिक रहस्यमय पहेली बना हुआ है । हम जितना अधिक इसके विषय में सोचने समझने का प्रयत्न करते हैं यह उतना ही अधिक जटिलतर और जटिलतम होता चला जाता है । हमारे सारे प्रयत्न पाश मे बन्धे हुए मृग के प्रयत्न के समान सिद्ध होते हैं । जिस प्रकार पाशबद्ध मृग जितना अधिक छूटने का प्रयत्न करता है उतना ही अधिक पाश के बन्ध और दृढ़ता से उसको कसते चले जाते हैं । हमारे जीवन का प्रयास यही काम करता है । अनादि काल से मनुष्य इस सृष्टि को तथा अपने जीवन को समझाने का प्रयत्न करता और स्वयं शान्ति प्राप्त करना चाहता है । परन्तु शान्ति की खोज में किये गये प्रयत्न अग्नि में घृत डालने के समान शान्ति के उपलब्ध करने के स्थान पर अशान्ति को और अधिक बढ़ाते हैं । अतः यह विचारना आवश्यक हो जाता है कि जिस शान्ति की इच्छा मनुष्य मात्र में नैसर्गिक रूप से पायी जाती है उसके प्राप्त करने का उपाय क्या है ?

इसी बात को गीता में स्पष्ट रूप से बताया गया है । कुरुक्षेत्र के महासंग्राम में मोहग्रस्त अर्जुन को योगेश्वर श्री कृष्ण उपदेश दे रहे हैं कि हे अर्जुन !

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं, समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत ।
तद्वत्कामायं प्रविशन्तिसर्वे, स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ।।
विहाय कामान्यः सर्वान् पुमांश्चरति निःस्पृहः ।
निर्ममो निरहङ्कारः स शान्तिमधि गच्छति ।।

हे अर्जुन ! जिस प्रकार सभी नदियाँ तब तक प्रवाहित होती रहती हैं, अनवरत गतिमान बनी हुई होती हैं जब तक अचल समुद्र को नहीं प्राप्त कर लेतीं । जब वे समुद्र में गिर जाती हैं । तब उनका जल शान्त हो जाता है उसी प्रकार जब मनुष्य की कामनायें प्रभु में अर्पित हो जाती हैं तभी शान्ति प्राप्त होती है । सतत् कामनाओं में लीन कामाग्नि से जलता हुआ चित्त शान्ति को नहीं प्राप्त करता । जो समस्त कामनाओं का परित्याग कर अंहकार रहित विचरण करता है वही शान्ति को उपलब्ध होता है । इस बात को इन दो श्लोकों में योगेश्वर श्रीकृष्ण ने अर्जुन को सूत्र रूप में बताया । वैसे इसकी व्याख्या अतिविस्तृत है और व्याख्या से अधिक दीर्घकालीन साध्य इस की साधना है । हम जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में यदि ईश्वरीय शक्ति का व्यापकत्व, सर्व-शक्तिमतत्व तथा रक्षकत्व का अनुभव कर सकें तो हमारी कामनाओं का अपार पारावार सूखता हुआ दृष्टिगोचर होगा क्योंकि कामानाओं के उठने के कारण मुख्य रूप से दो ही होते हैं । पहला सुख की उपलब्धि, दूसरा भय से परित्राण । जब हम प्रभु को सर्वव्यापक और सर्वरक्षक अनुभव करने लगते हैं तो ये दोनों ही कामनाओं की जड़ें सूखकर पुनः कामना की उत्पत्ति में असमर्थ हो जाती हैं और मन कामना रहित होकर उस अनन्त चिन्मयी शक्ति का साक्षात्कार कर शान्त हो जाता है और वह मनुष्य अखण्ड आनन्द का अनुभव करने लगता है ।

"प्रशान्तमनसंह्येनं योगिनंसुखमुत्तमम् ।
उपैतिशान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम् ।।

वैसे शान्ति अवसादात्मक भी होती है जो किसी गहरे दुःख या आन्तरिक भयंकर वेदना के कारण होती है । जैसे श्मशान की शान्ति । किन्तु यह शान्ति शान्ति नहीं किन्तु महान् अशान्ति है जो बाहर से शान्ति रूप में दिखलाई देती है । इस शान्ति से यह कामनाओं के परित्याग से जो शान्ति उपलब्ध होती है वह जीवन आनन्द से परिपूर्ण अखण्ड अनुद्वेगकारी शान्ति है ।

शान्ति प्राप्त करने का एक अत्यन्त सरलतम मार्ग वेद में बताया गया है । जिस मन्त्र का प्रायः प्रतिदिन हम पाठ करते हैं । उसके अन्दर शान्ति का अमोघ उपाय निर्दिष्ट है । वह मन्त्र है—

ओ३म् द्यौः शान्तिरन्तरिक्षग्वं शान्तिः पृथिवी शान्तिरापः शान्तिरोषधयः शान्ति । वनस्पतयः शान्तिर्विश्वे देवाः शान्तिर्ब्रह्म शान्तिः सर्वग्वं शान्तिः शान्तिरेवं शान्तिः सामा शान्तिरेधि ।।

इस मन्त्र के द्वारा भक्त अपनी भावना को भगवान् के सामने अभिव्यक्त करता है कि हे प्रभो ? यह द्यौलोक अन्तरिक्ष लोक, पृथिवीलोक, जल, औषधि, वनस्पति और सभी देव और स्वयं शान्ति भी शान्त होवे और इन समस्त वस्तुओं के अन्दर जो अखण्ड शान्ति विद्यमान हो रही है वह शान्ति मुझे प्राप्त हो। इस मन्त्र के द्वारा यह बतलाया गया कि यदि कोई व्यक्ति शान्ति उपलब्ध करना चाहता है तो उसे अपने निकटतम की वस्तुओं को शान्तमय देखने की प्रबल कामना करनी चाहिये। जब तक वह दूसरे को अशान्त रखकर स्वयं शान्त होना चाहेगा तब तक शान्ति का स्वप्न देखना भोलापन है। अतः हम अपनी समस्त कामनाओं को प्रभु में अर्पित कर दें और प्रभुमय संसार को देखकर संसार की प्रत्येक वस्तु को शान्तिमय बनायें तो जिस प्रकार चतुर्दिग् ग्रीष्म या शीत का वातावरण होने पर उस वातावरण में पहुँचने मात्र से उष्णत्व या शीतल का स्वयमेव अनुभव होने लगता है उसी प्रकार हमें बिना चाहे ही शान्ति उपलब्ध हो जायेगी और हम "शंयोरभिस्रवन्तुनः" के प्रार्थना के फल को उपलब्ध कर लेंगे। प्रभु के सानिध्य की अनुभूति से उपलब्ध शान्ति हमारे जीवन में विद्युत के समान प्रवाहित हो जायेगी और हमारा जीवन विद्युत् की भाँति हो जायेगा। इस विद्युत् प्रवाह परिपूर्ण जीवन के सम्पर्क में जो भी प्राणी आयेगें वे सभी उस विद्युत के प्रभाव से प्रभावित हुये बिना नहीं रह सकते।

ओ३म् शान्तिश्शान्तिश्शान्तिः

संस्मरण—क्षमा-अवतार दयानन्द

अनूपशहर (बुलन्दशहर) में एक ब्राह्मण ने स्वामी जी के मूर्ति पूजा खण्डन से रुष्ट होकर उन्हें पान में विष दे दिया। उन्होंने न्यौली कर्म करके उसे अपने शरीर से निकाल दिया और स्वस्थ हो गये। सैय्यद मुहम्मद को, जो यहाँ के तहसीलदार थे, यह वृत्त ज्ञात हुआ तो उसने उस ब्राह्मण पर कोई अभियोग लगाकर कैद कर दिया। वह समझता था कि स्वामी जी उसके इस कार्य से प्रसन्न होंगे, परन्तु जब वह उसके सामने आया तो उन्होंने उससे बोलना बन्द कर दिया। उसने इस अप्रसन्नता का कारण पूछा तो स्वामी जी ने कहा—"मैं दुनियाँ को कैद कराने नहीं अपितु उसे कैद से छुड़ाने आया हूँ।" वह यदि अपनी दुष्टता को नहीं छोड़ता तो हम अपनी श्रेष्ठता को क्यों छोड़ें ?

सर्वोन्नायक दयानन्द

लाहौर में ११ मार्च सन् १८७७ को स्वामी जी ने मुसलमानी मत की आलोचना में व्याख्यान दिया। बगीचे के मालिक नवाब नवाजिशअली खां पास ही टहल रहे थे और उनका व्याख्यान सुन रहे थे। व्याख्यान की समाप्ति पर किसी ने स्वामी जी से कहा कि महाराज आपको न कोई हिन्दु ठहरने को स्थान देता है, न ईसाई, न मुसलमान, नवाब साहब ने कृपा करके आपको यह स्थान दिया था सो यहाँ भी आपने इस्लाम का खण्डन किया, ऐसा न हो कि नवाब साहब आपसे अप्रसन्न हो जाएँ। महाराज ने उत्तर दिया कि मैं यहाँ पर इस्लाम व किसी अन्य मत की प्रशंसा करने नहीं आया हूँ। मैं तो केवल वैदिक धर्म को ही सच्चा मानता हूँ और उसी का उपदेश करता हूँ। मैंने देख लिया था कि नवाब साहब सुन रहे हैं। मैं जान-बूझकर उन्हें वैदिक धर्म के गुण सुना रहा था। मुझे परमात्मा से भिन्न अन्य किसी का भय नहीं है।

आर्य समाज का एक सिद्धान्त (पितर)

लेखक—वेदानन्द वेदवागीश

महर्षि दयानन्द सरस्वती ने आर्य समाज की स्थापना एवं प्रवर्तना की है। महर्षि प्रत्येक बात वेद प्रतिपादित व तदनुमोदित ही स्वीकार करते थे। अतः यह कथन सर्वोपरि सत्य है कि आर्य समाज के सिद्धान्त वे ही हैं, जिन्हें ईश्वर ने वेद रूप में सृष्टि के आदि में मानवोत्पत्ति समय में निर्दिष्ट किया है। मनुष्य प्रसूत कोई भी सिद्धान्त आर्य समाज का नहीं है यदि स्वीकार किया भी जाता है, तो उसकी पुष्टि वेद से करनी अनिवार्य है, जिसमें तर्क का आलम्बन अपरिहार्य है।

इस प्रकार वेद में प्रतिपादित सिद्धान्त (सिद्ध पक्ष) बहुत हैं, इस लेख में केवल पितर शब्द पर प्रकाश डाला जायेगा कि आर्य समाज 'पितर' शब्द से क्या लेता है। आर्य समाज से इतर जन 'पितर' की क्या व्याख्या करते हैं। यह यहां का विषय नहीं है। इस लेख के प्रकाश में अन्यों द्वारा माने जाने वाले पितर आर्य समाज की दृष्टि से निरस्त हैं। महर्षि दयानन्द ने गार्हस्थ्य धर्मों में पंच महायज्ञों का करना अनिवार्य घोषित किया है। उनके निरूपण के लिए पंच महायज्ञ विधि पृथक् से बनाई है। वहां निरूपित यज्ञों में पितृयज्ञ भी है, जो पितरों से सम्बन्ध रखता है।

पितृयज्ञ को दो विभागों में विभक्त किया जाता है (१) तर्पण रूप (२) श्राद्ध रूप। जिस काम के द्वारा हम विद्वानों, ऋषियों एवं माता-पिता, दादा, उपदेशक गुरू आचार्य को तृप्त करते हैं, उन्हें आनन्दित करते हैं, सुख प्रदान करते हैं, वह तर्पण है। और जो श्रद्धा पूर्वक उनकी सानिध्य में रहते हुए कुछ गुण ग्रहण करते हैं, वे श्राद्ध कहलाते हैं। ये दोनों तर्पण और श्राद्ध तब ही सम्भव हैं, जबकि विद्वान ऋषि, मुनि माता-पिता, आचार्य आदि विद्यमान (जीवित) हों। क्योंकि जब तक वे जीवित दशा में प्राप्त हैं, तब तक ही हम उनकी विभिन्न प्रकार की सेवा करके उनको तृप्त आनन्दित एवं सुखी कर सकते हैं और तब तक ही उनसे कुछ सीख सकते हैं। सीखने सिखाने, सेवा करने कराने के लिये दोनों का होना आवश्यक है। "विद्वांसोहिदेवाः" यह शतपथ के कां० ३।अ० ७।ब्रा० ३।कं० १०।। का वचन है। विद्वानों को देव कहा जाता है। विद्वान् (देवों) की पहचान यह है कि वे सत्य मानते, सत्य बोलते और सत्य ही करते हैं। जो झूठ मानते, झूठ बोलते और झूठ ही करते हैं, वे मनुष्य कहे गये हैं। क्योंकि सत्य और असत्य दो ही वस्तु हैं। इनमें से देव या विद्वान बनने के लिए सत्य को मनुष्यों ने स्वीकार किया है, जो ऐसा नहीं कर पाते, वे मनुष्य ही रह जाते हैं। देव नहीं बन पाते। सत्य पवित्र करने वाला है और असत्य बुद्धि को भ्रष्ट करके नरक गामी बनाता है। इसीलिए पवित्र बनने के लिए देवों (विद्वानों) से प्रार्थना की जाती है, जिसके लिए मन्त्र इस प्रकार हैं :—

पुनन्तु या देवजनाः, पुनन्तु मनसा धियः।
पुनन्तु विश्वाभूतानि, जातवेदः पुनीहिमा।।
(यजुर्वेद १९ अध्याय ३९ वां मन्त्र)।

इस मन्त्र में परमेश्वर को "जातवेदाः" नाम से पुकारा गया है; क्योंकि वह प्रत्येक पदार्थ में विद्यमान है। उससे बढ़कर विश्व में न कोई पवित्र है और न ही पवित्र करने वाला है। अतः याचना की गयी है कि हे परमेश्वर! आप मुझे पवित्र कीजिए और देवजन (विद्वद्जन) भी मुझे अपने विज्ञान से पवित्र करें। मेरी बुद्धि को सर्वथा निर्मल करें। मैं ही नहीं अपितु विश्व के सभी लोग पवित्र हो जावें।

द्वयं वा इदं न तृतीय मस्ति। सत्यं चैवानृतं च। सत्यमेव देवाः अनृतं मनुष्याः। इदमहमनृतात्सत्यमुपैमि। तन्मनुष्येभ्यो देवानुपैति। स वै सत्यमेव वदेत्। एतद्ध वै देवा व्रतं चरन्ति यत्सत्यम्।
शतपथ कां० १ अ० १ ब्रा० १ कं० ४·५।।

संसार में सत्य और असत्य के पाये जाने से मानव के दो भेद हो गए। सत्य को ग्रहण करने वाले देव बन गए और मिथ्या भाषी, मिथ्यामानी व मिथ्याकारी मनुष्य बने रहे। इसलिए उत्तम कोटि चाहने वाला यही व्रत

धारण करता है कि मैं अनृत को छोड़कर सत्य को अपनाऊँ और देव बन जाऊं, जिससे पितर कोटि में आकर लोक कल्याण करने वाला बन सकूं। इसलिए जो पितर रूप देव बनना चाहते हैं। वे सत्य को कड़ाई से पकड़े रहें। साध्या ऋषभः मन्त्रादृष्टा ज्ञानी जन भी पितर कहलाते हैं। इन्होंने इस ब्रह्माण्ड की रचना स्थिति और पालन करने वाले जगदीश्वर को अपने हृदयाकाश में जाना है—प्रत्यक्ष अनुभव किया है। इस विध-योगिजनों मन्त्र-दृष्टाओं की सेवा करना उनको तृप्त करना है, उन्हें सुख पहुँचाना है। यह भी पितृतर्पण और पितृश्राद्ध है। इसके लिए यजुर्वेद के ३१ वें अध्याय का ९वां मन्त्र इस प्रकार है—

'तं यज्ञं बर्हिषि प्रौक्षन् पुरुषं जातमृगतः।"
तेन देवा अयजन्त्र साध्या ऋषयश्चये॥

सबसे पहले प्रकट हुए भगवान् को ऋषियों ने अपने हृदय मन्दिर में पूजा है। ऐसे ज्ञानी जनों से हम गुण ग्रहण करें। ये लोग सब विद्याओं को पढ़कर उनका प्रवचन और अध्यापन करते हैं यह पढ़ना और पढ़ाना ऋषि कर्म है, जो पितृ श्राद्ध कहलाता है। इससे मनुष्य ऋषि ऋण से उऋण होता है। अपने गुरुजनों-आचार्यों की सेवा करके सुखकारी होता है। अध्ययन के पश्चात् जब वह भी अध्यापन करने लगता है, तो ऋषि बन जाता है। इस ऋषि कर्म को सब गृहस्थ जन स्वीकार करें। तब उनका पितृ श्राद्ध पूर्ण होता है।

माता-पिता, दादा आदि भी पितर हैं। उनकी अन्न-पान, दूध-फल घृत आदि सुभोज्य पदार्थों से तृप्ति करनी चाहिए और उनकी बुढ़ापे से उत्पन्न दुःख दर्द में सेवा करके श्राद्ध पूर्वक श्राद्ध कर्म को निभाना चाहिए।

जीवित माता-पिता, दादा, परदादा ही पितर हैं, मृत नहीं, इसके लिए निम्न मन्त्र प्रमाणभूत हैं :—

ऊर्जं वहन्तीरमृतं घृतं पयः कीलालं परिस्रुतम्।
स्वधास्थ तर्पयत मे पितृन्॥
यजुर्वेद अध्याय २। मं ३४

जिन्होंने परमेश्वर को जाना है और अग्नि. विद्युत् विद्या का साक्षात्कार करके अन्यों को कराया है, जिससे शिल्प विद्या में लोग चतुर बने हैं, वे सबके पालक होने से पितर कहे गए हैं। ऐसे अग्निष्वात्त पितरों को गृहस्थजन अपने यहां आमन्त्रित करके उनकी यथावत् सेवा सुश्रूषा खानपान से कर श्रद्धापूर्वक ज्ञान लाभ करते हैं और अपने पितृ तर्पण तथा श्राद्ध कर्म को पूरा करते हैं। यह कर्म उपदेशकों रूप पितरों में घटता है इसकी पुष्टि निम्न मन्त्र से होती है—

आयन्तु नः पितरः सोम्यासोऽग्निष्वाताः पथिभिर्देवयानैः।
अस्मिन् यज्ञे स्वधयामदन्तोऽधिब्रुवन्तु तेऽवन्तवस्मान्॥
यजुर्वेद १९–१८

अत्र पितरो माददध्वं यथाभागमावृषायध्वम्।
अभीमदन्त पितरो यथाभागमावृषायिषत॥

हे पितरो! इस सभा में अथवा पाठशाला में हमें विद्या विज्ञान का दान करके आनन युक्त करो और हमें अपना-अपना विद्या का भाग देकर सदा उत्साही बने रहो।

जो गृह सम्बन्धी व्यवहार बोध है, वह भी हमें प्रदान करो और हमारे समीप आपको तृप्त करने के जो भोजनाच्छादन पदार्थ हैं, वे हम आपको प्रदान करते हैं। उन्हें आप प्रीतिपूर्वक स्वीकार करो।

"नमो: वो गृहान्नः पितरो दत्त सती वः पितरो
देष्मैतद्वः पितरो वासः॥"

इसमें अन्न वस्त्र से जो व्याख्याताओं एवं उपदेशकों की परिचर्या पर प्रकाश डाला गया है।

बालकों को पुरुष बनाने के लिए गुरु और आचार्य विद्यारूप गर्भ को उनमें धारण करता है। ऐसे ब्रह्मचारी को विद्यासुशिक्षा से विभूषित करके आचार्य उसे उत्कृष्ट बना देता है।

माता-पिता अपने बच्चे को पुष्पमाला पहना कर गुरुकुल में आचार्य के समीप ले जाते हैं और पितृ तर्पण तथा श्राद्ध करते हैं। इस बात के प्रमाण में नीचे दिया गया मन्त्र है।

"आधत्त पितरो गर्भं कुमार पुष्करस्रजम्।
यथेह पुरुषोऽसन्। यजुर्वेद अ० २ मन्त्र ३३।

इस प्रकार विद्वान, ऋषि, माता-पिता, दादा, परदादा, गुरु, उपदेशक, व्याख्याता और आचार्य ये सब पितर हैं। इनका अन्न आदि से तर्पण और श्रद्धा से सेवा करके गुणग्रहण पूर्वक श्राद्ध किया जाता है, जो जीवित दशा में ही सम्भव है। इसमें दोनों को ही लाभ है। मृतकों में यह बात नहीं घटती। अतः आर्य समाज वैदिक मन्त्रों से पुष्ट उक्त जनों को ही पितर स्वीकार करता है।

ओ३म्

शरीर के तीन उपस्तम्भ

लेखक—महात्मा आनन्द स्वामी सरस्वती

आहार पर बहुत कुछ निर्भर है। धन्वन्तरि जी कहते हैं—

प्राणिनां पुनर्मूलमाहारो बलवरणौजसाम्
।। सूत्र स्थान १ । ५८ ।।

'समस्त जीवों और उनके बल-रूप ओजादि का मूल आहार है।' यदि आहार युक्त तथा पौष्टिक नहीं होगा तो न पूरी निद्रा मिलेगी, न ही ब्रह्मचर्य पूर्वक जीवन व्यतीत करने की शक्ति आयेगी। यह रहस्य सर्वदा अपने समक्ष रखना चाहिए कि आहार स्वाद के लिए नहीं, अपितु शरीर-रक्षा तथा शारीरिक और मानसिक बल के लिए है। जो लोग अधिक लाल-मिर्चों का या खटाई का प्रयोग करते हैं या जिनको अधिक चटपटी वस्तुओं के बिना भोजन रूचिकर प्रतीत ही नहीं होता, वे कभी एकान्त में बैठकर विचार करें तो उन पर प्रकट हो जायेगा कि इस प्रकार की वस्तुओं से उनकी हानि ही हुई है। स्वादाधीन होकर भूख से अधिक खा लेना और चटोरापन के दास होकर पेट में ऐसी वस्तुएँ पहुँचा देना, पेट के कारखाने को बिगाड़ देना कहाँ की बुद्धिमत्ता है? उदर को तो भूखा-सा ही रखना चाहिए। पेट अमीर के स्थान पर फकीर ही अच्छा। जितना हम इसे अधिक भरेंगे, यह उतना अधिक हमारे शरीर को रोगी रखेगा।

स्वाद बाहर की वस्तु नहीं, अन्दर की देन है। जब पूरी क्षुधा लगी हो तो भुने हुए चने और सत्तू भी वह स्वाद देते हैं कि उनके सामने सब पदार्थ तुच्छ हो जाते हैं। और यदि पेट में विकार हो, क्षुधा उड़ चुकी हो तो स्वादु-स्वादु पदार्थ भी अस्वादु प्रतीत होते हैं।

स्वाद के पीछे

जिह्वा (रसेन्द्रिय) दो कामों के लिए मिली थी—(१) इसलिए ताकि हम अपने विचार प्रकट कर सकें और प्रभु-भजन भी कर सकें (२) यह जिह्वा हमें आहार के सम्बन्ध में बतला सके कि यह सड़ा गला तो नहीं? खाने योग्य तो है? परन्तु हमने जिह्वा का दुरुपयोग प्रारम्भ कर दिया। केवल जिह्वा के स्वाद को पूरा करने के लिए आप देखिए तो सही, मनुष्य को क्या कुछ करना पड़ रहा है। इस जिह्वा ही के कारण पशु-पक्षियों का बध आरम्भ हुआ। सहस्रों, लाखों, अरबों पशु-पक्षी प्रति-दिन जिह्वा के स्वाद के लिए मारे काटे जाते हैं।

ज्ञानेन्द्रियों में जिह्वा और कर्मेन्द्रियों में उपस्थ या गुप्तेन्द्रिय इन दो इन्द्रियों को विशेष रूप से जिसने अपने वश में नहीं किया, वह प्रभु-दर्शन का स्वप्न भी नहीं ले सकता।

इन्द्रियाणि जयन्त्याशु निराहारा मनीषिणः।
वर्जयित्वा तु रसनं तन्निरन्नस्य वर्धते ।।
तावज्जितेन्द्रियो न स्याद् विजितान्येन्द्रियः पुमान्।
न जयेद्रसनं यावज्जितं सर्वं जिते रसे ।।

'विद्वान् निराहार रहकर और रसेन्द्रिय को छोड़कर इन्द्रियों को शीघ्र जीत लेते हैं, किन्तु निरन्न पुरुष का (जिसने अन्न छोड़ रखा है) रसेन्द्रिय बढ़ता है। पुरुष दूसरे इन्द्रियों को जीतकर भी तब तक जितेन्द्रिय नहीं होता जब तक रसेन्द्रिय को नहीं जीत लेता। इसके जीत लेने पर सब पर विजय प्राप्त हो जाती है।

इतना बड़ा महत्व रसेन्द्रिय का है। बुद्धिपूर्वक ही इस इन्द्रिय से कार्य लेना होगा। बुद्धि की जब भी उपेक्षा करके इसकी अतिस्वाद की लालसा पूरी करने की ओर झुकेंगे, तभी नाना रोग और पापों को निमन्त्रण दे दिया जायेगा।

भोजन में क्या हो?

एक मनुष्य के भोजन में क्या-कुछ चाहिए, यह निश्चित रूप से कहना कठिन है; क्योंकि मनुष्यों की

प्रकृतियाँ भिन्न-भिन्न हैं, स्वभाव भी पृथक-पृथक हैं। जो पित्त–प्रधान प्रकृति का व्यक्ति है, उसके लिए शीतल गुण रखने वाले खाद्य-पदार्थ अधिक उपयोगी होते हैं। परन्तु वात–प्रधान प्रकृति वाला यदि ठण्डी या रूक्ष वस्तुओं का प्रयोग करेगा तो शरीर के सन्धि स्थानों में पीड़ा होने लगेगी।

चरक सूत्र स्थान में भोजन के सम्बन्ध में लिखा है :—

षष्टिकान् शालिमुद्गांश्च सैन्धवामलके यवान्।
आन्तरिक्षं पयः सर्पिर्जाङ्गलं मधु चाभ्यसेत्॥
तच्च नित्यं प्रयुञ्जीत स्वास्थ्यं येनानुवर्त्तते।
अजातानां विकाराणामनुत्पत्तिकरञ्च यत्॥

'साठी के चावल, शाली चावल, मूंग, सैंधा नमक, आँवले, जौं, वर्षा का जल, दूध, घी, शहद, इनका नित्य सेवन करें। देह की स्वस्थावस्था को जो द्रव्य न बिगाड़े और रोगों को उत्पन्न न करे, वह पदार्थ खाना चाहिये।

रोगों का कारण

भगवान ने मानव शरीर रोगी होने के लिए नहीं दिया है अपितु इसके द्वारा प्रभु के निकट पहुँचने के लिए दिया है। आयुर्वेद शास्त्र में यहीं कहा है कि "सारे रोगों का मूल-कारण प्रज्ञा का बिगाड़ना है।" जो व्यक्ति इस बात को समक्ष रखे बिना कि कौन से खाद्य पदार्थ मेरे अनुकूल और कौन से प्रतिकूल हैं, भोजन करते हैं वे बुद्धि से काम नहीं लेते। चरक शरीर स्थान अध्याय १ में लिखा है—

धीधृतिस्मृतिविभ्रष्टः कर्म यत्कुरुतेऽशुभम्।
प्रज्ञापराधं तं विद्यात्सर्व दोष प्रकोपकम्॥

'बुद्धि, धृति और स्मृति के नष्ट होने से यह मनुष्य जिन अशुभ कर्मों को करता है उसको प्रज्ञापराध अर्थात् बुद्धि का दोष लगता है।'

आहार शुद्ध और यथार्थ न होने से केवल शरीर ही नहीं बिगड़ता अपितु मनुष्य जीवन के ऊँचे उद्देश्य ही का अन्त हो जाता है। छान्दोग्योपनिषद् के सातवें प्रपाठक के २६ वें खण्ड का अन्तिम आदेश यह है :—

आहार शुद्धौ सत्वशुद्धिः सत्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः।
स्मृतिस्तम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः॥

'जब मनुष्य का आहार शुद्ध हो जाता है तो उसका अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है तो स्मृति अटल हो जाती है और फिर स्मृति पक्की हो जाती है, तब सारी ग्रन्थियाँ खुल जाती हैं।

अतएव आहार के सम्बन्ध में पूरा सावधान होना चाहिये।

गोघृत रसायन है

गाय का दूध और घी तो रसायन है। गोघृत में विषों के नाश करने की शक्ति है। यदि सर्प डस ले तो गोघृत-पान से विष का बड़ा भाग नष्ट हो जाता है।

गोदुग्ध के सम्बन्ध में 'सुश्रुत' के कर्मा धन्वन्तरि जी क्या कहते हैं—

गोक्षीरमनभिष्यन्दी स्निग्धं गुरु रसायनम्।
रक्तपित्तहरं शीतं मधुरं रसपाकयोः॥
जीवनीयं तथा वातपित्तघ्नं परमं स्मृतम्॥
सूत्रस्थान अ० ५५।४।६॥

'गौ का दूध अभिष्यन्दी नहीं (रसवाहा नाड़ियों को नहीं रोकता) स्निग्ध है, भारी रसायन है, रक्तपित्त दूर करता है, शीतल है, रस में विपाक में मीठा है। जीवन दाता है।

वेद में गो-महिमा

गो दुग्ध की प्रशंसा वेद में भगवान ने स्थल-स्थल पर की है और गौ के समान और कोई संसारी वस्तु नहीं बतलाई। यजुर्वेद के २३ वें अ० के ४७ वें मन्त्र में एक प्रश्न है :

"कस्य मात्रा न विद्यते ?"

किसके समान कोई वस्तु नहीं ? तो इसका उत्तर भगवान ने ४८ वें मन्त्र में यह दिया है :—

"गोस्तु मात्रा न विद्यते।"

संसार में गौ के समान कोई वस्तु नहीं और गो दुग्ध के लिए प्रार्थना की है :—

मट्ठीनां पयोऽसि वर्चोदा असि वर्चो मे देहि॥

तू गौओं का दूध है, शरीर में कान्ति देने वाला है, मेरे शरीर को भी कान्ति प्रदान कर।

अथर्ववेद में लिखा है कि लाल रंग की गौओं के दूध से हृदय और पाण्डू रोग दूर होते हैं। गोदुग्ध को इतना हितकर समझकर ही वैदिक संस्कृति के चार स्तम्भों में एक स्तम्भ गौ-वश की वृद्धि है। जब से गो-वंश का ह्रास होने लगा है, तब से नाना रोग और दु:ख बढ़ गये हैं।

मन को प्रसन्न रखने से स्वास्थ्य

वैसे तो मन को किसी भी समय चिन्ता, क्रोध, पश्चाताप, घृणा इत्यदि के दलदल में फँसने नहीं देना चाहिये क्योंकि ये मानसिक विकार शरीर की नाड़ियों में भारी विक्षोभ उत्पन्न कर देते हैं और रक्त को विषैला बना देते हैं, परन्तु भोजन के समय तो मन का प्रसन्न होना सर्वथा आवश्यक है।

प्रोफैसर गेट्स ने इसके में जो वैज्ञानिक अनुभव किये हैं, वे बड़े लाभदायक हैं। प्रो० गेट्स ने भिन्न-भिन्न मानसिक अवस्थाओं में निकलने वाले श्वासों की वायु को लेकर हिम द्वारा शीतल की हुई नलियों में एकत्र किया और यह बताया कि मनुष्य जब साधारण अवस्था में हो तो उन श्वासों द्वारा रंगहीन द्रव इकट्ठा होता है; और यदि मन क्रोध की अवस्था में हो तो इस द्रव का रंग भूरा सा हो जाता है; दु:ख की अवस्था में खाकी, पश्चाताप की अवस्था में गुलाबी रंग होता है और ये पदार्थ इतने विषैले सिद्ध हुए कि सूअर के बच्चे को इनका टीका लगाने पर वह मर गया। घृणा व क्रोध की अवस्था में एक घण्टे में मनुष्य के श्वास द्वारा इतना विषैला द्रव निकलता है कि उससे बीस व्यक्ति मर सकते हैं। इसके विपरीत आनन्द, उत्साह, प्रेम, प्रसन्नता की अवस्था में श्वास द्वारा जो द्रव निकलता है, वह बड़ा शक्ति देने वाला होता है।

आहार में छः रस

आहार के सम्बन्ध में एक और तत्व की बात लिख देना आवश्यक है और वह छः रसों के सम्बन्ध में है। **'चरक संहिता'** के विमान स्थान के पहले अध्याय में बतलाया गया है कि :

"रस" मधुर, अम्ल, लवण, तिक्त, कटु, कषाय ये छः हैं। वे भली प्रकार उपयोग को प्राप्त हुए शरीर की पालना करते हैं और उल्टे उपयोग से दोषों को बढ़ाते हैं। दोष तीन हैं—वात, पित्त और श्लेष्मा। ये ठीक हों तो शरीर के उपकार होते हैं और विकार को प्राप्त हुए हों तो निश्चय से शरीर को दु:खित करते हैं।

तत्र दोषमेकैकं त्रयस्त्रयो रसा जनयन्ति, त्रयस्त्रयश्चोपशमयन्ति।

तद्यथा—

कटुतिक्तकषाया वातं जनयन्ति, मधुराम्ललवणास्त्वेनं शमयन्ति। कटुकाम्ललवणाः पित्तं जनयन्ति। मधुरतिक्तकषायाः पुनरेनं शमयन्ति। मधुराम्ललवणाः श्लेष्माणं जनयन्ति, कटुतिक्तकषायास्त्वेनं शमयन्ति ॥४॥

उसमें से एक-एक दोष को तीन-तीन रस पैदा करते हैं और तीन-तीन उपशमन करते हैं। वे इस प्रकार हैं :—

कटु, तिक्त, कषाय—वात को पैदा करते हैं।
मधुर, अम्ल, लवण—वात का शमन करते हैं।
कटु, अम्ल, लवण—पित्त को पैदा करते हैं।
मधुर, तिक्त, कषाय—पित्त को शान्त करते हैं।
मधुर, अम्ल, लवण—श्लेष्मा को पैदा करते हैं।
कटु, तिक्त, कषाय—श्लेष्मा को शान्त करते हैं।

मनुष्य—शरीर को योग के अंगों के अनुकूल बनाने के लिए आयुर्वेद के इस तत्व को भली प्रकार समझकर प्रयोग में लाइये, निश्चित रूप से आपका स्वास्थ्य तथा शरीर योग के योग्य बन जायेगा।

निद्रा

आहार के पश्चात् शरीर का दूसरा उपस्तम्भ निद्रा बतलाया गया है।

कई बार यह विचार मन में आता है कि यदि भगवान ने निद्रा की देन न दी होती, तो मनुष्य की क्या गति होती।

कितनी उपयोगी, प्यारी तथा मीठी यह देन है और भगवान ने इसके लिए रात्रि भी बना दी। संसार भर में सारे प्राणी—पशु, पक्षी, जीव जन्तु, मनुष्य सब रात्रि को सोते हैं। दिन भर मनुष्य नाना कार्यों में व्यस्त रहता है। इन्द्रियां भी और शरीर के सारे अंग भी कार्य करते हैं। इस परिश्रम से मनुष्य-शरीर की जीवन धारा प्रतिक्षण

व्यय होती रहती है। परिश्रम करते-करते एक समय ऐसा आ जाता है—जब आप यह अनुभव करते हैं कि 'मैं अब थक गया हूँ।' अपितु इस थकावट को दूर करने वाली निद्रा ही है। जिस प्रकार मोटर में बैटरी खर्च होती रहती है और जब यह काम न दे तो आप उसे वर्कशॉप में भेज देते हैं ताकि उसे फिर भरवाया जा सके। इसी प्रकार मनुष्य का थका हुआ शरीर भी जब निद्रा की गोद में दे दिया जाता है तो निद्रा उसे अपनी शक्ति से पुनः कार्य करने योग्य बना देती है।

शरीर की थकावट दूर करने की एक अद्भुत शक्ति निद्रा को प्राप्त है। मेरा एक अनुभव सुनिये। १९५१ में गंगोत्तरी के पवित्र वन में योग—निकेतन में वास करने के पश्चात् वहाँ से लगभग ५६ मील दूर उत्तर काशी की ओर चला, तो मार्ग में रात्रि—विश्राम के जो स्थान आते हैं, उनमें सफाई न रहने के कारण पिस्सू तथा खटमलों का राज्य हो गया था। दिन भर ऊँची-नीची घाटियों तथा नदी-नालों को पार करके थके-मांदे जब विश्राम-स्थान पर पहुँचे और भूमि पर लेट जाते तो लेटते ही निद्रा आने के स्थान पर पिस्सू तथा खटमल पास आ जाते। निद्रा आने लगती तो वे काटना आरम्भ कर देते। रात खुजलाते ही व्यतीत हो जाती। अगली प्रातः फिर चलना होता। थके हुए शरीर ही के साथ चल पड़ते और रात्रि को अगले पड़ाव पर फिर पिस्सू व खटकल स्वागत के लिए तैयार मिलते। चार रात्रियाँ इसी प्रकार काटनी पड़ीं। शरीर सर्वथा शिथिल और जीवन-हीन प्रतीत हो रहा था। परन्तु उत्तर काशी में जब पाँचवीं रात्रि को विश्राम किया तो स्वप्न अवस्था के बाद सुषुप्ति-अवस्था प्राप्त हो गई। इतनी गहरी निद्रा आई कि प्रातः काल जब उठे, तो शरीर सर्वथा थकान रहित हो चुका था। निद्रा को इसीलिए विष्णु की माया कहा है। न इसका कोई रंग है, न रूप है, न यह हाथ से स्पर्श की जा सकती है, न जिह्वा से चखी और न नासिका से सूँघी जा सकती है; परन्तु इसका स्वाद मन द्वारा बिना किसी ब्राह्य इन्द्रिय की सहायता के अवश्य लिया जा सकता है।

प्रभु की अद्भुत् देन निद्रा

ऐसी सुन्दर देन का भी मनुष्य ने मान नहीं किया; लोभ, काम इत्यादि के वश होकर इसका भी तिरस्कार कर दिया।

बम्बई के एक धनी के सम्बन्ध में बतलाया जाता है कि उसने जब व्यापार आरम्भ किया तो रात्रि को २–३ बजे तक वह हिसाब-किताब में ही संलग्न रहता था। निद्रा तो आती थी परन्तु जब भी निद्रा आकर सेठ को अपनी गोद में लेने का यत्न करती तो सेठ उठकर आंखों पर जल के छींटे देकर निद्रा को भगा देता। निरन्तर कई वर्ष बार-बार ऐसा करने से निद्रा ने सेठ के पास आना छोड़ दिया। इस परिश्रम से सेठ के पास धन तो पर्याप्त हो गया परन्तु निद्रा चली गई। सेठ अब लाख यत्न करता है कि किसी प्रकार कुछ ही घड़ियाँ निद्रा आ जाये परन्तु निन्द्रा लाने वाली औषधियां भी निद्रा लाने में सफल न हो सकीं। उसने तब विज्ञापन दिया कि जो कोई बिना किसी औषधि के उसे निद्रा लाने में सफल होगा उसे एक लाख रुपया दिया जाएगा।

मैंने तब कहा, जब धन पास नहीं था तो निद्रा स्वयमेव आती थी और सेठ जी पानी की बौछार निद्रा पर छोड़कर उसे भगा देते थे। निद्रा चली गई और धन आ गया तो अब सेठ जी धन को धक्का दे रहे हैं। परन्तु अब ऐसा हो नहीं सकेगा। निद्रा नहीं खरीदी जा सकती। यह तो प्रभु की अमूल्य देन है।

इस अवस्था को 'सुश्रुत' में जृम्भा कहा गया है। सुश्रुत में यह भी बतलाया गया है कि निद्रा का नाश क्यों होता है। श्री धन्वन्तरि जी बतलाते हैं कि—"वायु और पित्त से, मन के सन्ताप से और चोट आदि की पीड़ा से निद्रा का नाश होता है और इसके विपरीत भावों से निद्रा-नाश की शान्ति होती है।

सच्ची निद्रा कैसे ?

उन्होंने निद्रा-नाश को दूर करने का उपाय भी बतलाया है। वह यह कि—शरीर पर तेल मलकर उबटन मलना और स्नान करना चाहिये तथा शरीर पर तेल-मर्दन और हाथ पांव धीरे-धीरे दबाना" इस शारीरिक उपचार के साथ यह भी आवश्यक है कि मन में जिस बात से सन्ताप हो रहा हो उसे मन से निकाल दिया जाये।

स्वाभाविकी निद्रा के सम्बन्ध में 'सुश्रुत' में यह आदेश है—"स्वाभाविकी तमोगुण की बाहुल्यता वाले

मनुष्यों को दिन में भी निद्रा आती है और रात्रि में भी अति निद्रा आती है। रजोगुण की प्रधानता वालों को बे नियम कभी दिन में और कभी रात्रि में निद्रा आती है तथा सत्वगुण की बाहुल्यता वालों को अर्ध-रात्रि के समय निद्रा आया करती है।

अति निद्रा भी ठीक नहीं और अतिनिद्रा नाश भी ठीक नहीं। दोनों अतियों को त्याग कर इतनी निद्रा लेना आवश्यक है जिससे शरीर का भारीपन, थकावट इत्यादि जाती रहे और भजन तथा साधना के समय आलस्य तथा प्रमाद आक्रमण न कर दें।

जिसका आहार स्वास्थ्य-प्रद है और जिनके मन में कोई चिन्ता बैठी वहाँ घाव नहीं कर रही, वे सुन्दर सच्ची निद्रा का सुख लेकर शरीर को निरोग रख अपनी साधना में लग सकते हैं। यह शरीर के दो उपस्तम्भों का वर्णन हुआ अब तीसरे की बात सुनिये।

ब्रह्मचर्य

ब्रह्मचर्य बड़ा पवित्र और चित्ताकर्षक शब्द है। इसका अर्थ है—ब्रह्म भगवान में विचरना। निस्सन्देह ब्रह्म में वही विचर सकता है, जो अपने शरीर के वास्तविक भौतिक लक्ष्य वीर्य को अपने वश में रखता है। मनुष्य जो अन्न खाता है, उसे पेट की जठराग्नि पचाती है और एक विशेष रसायन अन्त में मिलाकर रस का रूप धारण कराती है। यह रस क्या-कुछ करता है, इसका बड़ा सुन्दर विवरण धन्वन्तरि जी ने सुनाया है। वे कहते हैं कि—

रसः प्रीणयति रक्तपुष्टिं च करोति, रक्त वर्ण प्रसादं मांसपुष्टिं जीवयति च मासं शरीर पुष्टि मेदसश्च, मेदः स्नेहस्वेदौ दृढ़त्वं पुष्टिमस्थ्नां च अस्थि देहधारणं मज्जापुष्टिं च मज्जा प्रीतिं स्नेहं बल शुक्रपुष्टिं पूरणमस्थ्नां च करोति, शुक्रं धैर्यं च्यवनं देहबलं हर्षबीजार्थं च ५॥
(सुश्रुत सूत्रस्थान अ० १५)

'रस तृप्तिकारक है और रुधिर की पुष्टि करता है। रुधिर-वर्ण को श्रेष्ठ करता है, मांस की पुष्टि करता है तथा जिलाता है। (उस रक्त से शरीर में जो मांस बनता है वह) मांस शरीर को पुष्ट करता है तथा भेद का पोषण करता है। चर्बी स्निग्धता, पसीना, दृढ़ता लाकर अस्थियों का पोषण करती है। अस्थि देह को धारण करती है और मज्जा की पुष्टि करती है और मज्जा प्रसन्नता, बल और वीर्य को उत्पन्न करती है। शुक्र की पुष्टि और अस्थियों को पूर्ण करती है। वीर्य धीरता, प्रीति, शरीर में बल और हर्ष को उत्पन्न करता है, तथा सन्तानोत्पत्ति का कारण है।'

इस वीर्य के पश्चात् इसी वीर्य से शरीर में एक अद्भुत शक्ति उत्पन्न होती है जिसका नाम धन्वन्तरि जी ने 'ओज' बतलाया है। जो लोग वीर्य का अधिक व्यय कर देते हैं, उनको ओज प्राप्त नहीं होता।

ब्रह्मचर्य : एक यज्ञ

छान्दोग्य-उपनिषद के आठवें प्रपाठक का पाँचवां खण्ड ब्रह्मचर्य के सम्बन्ध में विशेष प्रकाश डालता है। उसमें लिखा है—

अथ यद्यज्ञ इत्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तद्, ब्रह्मचर्येण ह्येव यो ज्ञाता तं विन्दते अथ यदिष्टमित्या चक्षते ब्रह्मचर्यमेव तद्, ब्रह्मचर्येण ह्येवेष्टवात्मानमनुविन्दते ॥१॥

"जिसको (धार्मिक लोग) यज्ञ कहते हैं, वह वास्तव में ब्रह्मचर्य ही है क्योंकि ब्रह्मचर्य के द्वारा ही उस परमात्मा को पा सकते हैं और जिसे इष्ट कहते हैं वह वास्तव में ब्रह्मचर्य ही है क्योंकि ब्रह्मचर्य के द्वारा ही, वह ढूंढ करके (इष्ट्वा) आत्मा को पा लेता है।"

लोक परलोक सुधारने वाला यज्ञ

यज्ञ के द्वारा जहाँ इस लोक में अपने इस शरीर तथा अन्तःकरण को बलवान तथा पवित्र बनाया जा सकता है, वहाँ यज्ञ ब्रह्मलोक में ले जाने वाला है। इसका वर्णन 'शतपथ-ब्राह्मण' में आया है। जब जनक जी ने यज्ञ के सम्बन्ध में याज्ञवल्क्य जी से छः प्रश्न पूछे तो उन्होंने बड़े विस्तार से इसका उत्तर दिया। होम की हुई आहुतियाँ जिस प्रकार एक सूक्ष्म रूप धारण करके आकाश में प्रवेश करती हैं और वे वायु तथा उसमें स्थित जल को स्वच्छ तथा पुष्ट करती हैं फिर वह जल मेघ के रूप में नीचे उतरता है जिससे औषध वा अन्न उत्पन्न होता है, अन्न से वीर्य उत्पन्न होता है, इसी प्रकार होम की हुई आहुतियाँ एक दूसरा अत्यन्त सूक्ष्म रूप धारण कर यज्ञ करने वाले के अन्तःकरण में प्रवेश करती हैं।

इस प्रकार यज्ञ की आहुतियों के दो रूप हो गये—एक जो सूक्ष्म रूप से आकाश में प्रवेश करता है और दूसरा संस्कार रूप से अन्तःकरण में। इसमें आकाश सबका सांझा है, इसलिये आकाश में प्रविष्ट आहुतियाँ सबके लिये सांझा फल देती हैं अर्थात् वृष्टि और पुष्टि। परन्तु अन्तःकरण तो सबका पृथक्-पृथक् है सो उसमें प्रविष्ट हुई आहुतियाँ, आहुतियाँ देने वाले ही का परलोक सुधारती हैं।

गृहस्थी भी ब्रह्मचारी

गृहस्थ-आश्रम में जाने वाले महानुभाव शंका कर सकते हैं कि गृहस्थी किस प्रकार ब्रह्मचर्य-पालन कर सकता है? इसका उत्तर भगवान मनु ने पहले ही दे रखा है :

निन्द्यास्वष्टासु चान्यासु स्त्रियो रात्रिषु वर्जयन्।
ब्रह्मचार्येव भवति यत्र तत्राश्रमे वसन्॥ मनु ३।५०॥

'पहली निन्दित छः रात्रियाँ तथा दूसरी और आठ रात्रियाँ—कुल चौदह रात्रियों को छोड़कर जो पुरुष (महीने में) केवल दो रात्रि स्त्री-प्रतिगमन करता है, वह ब्रह्मचारी ही माना जाता है।'

निन्दित छः रात्रियाँ वही हैं जब स्त्री रजस्वला होती हैं; और शास्त्र बताता है कि जब स्त्री मासिक धर्म में हो तो ऐसी अवस्था में जो पुरुष संसर्ग करता है वह अपने आपको भी और अपनी पत्नी को भी अनेक प्रकार की बीमारियों का शिकार बना देता है। ऋषि याज्ञवल्क्य ने भी आदेश दिया है कि :

ऋतावृतौ स्वदारेषु संगीतर्या विधानतः।
ब्रह्मचर्य तदेवोक्तं गृहस्थाश्रमवासिनाम्॥

'ऋतुकाल में अपनी धर्म-पत्नी से शास्त्र-आदेशानुसार केवल सन्तानार्थ समागम करने वाला पुरुष गृहस्थ से रहता हुआ भी ब्रह्मचारी है।' वैदिक संस्कृति में तो विवाह केवल पितृ-ऋण से उऋण होने के लिये है और हमारी संस्कृति ने विवाह को एक धार्मिक तथा पवित्र आश्रम बतलाया है।

दो कफन तैयार

इस जीवन के तत्व 'ब्रह्मचर्य' के रहस्य को यूनान (ग्रीस) के महात्मा सुकरात ने भी समझा था। उनके जीवन में आता है कि एक बार स्त्री-पुरुष के सहवास के सम्बन्ध में एक शिष्य ने सुकरात से पूछा—

शिष्य : पुरुष को स्त्री-प्रसङ्ग कितनी बार करना उचित है?
सुकरात : जीवन भर में केवल एक बार।
शिष्य : यदि इससे तृप्ति न हो सके तो?
सुकरात : तो प्रतिवर्ष एक बार।
शिष्य : यदि इससे भी सन्तुष्टि न हो तो?
सुकरात : फिर महीने में एक बार।
शिष्य : इससे भी मन न भरे तो?
सुकरात : तो महीने में दो बार कर लें परन्तु मृत्यु शीघ्र आ जायेगी।
शिष्य : इतने पर भी इच्छा बनी रहे तब क्या करे?
सुकरात : फिर ऐसा करे कि पहले कफन लाकर घर में रख ले, फिर जो इच्छा हो करे।

योग-दर्शन के साधन पाद में ब्रह्मचर्य के गुण बतलाने के लिए लिखा है :

ब्रह्मचर्य प्रतिष्ठायां वीर्यलाभः॥३८॥

'ब्रह्मचर्य की दृढ़ स्थिति हो जाने पर सामर्थ्य का लाभ होता है।' नियमानुकूल ब्रह्मचर्य धारण करने वाले के मन, बुद्धि, इन्द्रिय और शरीर में अपूर्वशक्ति प्रकट हो जाती है।

सारे ही ऋषियों, मुनियों, तपस्वियों और योगियों ने ब्रह्मचर्य के गुण गाये हैं। क्या आप नहीं जानते कि भारत जैसा देश गुलामी की दलदल में कब फँसा? यह दुर्घटना तब घटी जब पृथ्वीराज संयोगिता के मोह में फँस गया। नैपोलियन जैसा योद्धा के सम्बन्ध में भी यही कहा जाता है कि जब उसके ह्रास का समय आया तो युद्ध पर जाने से पहले वह अपना स्वयं खून कर चुका था। इसलिये आर्य ऋषियों ने मनुष्य-जीवन के चार भागों में से तीन भाग पूर्ण ब्रह्मचर्य में गुजारने का विधान बनाया और चौथे भाग गृहस्थाश्रम में केवल संसार स्थिति के लिए ऋतु-अनुकूल नियमपूर्वक जीवन व्यतीत करने का कड़ा नियम रखा। इतना महत्वपूर्ण यह तीसरा उपस्तम्भ है जो शरीर को स्वस्थ बनाता है।

शरीर को स्वस्थ बनाये रखने के ये तीन मुख्य साधन आयुर्वेद ने बतलाये हैं—आहार, निद्रा और ब्रह्मचर्य। इन अनमोल रत्नों से लाभ उठाइये और जब शरीररूपी रथ ठीक अवस्था में हो तो मानव-जीवन के उद्देश्य की ओर तीव्रता से अग्रसर होकर मंजिल पर पहुँच जाइये।

(तत्वज्ञान से साभार संकलित)

व्यक्ति और समाज व्याहृतियों की छाया में—

लेखक—स्व० स्वामी आत्मानन्द जी महाराज

संसार में कोई प्राणी ऐसा न मिलेगा, जो अपने अस्तित्व की रक्षा न करना चाहता हो। "मैं मिट जाऊँ" इस भाव का प्रकाश कोई प्राणी करना नहीं चाहता। इसके विपरीत यदि कोई उसके विनाश का यत्न करे तो वह अपनी रक्षा के लिए जो कुछ उससे बने पूरा प्रयत्न करता है। वह अस्तित्व दो प्रकार का है "वैयक्तिक" और "सामाजिक"। इन दोनों का परस्पर गहरा सम्बन्ध है, यदि व्यक्ति विकृत या नष्ट हो जावे, तो समाज का अंग-भङ्ग हो जाता है और समाज का अस्तित्व न रहे, तो व्यक्ति के अस्तित्व का कोई प्रश्न ही नहीं रहता।

हमारे धार्मिक साहित्य में व्याहृतियों, ओं भूः, ओं भुवः, ओं स्वः, ओं महः, ओं जनः, ओं तपः, सत्यम् ये सात हैं। मनुष्य के व्यक्तित्व निर्माण का रहस्य तथा उसकी सामाजिक शक्तियों के विकास का तत्व इन्हीं सात व्याहृतियों में गागर में सागर की भाँति भरा हुआ है। इनमें से पहली तीन व्याहृतियों का महाव्याहृति कहा जाता है और शेष को केवल व्याहृति कहते हैं। इन व्याहृतियों के द्वारा मनुष्य के अस्तित्व का निर्माण तथा उसकी रक्षा किस प्रकार होती है। यह इस लेख का प्रतिपाद्य विषय है।

व्याहृति :—व्याहृति नाम ऐसे व्यक्तव्य का है जिसमें अनेक रहस्यों का संग्रह थोड़े शब्दों में किया गया है। जिस संक्षिप्त से वाक्य में गुप्त और अत्यन्त महत्त्वपूर्ण उपदेश भरा हो उसे व्याहृति कहते हैं। आगे व्याहृतियों के अर्थों का उल्लेख किया जावेगा।

'ओम भूः' :—यह पहली व्याहृति है। 'भूः' इसकी उत्पत्ति "भू" धातु से हुई है। भू धातु के प्राप्ति आदि और भी कई अर्थ हैं, परन्तु सत्ता इन सबमें मुख्य है। यों कह सकते हैं कि सत्ता में ही शेष सब अर्थ समाये हुये हैं। सत्ता का अर्थ है "अस्तित्व"। इसलिए यह शब्द सन्देश देता है कि मनुष्य का सबसे पहला कर्त्तव्य अपने अस्तित्व की रक्षा करना है। मनुष्य के अस्तित्व को स्थिर रखने के लिए उसे जिन साधनों, जिस सामग्री अथवा जिस कार्यक्रम की आवश्यकता है उन सबकी रक्षा करना भी अस्तित्व की रक्षा के लिए आवश्यक हो जाता है।

हम पहले लिख आये हैं कि अस्तित्व दो प्रकार के हैं। एक व्यक्तिगत और दूसरा सामुदायिक। ये दो प्रकार के जीवन ही मनुष्य का कार्य क्षेत्र हैं। मनुष्य में जितना आकर्षण अपने व्यक्तित्व के लिए है उतना ही समाज के लिए भी है तब तो ठीक है, अन्यथा उसके जीवन का एक अंश अधूरा है। सङ्घ के बिना मनुष्य असहाय है। यद्यपि कई लोग स्वेच्छा से अरण्यवास पसन्द करते हैं तथापि उनका अन्तिम उद्देश्य सामुदायिक हित के लिए अपने आपको शक्तिशाली बनाना ही होता है। साधु सन्त जङ्गल में रहते हैं, आत्म साक्षात्कार करते हैं, परन्तु अन्त में ऋषि दयानन्द जैसे सम्पन्न महापुरुष अपनी उस संचित शक्ति का प्रयोग जनता की अर्थात् समुदाय की सर्वाङ्गीण उन्नति के लिए ही करते हैं, इस प्रकार व्यक्तिगत, जातीय तथा राष्ट्रीय अस्तित्व की रक्षा करने का संकेत इस पहली व्याहृति से मिलता है। आज मानव अपने सामाजिक अस्तित्व को भुला बैठा है यही कारण है कि समाज का सहयोग न होने से वह अपने व्यक्तिगत अस्तित्व का भी पूर्ण विकास नहीं कर पाता जितना खिन्न हम अपने व्यक्तिगत स्वार्थ की हानि से होते हैं, उतने अपने सामाजिक बन्धन के स्वार्थ की हानि से नहीं होते और यही दशा हमारी हानि के समय हमारे सामाजिक बन्धु की होती है, इस प्रकार परस्पर सहयोग न होने से हम दोनों ही अपने व्यक्तिगत स्वार्थो से वंचित रह जाते हैं। ऐसे अवसरों पर गम्भीर दृष्टिपात कर हमें निर्णय करना चाहिए कि हमारा सामाजिक जीवन हमारे लिए कितना अमर ज्योति का संचारक है। यह सामाजिक जीवन ही तो है जो विद्वेष का विध्वंस कर प्रेम को गद्दी पर बैठाता है, फूट का सिर फोड़ संयोग का समाधान करता है और मैं का मान मर्दन कर हम के भव्य भाव को अन्तःकरण में जागृत करता है। 'भू' धातु का दूसरा अर्थ है प्राप्ति। अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए मनुष्य कुछ न

कुछ प्राप्त करना चाहता है, "भूमि, भवन, भोजन, भगवान, यश, धन, बल, सुख, ओज, महान"।

प्रायः ये ही उसकी प्राप्ति की वस्तुएँ हैं। इनके प्राप्त कर लेने पर उसके अस्तित्व का पूर्ण निर्माण होता है। इनमें से प्रत्येक वस्तु की प्राप्ति के लिए कितने ही मनुष्य पशु आदि सहयोगियों की आवश्यकता पड़ती है और बिना सामाजिक जीवन को सुन्दर बनाये उचित रूप में यह संयोग सम्भव नहीं। यजुर्वेद के चालीसवें अध्याय से स्पष्ट कहा है "सब की आत्माओं को अपनी आत्मा में और अपनी आत्मा को सब की आत्माओं में समझो, सामाजिक भावना को और भी सुन्दर बनाने के लिए आगे चलकर दूसरे मन्त्र में कहा—सब की आत्माओं को अपनी आत्मा और अपनी आत्मा को सब की आत्मा समझो। तात्पर्य यह ही है कि अपनी तरह सब ही को सुखी बनाने का यत्न करो। कैसा सुन्दर मार्ग है—हम के बिना मैं का और मैं के बिना हम का सुन्दर निर्माण असम्भव है। बस यह व्याहृति हमें अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए व्यक्ति और समाज दोनों का साथ-साथ ही निर्माण सिखाती है।

ओम् भुव :—'भुवः' यह शब्द भी भू धातु से ही बना है। इसलिए इसके भी सत्ता और प्राप्ति दोनों अर्थ हैं। इन दोनों के अर्थ में थोड़ा सा अन्तर भी है। भू का अर्थ है अस्तित्व का निर्माण करना और भुवः का अर्थ है निर्माण की भावना करना। भूः व्याहृति के कार्यक्रम में शरीर और इन्द्रिय का प्रयोग है और भुवः के कार्य क्षेत्र में हृदय का प्रयोग है। भू का सम्बन्ध पृथ्वी से है तो भुवः का अन्तरिक्ष में वर्तमान शक्तियों से। तात्पर्य यह है कि भूः का कार्य क्षेत्र हमारे स्थूल शरीर का निर्माण करता है और भुवः के कार्य क्षेत्र में सूक्ष्म शरीर को उन्नत बनाया जाता है। स्थूल शरीर तथा स्थूल इन्द्रियों की चाहे कितनी भी उन्नति कर ली जावे, परन्तु सूक्ष्म शरीर के प्रधान तत्त्व अन्तःकरण का उत्थान हुए बिना व्यक्ति और समाज दोनों एक साथ उन्नति करनी कठिन होगी। यह ठीक है कि स्थूल शरीर के द्वारा हम अनेक पदार्थों का निर्माण और उसकी प्राप्ति कर सकेंगे; परन्तु अन्तःकरण में उदार भावनाओं का विकास किये बिना उन प्राप्त की हुई वस्तुओं को समाज का समझना हमारे लिए कठिन होगा। आज के युग में भूः का आश्रय लिया जा रहा है भुवः का नहीं; यह ही कारण है कि आज प्राणी-जगत दुःख के साँस ले रहा है। भुवः का अर्थ दुःखों का दूर करना इसलिए किया जाता है, कि भुवः का आश्रय लेने पर ही हम प्राणि मात्र के कल्याण की भावना कर, स्वयं भी सुखी हो सकते हैं और दूसरों को भी सुखी बना सकते हैं।

ओम् स्वः—"स्वर" यह तीसरी व्याहृति है। 'स्वर' का अर्थ आनन्द भी है। "स्वर ज्योतिरगामहम्" (मैं स्वर नामक ज्योति के पास पहुँच गया), इस मन्त्र भाग के अनुसार स्वर का ज्योति अर्थ भी है। और "सुवर्गेयाय शक्तया" (शक्ति से उत्तम वर्ग में जाने के लिए) इस मन्त्र भाग के अनुसार इस स्थान को उत्तम वर्ग में रहने का स्थान भी माना गया है। आनन्द शब्द उपनिषदों में ब्रह्म के अर्थों में आता है, सबसे महान् ज्योति भी ब्रह्म ही है। इन दो अर्थों को जानकर यह बिना कठिनाई के ही समझ में आ जाता है कि उस उत्तम वर्ग का निवास स्थान भी ब्रह्म ही है। ब्रह्म में मुक्त आत्माओं का प्रवेश ही सम्भव है; इसलिये यहाँ उत्तम वर्ग का अर्थ होगा मुक्त आत्माओं का झुण्ड।

स्वर शब्द का अर्थ जानने के बाद पाठक समझ गये होंगे कि हमारे पहली दो व्याहृतियों के द्वारा प्रकट किये गये, स्थूल और सूक्ष्म दोनी ही क्षेत्रों के कार्यक्रम का अन्तिम लक्ष्य स्वर्ज्योति की प्राप्ति है। अर्थात् ब्रह्म रूपी परमज्योति के अन्दर प्रवेश है। इस कार्यक्रम को अपनाने के बाद ही हमारा अस्तित्व पूरा होता है और हमें वह वस्तु मिल जाती है जिसकी प्राप्ति के बाद और कुछ प्राप्त करने योग्य नहीं रह जाता।

हम पहले लिख आये हैं कि इन तीनों व्याहृतियों को महाव्याहृति कहते हैं। संक्षेप में इनका भाव जान लेने के बाद पाठक यह समझ गये होंगे कि ये तीनों व्याहृतियाँ मनुष्य जीवन के पूर्ण लक्ष्य पर पूरा प्रकाश डालती हैं। इसलिए इनका यह नाम सार्थक है। इन तीनों महाव्याहृतियों द्वारा प्रकट किये परम लक्ष्य की प्राप्ति के लिए ही शेष चार व्याहृतियों के आदेश का अनुसरण आवश्यक है, यह भाव आगे की चार व्याहृतियों में स्पष्ट किया जायेगा।

ओम् महः—इस व्याहृति का अर्थ है महत्व-बड़प्पन। संसार के कार्यक्षेत्र में आकर खड़ा होते ही मनुष्य को समझ लेना चाहिए कि मैं महान् हूँ। जब मनुष्य ऐसा समझ कर कार्यक्षेत्र में आकर खड़ा होगा तो उसके लिये यह सम्भव है कि किसी समय वह अपने महत्व पर आये हुए आवरण को उतार कर फेंक सकेगा और अपने वास्तविक स्वरूप महत्व को प्राप्त कर सकेगा। परन्तु जिसने अपने आपको पहले ही हीन समझ लिया है उसका अपने आप तो महत्व की ओर अग्रसर होना कठिन दूर की बात है, दूसरे के सहारे से भी आगे बढ़ना असम्भव हो जाता है। न उसका व्यक्तिगत उत्थान होता है और न वह समाज का अंग ही बनने योग्य होता है। भारत के दलित वर्ग की ओर भारत के ही नहीं सारे संसार के ही दलित वर्ग की चिरकाल से ऐसी ही अवस्था देखने में आ रही है। भारत के उन्नत वर्ग ने उन्हें समय-समय पर, महाशय, हरिजनादि जिन-जिन उत्तम शब्दों से सम्बोधित किया अपने महत्व की ओर ध्यान न देने के कारण वे शब्द उनके काल्पनिकहीन स्वरूप के साथ जुड़ने के कारण हीन ही होते चले गये।

आत्मा और आत्मा में परस्पर भेद क्या है। मानव शरीर और मानव शरीर एक जैसे ही तो हैं। भेद केवल इतना ही है कि एक ने अपने महत्व को समझ कर उसे माँज धोकर निखार लिया है, और दूसरा खान में पड़े हुए मिट्टी से लथपथ हीरे की तरह अपने आपको हीन ही समझता आ रहा है। दलित वर्ग की इस भावना को अपनाने में इस वर्ग का ही हाथ नहीं है समाज का भी इसके पतन में गहरा भाग है। स्वार्थी समाज ने अपने दास ही बनाये रखने के लिये अथवा किसी और कारण से, इनके महत्व को मलिनता के आवरण से बाहर निकलने ही नहीं दिया। अपने इस कर्म के फल को भी समाज ने कम नहीं भोगा। भारत के पहले के और अबके सब के सब अंग भंग समाज की इसी हीन नीति के परिणाम हैं। परन्तु अब भी समाज उसी मार्ग पर चल रहा है।

समय-समय पर ऋषि दयानन्द और महात्मा गांधी जैसे महापुरुष आये और चले गये, परन्तु फिर भी समाज के कान पर जूँ न रींगी। समाज कह सकता है कि हमने उन्हें आर्य नाम दिया, महाशय नाम दिया और हरिजन नाम दिया। ठीक है दिया, परन्तु आप किसी निर्धन का नाम करोड़पति रखते रहें उससे उसे क्या लाभ। यह शब्द तो उल्टा उसके उपहास का कारण बनेगा। माना जा सकता है कि यदि समाज उसे धन देता, भूमि देता, विद्या देता, वर्ण देता और रोटी बेटी देता तो यह वर्ग समाज का प्रबल अंग रीढ की हड्डी बनता, और समाज के हाथों उसका महत्व निखर जाता। हम यह कहना चाहते हैं कि जब तक समाज और समाज के व्यक्ति अपना और अपने अंगों के महत्व को जागृत नहीं करते तब तक महाव्याहृतियों के क्षेत्र में जाने का अवसर मिलना कठिन है। इस चौथी व्याहृति का लक्ष्य तब ही पूरा होगा, जब कि समाज अपने एक भी व्यक्ति को हीन देखकर तड़प उठेगा और उसके वास्तविक उत्थान में अपना सर्वस्व लगाने को उद्यत हो जावेगा। व्यक्ति, समाज और राष्ट्र महान् हैं, यह ही इस व्याहृति का निर्देश है।

ओम जनः —यह पांचवीं व्याहृति है। इस व्याहृति का अर्थ है प्रजनन सन्तान का उत्थान। व्यक्ति और समाज के अस्तित्व तथा उसके महत्व की आधार शिला प्रजनन से रखी जाती है। यह ही कारण है कि आर्य जाति में गर्भाधान संस्कार को बहुत महत्व दिया गया है। एक आर्य यहाँ से ही अपनी सन्तान का निर्माण आरम्भ कर देता है। यदि बाल्य-अवस्था में ही उसके महत्व को जगाना आरम्भ न किया तो उसका अस्तित्व निर्जीव हो जावेगा, या किसी महान् आवरण के गर्भ में जा छिपेगा। इसलिये व्यक्तिगत और सामाजिक दोनों ही जीवनों के उत्थान का आरम्भ प्रजनन से ही होता है। इसलिये माता पिता बनने वाले नवयुवकों को सन्तति निर्माण के सब उपायों को प्रयोग में लाकर इस व्याहृति के आदेश का पालन करना चाहिये।

ओम् तप :—तप का संक्षिप्त अर्थ है कष्ट सहन करना। सन्तान निर्माण, महत्व का विकास, आनन्द की प्राप्ति, सूक्ष्म शरीर की भावना और स्थूल शरीर की कर्म क्षेत्र में प्रगति ये सारे ही कार्य ऐसे हैं कि उनके मार्ग में कष्टों का आना आवश्यक है। इन कष्टों के अवसर पर जो मनुष्य भीरू बनकर पग पीछे हटा लेगा, उसे बढ़ाने का कोई और भी अवसर बिना कठिनाई के मिल सकेगा यह सम्भव नहीं। महर्षि दयानन्द के जीवन के आरम्भिक भाग को एक सूत्र से ओत-प्रोत पाते हैं। इन दोनों भागों में हमें स्पष्ट ही एक सूत्र जगदीश की झलक दिखाई

पड़ती है। पत्थरों, तलवारों, विषों, सिंहों और भयङ्कर वनों के झमेलों में होकर न टूटता हुआ, यह सूत्र अन्त तक कैसे जा पहुँचा। इस प्रश्न की छानबीन कर उत्तर देते समय हमें एक ही साधन दृष्टिगोचर हुआ है, और उसका नाम है तप। माता-पिता के भी सन्तान के निर्माण में इसी प्रकार के तप का आश्रय लेना पड़ेगा, तो ही वे इस व्याहृति से लाभ उठाकर अपने समाज तथा अपना स्थान ऊँचा कर सकेंगे।

ओम् सत्यम्—सत्य का अर्थ है मन, वाणी और कर्म में समानता। यह एक ऐसा सिद्धान्त है जिसे विश्वास का जन्मदाता कह सकते हैं। विश्वास के अभाव में समाज टुकड़े-टुकड़े हो जाता है और व्यक्ति बिखर कर असहाय पड़े रह जाते हैं। इस व्याहृति के इस प्रकार निरर्थक हो जाने पर शेष सब व्याहृतियाँ भी अपने-अपने काम को करने में असमर्थ रह जाती हैं। धर्म की सबसे पुष्ट आधार शिला सत्य है और यह ही आचार का सब से बड़ा मूलमन्त्र है। समाज के सङ्गठन का यही मूलाधार है और व्यक्ति के विकास का आधार यह ही है। ऋषि दयानन्द जैसे महापुरुषों के जीवन इस सत्य के ही प्रकाश से चमक रहे हैं और चमकते रहेंगे। हम व्यक्ति और समाज में सत्य को पैदा करें यह ही सातवीं व्याहृति का उपदेश है।

हमने संक्षेप में इन सातों व्याहृतियों के भाव को व्यक्ति और समाज के उत्थान में परम साधन कहा है, पाठक इस विषय पर विचार करें।

संस्मरण—गुरुडम के विरोधी दयानन्द

कविराज श्यामलदास ने स्वामी जी से कहा कि आपका कोई स्मारक चिन्ह बनना चाहिये। उन्होंने उत्तर दिया ऐसा न करना, अपितु मेरे शव की भस्म किसी खेत में डाल देना, जिससे वह खाद के काम आवे। स्मारक न बनाना ऐसा न हो कि मूर्ति की भाँति उसका पूजन होने लगे।

सन्ध्या करना धर्म, न करना पाप है।

पण्डित लेखराम जी सन्ध्या वन्दन में बड़े पक्के थे। एक बार वे महात्मा मुन्शीराम जी के साथ शिक्रम में लुधियाना से जगरांव जा रहे थे। मार्ग में पानी लेकर शौच गये। लौटने पर पता लगा कि हाथ-पैर धोने और कुल्ला करने के लिए पानी नहीं है। संध्या का समय हो चुका था। पण्डित जी संध्या करने बैठ गये। जब संध्या कर चुके तब एक व्यक्ति ने दिल्लगी में पूछा—पण्डित जी ! क्या पेशावरी संध्या कर चुके। पं० जी ने गम्भीर स्वर में कहा—तुम पोप हो जो बिना पानी मिले ब्रह्मयज्ञ नहीं कर सकते। भोले भाई ! स्नान कर्म्म है, हुआ या न हुआ। परन्तु संध्या धर्म है और उसका न करना पाप है।

धैर्य धुरन्धर पं० लेखराम

पण्डित लेखराम १५ मई १८९५ को लाहौर से अपनी धर्म पत्नी को लेकर घर कहूठा पहुँचे। १८ मई के प्रातः उनके घर में पुत्र उत्पन्न हुआ। पं० जी ने वैदिक रीति से बच्चे का नामकरण संस्कार किया और सुखदेव नाम रखा। २२ मई को पुनः अपनी यात्रा पर चल दिये। १२ जून १८९५ को इनके छोटे भाई तोताराम का देहान्त हो गया। उनके कुछ दिन पश्चात् इनके पिता जी का भी देहान्त हो गया परन्तु धर्म-प्रचार में व्यग्र लेखराम घर नहीं पहुँच सके। जब इनका पुत्र रोग शय्या पर पड़ा था ये शिमला आर्य समाज के वार्षिकोत्सव को सफल बना रहे थे। वहाँ से २६ अगस्त को जालन्धर लौटे, सब प्रयत्न किया परन्तु इनका व्याघ्र पुत्र २८ अगस्त १८९६ को इन्हें छोड़ कर परलोक चल दिया। परन्तु फिर भी पण्डित जी के चेहरे पर विषाद की कोई रेखा न आने पाई। ●

ओ३म्

संयम और जीवन

लेखक—वेद पथिक पं० धर्मवीर आर्य झंडाधारी, व्याख्यान भूषण
मन्त्री—मधुबन शहीद स्मारक समिति मधुबन—आजमगढ़।

(१) संयम मानव जीवन की उन्नति का मूल मन्त्र है।

(२) संयम, सदाचार, सन्तोष, सद्विचार, शुभ-कर्म साहस, सज्जनता, सौम्यता, सुचिता, स्वाध्याय और सत्संग मानव जीवन की उन्नति का सबल सहारा है।

(३) संयम से ही मनुष्य स्वस्थ और शतायु होते हैं।

(४) संयमी पुरुष ही इस विशाल विश्व में कीर्ति-कारक सुयश रूपी विपुल रत्न कोष को प्राप्त करते हैं।

(५) संयम से ही ब्रह्मचर्य व्रत की रक्षा मनुष्य करके मानव-धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष सुखों का स्वामी बन पाता है।

(६) संयम हीन मनुष्य इस पृथ्वी पर भार समान हैं।

(७) संयम हीन मनुष्य नाना दुःख द्वन्दों से इस संसार में शीघ्र ही भस्मसात् होते देखे जाते हैं।

(८) संयम रूपी पारस मणि को प्राप्त करके मानव कुन्दन के समान चमक उठता है।

(९) संयम रूपी अमृत रस को प्राप्त कर मानव इस धरा पर सूर्य और चन्द्र के समान चमक और दमक उठता है।

(१०) संयम के साँचे में अपने जीवन को ढाल कर अपना जीवन तेजस्वी, वर्चस्वी और अनुकरणीय बनाकर मृत्यु पर विजय प्राप्त करो यह वेद भगवान का उपदेश है।

(११) संयम युक्त जीवन बनाकर अपना-जीवन तपस्या से पूर्ण बनाकर सदा प्रमुदित और प्रफुल्लित हिय हर्षित रहो।

(१२) संयम मानव-जीवन का भव्य भूषण है।

(१३) संयम से ही मानव में अपरिमित-आत्म-बल, संकल्प-बल और मनोबल प्राप्त होता है।

(१४) संयम से ही मानव वेदों, शास्त्रों और उपनिषदों एवं धर्म ग्रन्थों के तत्व बोध से बोधित हो पाता है।

(१५) जीवन की जटिल समस्याओं का समाधान चाहते हो तो संयम रूपी पारस मणि को प्राप्त कर अपनी इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करो—यह महर्षियों का संदेश है।

(१६) पुरुषार्थ रूपी पारस-मणि को प्राप्त करना चाहते हो तो अपने जीवन को संयमी बनाओ।

(१७) संयम मानव-जीवन का सच्चा-धन है।

(१८) विवेक और वैराग्य के पावन-पराग को प्राप्त करना चाहते हो तो जीवन को संयमी बनाओ।

(१९) शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति के लिए संयम रूपी विपुल रत्न-कोष के स्वामी बनो। यह संयम भव सिन्धु का पतवार है।

(२०) संयम से अपने जीवन को यज्ञ-मय बना कर अक्षय सुखों को प्राप्त कर मालो-माल बनो।

(२१) संयम से ही आशा रूपी अमृत धन को प्राप्त किया जाता है।

(२२) संयम से ही धर्म तत्व का बोध मानव को प्राप्त होता है।

(२३) संयम ही तो शुभ गुणों की खान है।

(२४) संयम वह रत्न है जिसे प्राप्त कर लेने पर मानव तृप्त हो जाता है।

(२५) संयम काम धेनु और कल्प वृक्ष है।

(२६) सुखी और शान्त रहकर मोक्ष अवस्था में विचरण करना चाहते हो तो संयम युक्त बनो।

(२७) संयम से ही मानव अपना खान-पान पवित्र बना पाता है।

(२८) संयम के बिना आहार शुद्धि नहीं होता है।

(२९) संयम के बिना मानव चाहे करोड़पति हो, परन्तु वह महा कंगाल है।

(३०) संयम युक्त जीवन प्राचीन काल में महर्षियों, महात्माओं और युग-पुरुषों का होता था जिनका सुयश आज दशों दिशाओं में गूंज रहा है।

(३१) है उसी का कीतिकारक नाम इस संसार में। दे दिया सर्वस्व जिसने विश्व के उपकार में॥

(३२) त्रिविध तापोंके अभिशापों और पापों से बचना चाहते हो तो अपना जीवन संयमित बनाकर परमात्मा के चिन्तन में लगाकर चिन्ताओं की चिता से बचो।

(३३) अपना जीवन संयमित बनाकर प्रतिपल जीवन संग्राम में आगे बढ़ो—यह वेद भगवान का अनुपम उपदेश है।

(३४) संयम से ही मानव को कर्त्तव्य पथ का बोध प्राप्त होता है।

(३५) संयम से ही मानव परम देव परमात्मा को प्राप्त कर लेता है।

(३६) संयम से ही मानव मानवीय गुणों से अलंकृत अपने आप को बना पाता है।

(३७) संयम और सद्विचारों के विपुल रत्न-कोष को प्राप्त कर मानव सुमन-समान बन पाता है।

(३८) संयम से ही मानव के उर-अन्तर में सद्-बुद्धि का उदय होता है।

(३९) संयम से ही मानव जीवन में विश्व-निर्माण, विश्व-कल्याण और लोकोपकार की भव्य-भावनाओं का उदय होता है।

(४०) संयम के बिना मानव और दानव मे कोई अन्तर नहीं है।

(४१) संयम मानव जीवन का मकरन्द-कमल है।

(४२) संयम मानव जीवन की उन्नति का वह अमूल्य थाती है जिसे प्राप्त कर मानव निहाल हो जाते हैं।

(४३) संयम मानव जीवन की सर्वांग उन्नति का मूल मन्त्र है।

(४४) संयम मानव का सच्चा मित्र है।

(४५) संयम आर्य जीवन की सुवासित सुगन्ध है।

(४६) संयम से ही साहस, प्राकर्म का विपुल धन मनुष्य को प्राप्त होता है।

(४७) संयम के बिना मनुष्य मन पर विजय लाख यत्न करने पर भी नहीं प्राप्त कर पाता है।

(४८) मनस्वी बनो, चरित्र बल के धनी बनो। संयम को अपनाओ, अन्यथा जीवन में कुछ कर नहीं सकोगे।

(४९) संयम में ही मानव जीवन का सौन्दर्य निखरता है।

(५०) संयम के बिना मनोनिग्रह नहीं होता है और न वैदिक कर्म कांडों में मन लग पाता है। अतः संयमी बनकर शतायु बनो।

(५१) संयम और सद्विचारों के रत्न-कोष के बिना इस संसार में मनुष्य कौड़ी की तीन-तीन हैं।

(५२) संयम की सुगन्ध से मानव युगों तक इतिहास के आकाश में चमकता और दमकता रहता है।

(५३) संयम और साहस ही तो मानव जीवन का उज्ज्वल अध्याय अलौकिक अलभ्य रत्न-धन है।

(५४) संयम के विपुल धन से समृद्ध बनकर परम आनन्द और सुख-शान्ति को प्राप्त कर अपने जीवन को सफल बना लो, अन्यथा हाथ मल-मल कर पछताने से क्या हाथ लेगा।

(५५) संयम से ही वैदिक विचार धारा की अमृत धारा को प्राप्त कर अमर पद पाओगे।

(५६) संयम से ही सुमति, सौरभ-सौन्दर्य की रवि-छवि-छटा की घटा से अपने जीवन को प्रकाशमान बना सकोगे।

(५७) संयम के सूत्र में ही यह विश्व का प्रबल प्रवाह प्रवाहित हो रहा है। अतः अपने जीवन को सादा संयमित बनाकर वेद पथ के पथिक बनो।

(५८) संयम वह रत्न धन है जिसे प्राप्त किये बिना हृदय के शूल मिटते ही नहीं हैं।

(५९) संयम के बिना हृदय-आकाश में मानव को परमात्मा का दिव्य-दर्शन होता नहीं है।

(६०) संयम से ही मानव संस्कार-युक्त, सदाचारी, ब्रह्मचारी, धर्म धारी, व्रतधारी वीर और विनम्र विवेकशील बन पाता है।

(६१) संयम के बिना विद्वान् भी मूर्ख के समान सद्गुणों से शून्य और निन्दनीय है।

(६२) उत्तम कार्यों को कमाने के लिए धर्म-युक्त और वेदोक्त जीवन बनाने के लिए अपना जीवन संयम-शील बनाओ।

(६३) जीवन के अन्तिम स्वांस तक आशावादी बनकर संयम का सहारा लेकर विश्व-बन्धुत्व की भव्य-भावनाओं का प्रबल प्रचार प्रतिपल करते रहो।

(६४) संयम का सहारा लेकर शास्त्र-मर्यादाओं का पालन करते हुए अपने हृदय-आकाश में अरबों वर्ष के शाश्वत शब्दों को सुनने और समझने का अभ्यास करो।

(६५) संयम से मानव कलुषित विचारों को भस्म-सात् कर देने में शीघ्र समर्थ होते देखे जाते हैं।

(६६) संयम के द्वारा वैदिक युग का, धर्म युग का निर्माण करो—यह वेद भगवान का अनुपम उपदेश है।

(६७) संयम और सद्विचारों से ही मानव को परम-तत्व का बोध होता है।

(६८) संयम से ही परमात्मा का साक्षात्कार महर्षि, महात्मा एवं योगी जन किया करते थे।

(६९) संयम से मानव शान्ति, सन्तोष और धैर्य एवं धर्म के साथ ही आत्म-दर्शन को प्राप्त करता है।

(७०) सुख-आनन्द, ऐश्वर्य एवं अमृत को प्राप्त करना चाहते हो तो अपने जीवन को संयमित बनाकर मोक्ष अवस्था में विचरण करना सीखो। यह संयम श्रुति-सुधा का सार है।

(७१) संयम और साधना एवं आराधना से मानव को इष्ट सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं।

(७२) संयम से उदारता, सज्जनता, सहृदयता, विनम्रता, विवेक और वैराग्य के पावनपराग का अनुपम अनुराग प्राप्त होता है।

(७३) संयम से विश्व-प्रेम का अमृत कलश प्राप्त किया जाता है।

(७४) संयम-युक्त जीवन से मानव के हृदय आकाश में अनन्त प्रकाश की जगमग-ज्योतियों के मोतियों का दिव्य-दर्शन होने लग जाता है।

(७५) संयम में अनन्त सुखों का रत्न-कोष निहित है।
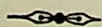
संस्करण—निर्लोभी दयानन्द

एक दिन महाराणा उदयपुर ने एकान्त में महर्षि दयानन्द से निवेदन किया—कि आप मूर्ति पूजा का खण्डन न करें। ऐसा करने से आप एकलिंग के महत्व बन जायेंगे। आपका कई लाख रु० का अधिकार हो जायेगा और एक अर्थ में यह राज्य भी आपके अधीन रहेगा। महाराणा के इस प्रस्ताव को सुनकर महर्षि बोले कि आप लोभ देकर मुझसे सर्व शक्तिमान परमेश्वर की आज्ञा भंग कराना चाहते हैं। यह छोटा सा राज्य और उसके मन्दिर जिससे मैं एक दौड़ में बाहर हो सकता हूँ मुझे कभी भी वेद और ईश्वर की आज्ञा भंग करने पर उतारू नहीं कर सकते। मैं कदापि सत्य को छोड़ व छिपा नहीं सकता।

लोकतन्त्र के सुसंचालन के लिए श्रेष्ठतम् मानव प्रकृति आवश्यक है
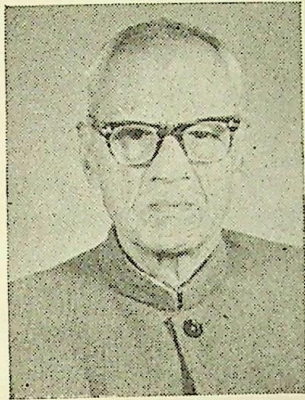
लेखक—रघुनाथ प्रसाद पाठक

अमेरिका के एक नागरिक ने हर्बर्ट स्पेंसर से भेंट करके प्रश्न किया कि 'क्या शिक्षा और राजनीतिक विचारों का प्रचार लोकतन्त्र के नागरिकों के लिये उपयुक्त होगा ? इसका उत्तर हर्बर्ट स्पेंसर ने इस प्रकार दिया था :—

"नहीं। यह मुख्य रूप से चरित्र का और गौण रूप में ज्ञान का विषय है। यह व्यापक भ्रम है कि शिक्षा से राजनीतिक बुराइयाँ दूर हो सकती है। आपके समाचार पत्रों में प्रतिदिन प्रकाशित होने वाले समाचार इस बात के प्रमाण हैं ? क्या वे व्यक्ति जो आपके शासन के संचालक हैं; और जो नियमों एवं परम्पराओं का उल्लंघन तथा एकतर्फा आन्दोलन करते हैं शिक्षित व्यक्ति नहीं है ? क्या उनकी शिक्षा ने उन्हें रिश्वत लेने या गर्हित उपायों का अवलम्बन करने से रोका है ? हो सकता है कि दलीय समाचार पत्र इन बुराइयों को बढ़ा चढ़ाकर छापें। परन्तु उस साक्षी का क्या किया जाय जो सिविल सर्विस के सुधारक जिनमें सभी दलों के लोग सम्मिलित हैं प्रस्तुत कर रहे हैं ? यदि मैं स्थिति को ठीक समझता हूँ तो वे सब उस प्रणाली को भयंकर और भ्रष्टाचार पूर्ण बताकर उस पर आक्रमण कर रहे हैं जो आपकी स्वतन्त्र संस्थाओं की स्वाभाविक प्रक्रिया से विकसित हुई है।

वे सब उन बुराइयों को प्रकाश में ला रहे हैं जिन्हें रोकने में शिक्षा असमर्थ सिद्ध हुई।

विशेष राजनीतिक दल के लोगों को अनेक लाभ पहुँचते हैं परन्तु साधारण नागरिक को बहुत कम लाभ होता है। बुराई की जड़ में सूचनाओं का अभाव नहीं अपितु सदाचार की भावना का अभाव होता है।

सच्चाई यह है कि स्वतन्त्र संस्थाओं का सम्पर्क संचालन उन्हीं व्यक्तियों के द्वारा हो सकता है जिनमें से प्रत्येक अपने अधिकारों और साथ ही अन्यों के अधिकारों के प्रति सजग हों जो न तो छोटे या बड़े मामले में अपने पड़ौसी के अधिकारों का हनन करें और न दूसरों के द्वारा उनका हनन होने दें।

लोकतन्त्र की शासन प्रणाली उच्चतम प्रणाली होती है अतः इसके लिये श्रेष्ठतम मानव प्रकृति की आवश्यकता होती है जो वर्तमान में कहीं नहीं देख पड़ती। न तो हममें इसका अपेक्षित विकास हुआ है और न आप अमेरिकनों में।

श्री हर्बर्ट स्पेंसर ने जिस राजनीतिक दुरवस्था की चर्चा की है उससे मिलती जुलती दुरवस्था हमारे जनतन्त्र में विद्यमान है।

शिक्षा का लक्ष्य मनुष्य को मनुष्य बनाना है। आधुनिक शिक्षा प्रणाली इस कार्य में असफल सिद्ध हुई है। बुरे मनुष्य अच्छे नागरिक नहीं बन सकते। शासकों के अनुरूप प्रजा होती है। शासक अच्छे हों तो प्रजा भी

अच्छी होती है। यदि वे बुरे और भ्रष्टाचारी हों तो प्रजा भी भ्रष्टाचारी बन जाती है। नागरिक अच्छे हों, शासक अच्छे और कर्त्तव्य परायण हों तो जनतन्त्र की सुरक्षा और स्थिरता सुनिश्चित हो जाती है।

भारत की राजनीतिक स्वतन्त्रता का ध्येय अपने ओर आने वाली सन्तप्ति के भाग्य का निर्माण करना था। हमारी ये आशायें धूल में मिलती देख पड़ रही है। दुर्भाग्य से हमारा प्रशासन राजनेताओं के हाथ में है राजनीतिज्ञों के नहीं। हमारे राजनेता पार्टी को देखते हैं देश को नहीं। अगले चुनाव को देखते हैं अगली पीढ़ी को नहीं। वर्तमान पीढ़ी के वोटों को देखते हैं अगली पीढ़ी के वोटों की उन्हें चिन्ता नहीं है।

जनतन्त्र प्रशासन के वरदान बनने के लिये राष्ट्रीय चरित्र का होना परमावश्यक होता है। हममें इसकी खेदजनक कमी है। सदाचार विहीन आजादी अभिशाप होती है। यदि हमारा सदाचार आजादी के वरदानों को स्थिर न रख सका तो हम इससे वंचित हो सकते हैं या तानाशाही के चाबुक खाते रह सकते हैं। भ्रष्टाचार, अपराध और स्वार्थपरता से उत्पन्न अराजकता की व्याप्ति को देखकर ऐसा लगता है मानों लोगों के हृदयों से ईश्वर और राज्य का भय निकल गया है। स्वतन्त्रता और समानता के सिद्धान्तों के साथ स्वार्थपरता का गठ बन्धन हो जाने पर वे मनुष्य को दानव बना देते हैं। यहीं पर धर्म और उसकी शक्ति की आवश्यकता होती है जिससे कि लोग 'स्व' को पर में परिवर्तित करने और ईश्वर, राज्य और अन्तरात्मा के आदेशों और नियमों का परिपालन करने की दिशा में प्रवृत्त एवं अग्रसर हो सकें।

वेंजमिन फ्रेंकलिन का कहना था कि यदि घरों में बाइबिल हो, अच्छे समाचार पत्र आते हों और स्थान-स्थान पर अच्छे विद्यालय हों और ध्यानपूर्वक अध्ययन, मनन और क्रियान्वयन हो तो निश्चय ही सदाचार का प्रसार होकर नागरिक की स्वतन्त्रता और श्रेष्ठता सुरक्षित रहें।

हम भारतवासी प्रत्येक नागरिक के घर में वेद हों, आर्य सन्तिक हो, अच्छे समाचार पत्र घर में आते हों, और स्थान-स्थान पर चरित्र का निर्माण करने वाले शिक्षणालय हों और उनका ध्यान पूर्वक अध्यापन, मनन और क्रियान्वयन और सुदेचालक हो तो निश्चय ही हमारा सदाचार का स्तर बहुत ऊँचा उठ जाय और हमारी आजादी न केवल हमारे लिये ही अपितु आने वाली पीढ़ियों के लिए भी वरदान बनकर सुरक्षित हो जाय।

संस्मरण—शक्ति-पुञ्ज दयानन्द

मेरठ की घटना है एक रात्रि ९ बजे बैनीप्रसाद और उनके कुछ मित्रों ने महाराजा की सेवा में उपस्थित होकर कहा कि हम आपके पैर दबाना चाहते हैं। महर्षि जान गये कि इस कहानी से वह लोग उनके बल की परीक्षा करना चाहते हैं। अतः उन्होंने कहा कि पैर तो पीछे दबाना पहले हमारे पैर को उठाओ। यह कह कर उन्होंने पैर फैला दिये। युवकों ने बहुतेरा बल लगाया परन्तु पैर को न उठा सके।

ब्रह्मचर्य का प्रताप

जालंधर में सरदार विक्रम सिंह ने स्वामी जी से कहा कि सुनते हैं ब्रह्मचर्य से बहुत बल बढ़ता है। स्वामी जी ने उत्तर दिया कि यह सत्य है और शास्त्रों में भी ऐसा कहा गया है। वह बोले कि आप भी ब्रह्मचारी हैं परन्तु आप में बल प्रतीत नहीं होता। महाराज इस समय तो चुप रहे किन्तु एक दिन जब सरदार विक्रमसिंह अपनी दो घोड़ों की गाड़ी पर सवार हुए तो स्वामी जी ने चुपके से उनकी गाड़ी का पिछला पहिया पकड़ लिया। कोचवान के चाबुक मारने पर भी जब घोड़े आगे न बढ़े तो कोचवान और सरदार ने पीछे मुड़कर देखा कि स्वामी जी ने गाड़ी का पहिया पकड़ा हुआ है। स्वामी जी बोले—मैंने यह ब्रह्मचर्य-बल का आपको परिचय दिया है। ■

आर्य समाज की स्थापना क्यों ?

लेखक—श्री ओम प्रकाश शास्त्री, विद्या भास्कर शास्त्रार्थ महारथी, खतौली।

महर्षि दयानन्द जी ने आर्य समाज की स्थापना क्यों की ? जबकि उस काल में अनेक कथित बहुसंख्य धर्मों के अतिरिक्त अनेक सम्प्रदाय विश्व में प्रचलित थे। इस प्रकार के प्रायः सभी सम्प्रदाय अपने-अपने संस्थापनों के नाम पर संस्थापित थे जिनका उद्देश्य उक्त संस्थापकों के वैयक्तिक नूतन सिद्धान्तों अथवा विचारों के प्रचार प्रसार के अतिरिक्त संस्थापकों के प्रति श्रद्धा भाव फैलाना भी था। इस प्रकार प्रचलित उक्त सम्प्रदाय परस्पर वैचारिक मतभेदों के कारण पारस्परिक विद्वेष, संघर्ष तथा घृणा फैलाने के मुख्य कारण बने हुए थे। परिणाम स्वरूप गत ४, ५ सहस्र वर्षों का धार्मीक इतिहास, पारस्परिक साम्प्रदायिक संघर्षों अथवा अत्याचारों से भरा दिखाई देता है।

ऐसे विश्वव्यापी दूषित वातावरण में महर्षि दयानन्द का इस देश में प्रादुर्भाव हुआ। उन्होंने केवल सुनी सुनाई घटनाओं अथवा बातों के आधार पर ही नहीं, अपितु स्वयं पदयात्री के रूप में सम्पूर्ण देश की यात्रा करके, मानव जाति के ह्रास तथा पतन के कारणों का अनुभव तथा ज्ञान प्राप्त किया। उसके पश्चात् उन्होंने स्थिति के सुधार का दृढ़ संकल्प किया ! इसके लिये अत्यावश्यक था, कि वह उन सभी एषणाओं पर विजय प्राप्त करें—जिनके कारण साधारण मनुष्य जानते हुए भी सत्य के ग्रहण तथा असत्य के परित्याग-पथ से विचलित हो जाता है। इसके लिये महर्षि को घोर तपस्यायों तथा परीक्षाओं से गुज़रना पड़ा, फिर तो उनका जीवन प्रतप्त सुवर्ण के समान कुन्दन बनके निकला। अब उस तपःपूत महर्षि के लिये संसार के सुख-दुःख, हानि-लाभ, हार-जीत तथा मान-अपमान आदि सभी छन्द समान हो चुके थे। ऐसा कोई भी व्यक्ति संसार में कभी-कभी जन्म लेता है, जिसे हम युग पुरुष कह सकते हैं। ऐसा युग-पुरुष, अपने काल की उन सभी समस्याओं का समाधान लेकर धरती पर जन्म लेता है; जिनसे विश्व भर का मानव समाज विनाश की ओर जाने लगता है।

जहाँ तक महर्षि दयानन्द की क्रान्तदर्शिता का प्रश्न है; वह भी अद्वितीय ही थी। अन्य क्रान्तदर्शी व्यक्तियों या ऋषियों के समान केवल एक दिशा में दूर तक देखने वाले दयानन्द नहीं थे, अपितु उनकी दृष्टि चहुँमुखी थी। वह एक चौराहे पर खड़े, चारों ओर दूर तक देखने वाले महर्षि थे। इस ही लिये उनके कार्य का क्षेत्र किसी एक दिशा तक सीमित नहीं रहा। विश्व के प्रत्येक कोने में फैली अज्ञानता जन्य समस्यायें, और उनका समाधान, उनके जीवन-कार्यों में दिखाई देता है। आध्यात्मिक, राजनैतिक, सामाजिक आदि सभी क्षेत्रों को उन्होंने अपने व्यस्त तथा स्वल्पकालिक जीवन द्वारा प्रभावित किया।

आध्यात्मिक क्षेत्र में विभिन्न ईश्वरों तथा देवी-देवताओं के नाम से प्रचलित पूजा उपासना आदि को निरस्त करके एक अद्वितीय, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् सर्वत्र व्यापक वेद सम्मस्त निराकार ईश्वर का प्रतिपादन इस युग में उनके ही द्वारा हुआ। इसके लिये उन्हें करोड़ों विरोधी विचार वालों का, जो सब प्रकार के साधनों आदि से सम्पन्न थे, विरोध तथा उनके द्वारा दिये गये कष्टों और अपमानों को सहन करना पड़ा। हजारों आर्थिक प्रलोभनों तथा मृत्यु के आतंकों में भी उन्होंने सत्य का पथ नहीं छोड़ा। यद्यपि आज भारत के स्वातन्त्र्य-भवन के निर्माण का श्रेय देश के कतिपय नेताओं को दिया जा सकता है। परन्तु उक्त भवन की आधार शिला की स्थापना यदि कांग्रेस के जन्म से भी पूर्व महर्षि दयानन्द द्वारा न की गई होती तो हम इस भवन की छाया में स्वतन्त्रता का श्वास भी नहीं ले सकते थे। सत्यार्थ प्रकाश के वे शब्द कि "विदेशी राज्य चाहे माता पिता के समान ही क्यों न हों, वह स्वदेशी राज्य के समान नहीं हो सकता" उनके हार्दिक स्वातन्त्र्य प्रेम को प्रकट करते हैं। इसके अतिरिक्त स्व-भाषा, स्वदेश तथा प्राचीन सभ्यता-संस्कृति की ओर आने वाली पीढ़ियों को आकृष्ट करने तथा भारत के अतीत स्वर्णिम इतिहास से अवगत कराने के लिये उस समय में महर्षि ने अपनी वाणी तथा लेखनी से जो प्रयत्न किया है, उसे हमें भुलाना नहीं चाहिये।

जहाँ तक सामाजिक क्षेत्र का सम्बन्ध है, उसके लिये

विशेष लिखने की आवश्यकता नहीं। क्योंकि इस क्षेत्र के लिये किये गये सुधार-कार्यों की तो अब समझदार विरोधी भी सराहना करते हैं। बाल-वृद्ध विवाह, सती-प्रथा, छुआ छूत, जन्म जन्य जात पाँत, जन्मा धारित वर्ण व्यवस्था, कन्याओं को अशिक्षित रखना आदि समस्त सामाजिक दोषों, गलत रस्मों रिवाजों और मिथ्या संस्कारों के विरूद्ध उन्होंने बगावत का झण्डा उठाया। आज उन्हीं के प्रयत्न-परिणाम-स्वरूप उक्त प्रायः सभी प्रचलित प्रथायें समाप्त हो चुकी हैं। जो नहीं भी हो सकी हैं—वह धीरे-धीरे भविष्य में समाप्त हो जाने वाली हैं। यज्ञों में पशु वध जैसी नृशंस क्रूर प्रथायें सम्प्रति समाप्त प्रायः है। पाषाण प्रतिमाओं के सम्मुख मूक सजीव प्राणियों की बलि-प्रथा के प्रति समाज में उपेक्षा तथा घृणा के भाव उत्पन्न हो चुके हैं।

विभिन्न सम्प्रदायों के स्थान पर एक सार्वभौम मानव-धर्म के नारे सुनाई देने लगे हैं। जिसे महर्षि के शब्दों में "वैदिक धर्म" कहा जा सकता है। इस धर्म को न केवल हिन्दुओं या हिन्दुस्तानियों का धर्म कहा जा सकता है, और न केवल मानव-हित दृष्टि का ही क्योंकि इस धर्म का आधार, मनुष्यकृत ग्रन्थ न होकर सार्वभौम एक ईश्वर के ज्ञात रूप चारों वेद हैं, जो केवल मनुष्यों की हित दृष्टि से ही नहीं, बल्कि "मित्रस्य चक्षुषा सर्वाणिभूतानि समीक्षन्ताम्" जैसे उपदेश तथा आदेश के कारण सार्वभौम तथा प्रणिमात्र की हित दृष्टि से ओत-प्रोत हैं।

इन सभी कार्यों को जो ऋषि द्वारा अपूर्ण रह गये हैं, पूर्ण करने के लिये आर्य समाज की स्थापना की गई थी। इसमें कोई सन्देह नहीं, कि आर्य समाज जैसी निर्धन तथा स्वल्प साधन युक्त संस्था द्वारा गत १०३ वर्षों जैसे स्वल्प काल में जो कार्य किया गया है, उसके मुकाबले अन्य कोई संस्था नहीं कर सकती थी। परन्तु इस सफलता के कारण हमें अकर्मण्य होकर बैठ नहीं जाना चाहिये। क्योंकि बावजूद हमारे प्रयत्नों के भी वर्तमान काल में अविद्या और जहालत नये रूपों में उभर कर सिर उठा रही हैं। दर्जनों व्यक्ति स्वयं भगवान के रूप में उत्पन्न हो चुके हैं—जिनके नये-नये सम्प्रदाय उभर कर सामने आ रहे हैं। हमारा गृहस्त्य जीवन नई शिक्षा पद्धति के कारण विश्रृंखलित तथा शिथिल पड़ रहा है। सरकार की उदार तथा अर्थ प्रधान नीतियों के कारण नवयुवक तथा नवयुवतियों में पाश्चात्य सभ्यता, वेशभूषा, रहन-सहन तथा खान पान के साथ जो चारित्रिक दोष फैल रहे हैं, उनके निवारण के लिये आर्य समाज को सामूहिक रूप से कोई रचनात्मक प्रोग्राम बनाकर अपनी सम्पूर्ण शक्ति को एक जुट होकर लग जाना चाहिये। विशेषकर उन आर्य नेताओं से मेरी विनम्र प्रार्थना है, जिनके हाथों में आर्य समाज का वर्त्तमान तथा भविष्य निहित है। उन्हें आर्य समाज को अपनी महत्वाकांक्षाओं का साधन न बनाकर उसे जीवन का साध्य समझना होगा—तभी हम महर्षि द्वारा आर्य समाज की स्थापना के सही उद्देश्य को समझ तथा पूर्ण कर सकेंगे। भगवान् हम सभी को सुबुद्धि दें।

संस्मरण—पं० लेखराम

एक बार पं० लेखराम जी को कहीं से पता लगा कि पायल (पटियाला रियासत) में अमुक व्यक्ति आर्य धर्म को छोड़ रहा है। आप ट्रेन पर सवार हो चल दिये। जब गाड़ी लुधियाना से आगे चली, एक व्यक्ति ने इनसे पूछा कि आप कहाँ जायेंगे? उन्होंने कहा—चावा पायल। उसने कहा वहाँ तो गाड़ी ठहरती नहीं। इन्होंने कहा—अच्छा देखो मुझे तो बड़ा जरूरी काम है। जब गाड़ी चावा पायल स्टेशन पर पहुँची और न रुकी तब आपने बिस्तरा बाहर फैंका और गाड़ी से कूद गये। कपड़े फटे और चोट भी आई। वहाँ से चलकर पायल पहुँचे और समाज के मन्त्री से कहा—अमुक व्यक्ति के पास चलो। दैवयोग से वह व्यक्ति मिल गया। पण्डित जी ने उससे कहा कि मैंने सुना है कि आप हिन्दु धर्म को छोड़कर अन्य मत में जा रहे हैं। कृपया आप बताइये कि इस मत में क्या दोष हैं तथा उस मत में क्या विशेषता है जिससे आप इसे छोड़कर उसे ग्रहण कर रहे हैं। उस व्यक्ति ने कहा—पहले आप यह बताइये कि आपकी यह दशा क्यों है? कपड़े फटे हैं शरीर में खोंच के निशान हैं। पं० जी ने कहा— मैं आपके लिए आया था। गाड़ी स्टेशन पर नहीं रुकी, अतः कूद कर उतरा हूँ। उसने उत्तर दिया—पण्डित जी! जिस मत में आप जैसे जान पर खेलने वाले पुरुष हैं मैं उस धर्म को नहीं छोड़ सकता। ■

सत्य के सबल समर्थक—स्वामी दयानन्द

लेखक— प्रकाशवीर शास्त्री

आर्य समाज की स्थापना तो जरूर १८७५ में हुई। पर इससे पहले भी स्वामी दयानन्द ने ऐसे ही कुछ और संगठनों की भी नींव डाली थी। उत्तर प्रदेश में आर्य समाज की स्थापना से एक साल पूर्व नैनीताल में स्वामी जी ने ऐसा ही एक संगठन बनाया जिसका नाम सत्य शोधक समाज था। प्रतीत ऐसा होता है—ब्रह्मसमाज, प्रार्थना समाज आदि संगठनों से लगता भिड़ता नाम आर्य समाज संभवतः स्वामी जी को अधिक रुचा हो। इसीलिये उन्होंने बाद में उसे अपना लिया। पर धार्मिक और सामाजिक क्षेत्रों में स्वामी दयानन्द जिस सत्य का प्रचार करना चाहते थे उसका आभास सत्य शोधक नाम से ही अच्छा पता लगता है। सत्य का प्रचार करते समय स्वामी जी के मन में न तो कोई पूर्वाग्रह ही था और न ही दूसरे धर्माचार्यों की तरह किसी बात को उन्होंने यह कहा यह ही अन्तिम सत्य है, कोई बिन्दु इस पर लग ही नहीं सकता। बल्कि कहीं-कहीं तो उनके लेखों में यह भी सकेत मिलता है—जो कुछ उन्होंने लिखा है उसमें प्राप्त तथ्यों से यदि परिवर्तन की गुंजाइश दिखाई दे तो वह निस्संकोच कर लिया जाये।

सत्य शोधक समाज की ही राह पर चलते हुये ऋषि दयानन्द ने अपनी प्रमुख पुस्तक का नाम भी सत्यार्थ प्रकाश रखा। सत्य की तह में पहुँचने के लिये स्वामी जी ने इसके चौदह समुल्लासों में यों तो प्रायः हर प्रमुख विषय को ही उठाया है। ग्रन्थ का प्रारम्भ भी उन दिनों आस्तिकता की आड़ में भिन्न-भिन्न नामों से चल रही ईश्वर छाप दुकानों की असलियत क्या है? यहीं से उन्होंने किया है। यह समय वह था जब शैव लोग वैष्णवों की पगड़ी उछालते थे और वैष्णव उन्हें बुरा-भला कहते थे। स्वामी जी ने सप्रमाण उन सब नामों की व्याख्या करते हुये कहा यह तो सब ही नाम उस एक अद्वितीय शक्ति के हैं फिर झगड़ा किस बात का है? गीता के शब्दों में यह तो सारे रास्ते पहुँचाते ही एक मंजिल पर हैं। ऐसे ही और भी अनेकों सामाजिक प्रश्न सत्यार्थ प्रकाश मे स्वामी जी ने उठाये। जन्मना जाति, स्त्रियों को शिक्षा से वंचित रखना, बाल विवाह, वृद्ध विवाह और पर्नुविवाह का निषेध आदि अनेकों सामाजिक अभिशाप ऐसे थे जिनमें देश और समाज दोनों तबाह हो रहे थे। स्वामी जी ने अपने भाषणों में और ग्रन्थों में इन्हें बड़े आड़े हाथों लिया। भारत में प्रचलित सभी मत-मतान्तरों को वह अपना मानते थे। इसीलिए उनकी कमजोरियों का भी इस ग्रन्थ में उन्होंने प्रश्न उठाया है। सत्यार्थ प्रकाश की भूमिका में बड़े ही निलेप भाव से उन्होंने यह लिखा है—

मेरा इस ग्रन्थ के बनाने का मुख्य प्रयोजन सत्य अर्थ का प्रकाश करना है। अर्थात् जो सत्य है उसको सत्य और जो मिथ्या है उसको मिथ्या ही प्रतिपादन करना सत्य अर्थ का प्रकाश समझा है। वह सत्य नहीं कहलाता जो सत्य के स्थान में असत्य और असत्य के स्थान में सत्य का प्रकाश किया जाय। किन्तु जो पदार्थ जैसा है उसको वैसा ही कहना लिखना और मानना सत्य कहलाता है। जो मनुष्य पक्षपाती होता है वह अपने असत्य को भी सत्य और दूसरे विरोधी मतवाले के सत्य को भी असत्य सिद्ध करने में प्रवृत्त होता है। इसलिये वह सत्य मत को प्राप्त नहीं हो सकता। इसीलिए विद्वान् आप्तों का यही मुख्य काम है कि उपदेश वा लेख द्वारा सब मनुष्यों के सामने सत्यासत्य का स्वरूप समर्पित कर दें। पश्चात् वे स्वयं अपना हिताहित समझ कर सत्यार्थ का ग्रहण और मिथ्यार्थ का परित्याग करके सदा आनन्द में रहें। मनुष्य की आत्मा सत्यासत्य की जानने वाली है। तथापि अपने प्रयोजन की सिद्धि हेतु हठ दुराग्रह और अविद्यादि दोषों से सत्य को छोड़ असत्य में झुक जाता है। परन्तु इस ग्रन्थ में ऐसी बात नहीं है और न किसी का मन दुखाना या किसी को हानि पहुँचाने का तात्पर्य है।

इससे अधिक निराभिमानीपन और क्या किसी का हो सकता है। दूसरा कोई होता तो लिख जाता इसमें अब कहीं कोई संशोधन की गुंजायश नहीं है। पर स्वामी जी का मस्तिष्क इस विषय में बहुत साफ था—सत्य की खोज जारी रहनी चाहिए और जब भी कोई नया सत्य

सामने आये तो उसे खुले हृदय से स्वीकार कर लेना चाहिए।

आर्य समाज के दस नियमों में एक नियम के तो शब्द ही यह हैं—सत्य के ग्रहण करने और असत्य के त्यागने में सर्वदा उद्यत रहना चाहिए। इन दस नियमों में भी सबसे अधिक बल स्वामी जी ने सत्य पर ही दिया है। दस में से तीन नियमों में तो सत्य का स्पष्ट उल्लेख भी है। पहले ही नियम में आता है सब काम धर्मानुसार सत्य और असत्य को विचार करके करने चाहिए। इसी तरह तीसरे नियम के प्रारम्भ में लिखा है—वेद सब सत्य विद्याओं की पुस्तक है। उसका पढ़ना और पढ़ाना सब आर्यों का परम धर्म है। वेद का ज्ञान किसी जाति अथवा देश विशेष की सम्पत्ति नहीं है। मनुष्य मात्र के कल्याण के लिए आदि सृष्टि में मिला यह ईश्वरीय ज्ञान है। प्राणिमात्र को मित्र की दृष्टि से देखने का आदेश भी सबसे पहले वेद न ही दिया।

स्वामी दयानन्द के समाज सुधार कार्यक्रमों और सैद्धान्तिक सच्चाइयों की उन दिनों देश विदेश दोनों में भी अच्छी धूम मची हुई थी। थियोसेफिकल सोसायटी के संचालकगण तो आर्य समाज के विचारों से इतने प्रभावित थे जो एक बार उन्होंने सोसायटी को आर्य समाज में मिलाने का निर्णय ही ले लिया। स्वामी जी से बहुत दिनों तक इस सम्बन्ध में उनका पत्र-व्यवहार भी चला। अन्त में उक्त सोसायटी के संस्थापकों में से दो प्रमुख व्यक्ति कर्नल अलकाट और मैडम ब्लेडवट्स्की बम्बई आकर स्वामी जी से मिले। कई दिनों तक यहाँ भी विचार विनिमय चलता रहा। लगभग सभी बातों पर दोनों पक्ष सहमत भी हो गये। पर यह ही बात ऐसी रही जिससे बेल मढ़े न चढ़ सकी। आर्य समाज के तीसरे नियम में जो यह वाक्य है— वेद सब सत्य विद्याओं की पुस्तक है, उसमें से सत्य शब्द को थियोसिफिकल सोसायटी वाले हटाना चाहते थे। उनका कहना था —इससे दूसरे धर्मग्रन्थों का अप्रत्यक्ष खंडन होता है। स्वामी जी ने उनकी बात बड़ी गंभीरता से सुनी और सहज भाव से उत्तर देते हुए कहा—सत्य पर तो आर्य समाज की नींव ही मैंने रखी है। यदि सत्य ही उसमें से निकल गया तो रह क्या जायगा। सत्य से समझौते का अभिप्राय ही असत्य को प्रोत्साहन देना है। इस तरह थियोसिफिकल सोसायटी की वह विलय वार्ता बीच में ही टूट गई।

ऐसा ही एक प्रकरण उदयपुर में स्वामी दयानान्द के जीवन में आया। महाराणा उदयपुर उनकी विद्वता पर मुग्ध थे। स्वामी जी भी महीनों-महीनों रह कर वहाँ उपदेश करते रहे और सत्यार्थ प्रकाश तथा वेदभाष्य के लिखने का काम भी उनका वहां चलता रहा। महाराणा उदयपुर ने एक बार स्वामी जी से कहा—महाराज यह तो आप जानते ही हैं यह मेरी गद्दी एकलिंग महादेव जी की गद्दी है। मैं और मेरा परिवार तो उनकी धरोहर का रखवाला है। पर मेरी बजाय आप जैसा विद्वान् साधु यदि इस धरोहर को संभाले तो कितना अच्छा हो। धर्म प्रचार में भी यह सहायक होगी और दूसरे भले कार्यों में भी इसका सदुपयोग हो सकेगा। पर महाराज! एक छोटी सी शर्त इसके साथ यह है—मूर्तिपूजा का जो खंडन आप करते हैं वह जरूर बन्द करना पड़ेगा। भले ही आप स्वयं चाहें मूर्ति न पूजें। स्वामी जी उठे और कमंडल हाथ में लेकर उदयपुर से चल दिये। कहने लगे राजन्! एक दौड़ में तेरी रियासत पार कर सकता हूँ। इसका प्रलोभन देकर मुझे सत्य से डिगाना चाहता है। मैं तो उस राजा की आज्ञा पालन करने संसार में आया हूँ—जिसकी रियासत में जीवन भर दौड़ूंगा तो भी उसे पार नहीं कर सकता।

लोकेषणा और वितेषणा यह दो प्रलोभन ऐसे हैं; जिनमें साधारण मनुष्य फंस कर रह जाता है। पर स्वामी जी को यह दोनों ही प्रलोभन भी अपने पथ से डिगा न सके। तीसरी स्थिति बल प्रयोग की ओर थी। जब उनसे अमृतसर में किसी ने काश्मीर यात्रा में प्राणों के संकट का भय दिखा कर रोकना चाहा तब स्वामी जी ने कहा—सत्य का प्रचार करने में यदि मेरे हाथों की अंगुलियों भी मोम बत्ती की तरह तिल-तिल करके जलाई जायेंगी और उनसे असत्य का अंधेरा दूर होने में मदद मिलेगी तो मैं अपने प्रयास को सफल समझूंगा। तेरह बार तो उनके शरीर पर विष का प्रयोग किया गया। कभी पान में कभी दूध में और कभी भोजन में ज़हर मिलाकर दिया गया। कर्णवास में तो एक जागीरदार ने तलवार से ही उन पर वार कर दिया। पर स्वामी जी ने तलवार रोक कर ज्यों ही उसका गट्टा पकड़ा तो ऊपर का खून ऊपर और नीचे का नीचे बन्द हो गया। तलवार ही उसके हाथ से छूटकर गिर पड़ी। इसी तरह हरिद्वार के लगे कुंभ के मेले में उन दिनों पाखंड के विरुद्ध

आवाज़ उठाना कितना कठिन काम था। वह भी तब जब कि संगी-साथी कोई न हो। पर सत्य पर जमी आस्था ने उनमें न जाने कहां का साहस भर दिया। जो वह अकेले ही पाखंड खंडिनी पताका हाथ में लेकर वहाँ डट गये।

सत्यार्थ प्रकाश में स्वामी जी ने कई ऐसी सैद्धांतिक सचाइयों का भी प्रतिपादन किया है जो व्यवहार में आज तक आर्य समाजियों के गले से नीचे भी नहीं उत्तर सके। इनमें एक नियोग का सिद्धान्त भी है। समाज को भ्रष्ट होने से बचाने के लिए महाभारत में जो काम युद्ध के बाद महात्मा विदुर ने किया लगभग वैसा ही सुझाव ऋषि दयानन्द ने दिया है। छिप-छिप कर पाप करने की बजाय यदि उसे धार्मिक प्रथा का रूप मिल जाय तो समाज में अनाचार भी नहीं फैलेगा और मर्यादा भी बनी रहेगी। सत्यार्थ प्रकाश में उन्होंने लिखा है—बहुत सी परिस्थितियाँ ऐसी होती हैं जब वंश चलाने के लिए और भ्रष्ट होने से बचने के लिए नियोग आवश्यक है। स्त्री-पुरुष दोनों में से कोई भी सन्तानोत्पत्ति के लिए अशक्त हो अथवा लम्बे अरसे के लिए प्रवास चले गये हों तो बजाय छिप-छिप कर दुराचार करने के उसे वैध रूप ही क्यों न दिया जाय। वैसे भी यह कोई नया सिलसिला नहीं है। स्वामी जी लिखा है—

'पाण्डु राजा की स्त्री कुन्ती और माद्री आदि ने नियोग किया। व्यास जी ने चित्रागंद और विचित्र वीर्य के मर जाने के पश्चात् उन अपने भाइयों को स्त्रियों में नियोग करके अम्बिका अम्बा में धृतराष्ट्र और अंबालिका में पाण्डु और दाभि में विदुर की उत्पत्ति की। इतिहास भी इस बात में प्रमाण हैं।

कुछ दिन पहले तक यह बात सुनने में भी अटपटी सी लगती थी। पर अब जब कि विज्ञान ने विधवाओं और अविवाहित माताओं की गोद पुरुष संयोग के बिना हरी करनी प्रारम्भ कर दी तो किसी को आश्चर्य नहीं लगता। ट्यूब से जो बालक आजकल जन्म ले रहे हैं आखिर वह भी तो नियोग का ही परिवर्तित रूप है। पीछे नई दिल्ली के बालक इंडिया मेडिकल इंस्टीट्यूट में जब एक देवी ने इसी विधि से बच्चे को जन्म दिया तो वह यों तो बहुत खुश थी पर एक ही शिकायत उसे रही—बालक की नाक बैठी हुई है उसका चेहरा कुछ ठेट पहाड़ी जैसा है। डाक्टर ने कहा—अगली बार जो भी चेहरा आप पसन्द करे। पहले उस व्यक्ति को हमारे पास भेज दें। फिर आप को दुबारा शिकायत का अवसर नहीं आयगा। अब बताइये यह नियोग नहीं है तो क्या है ?

युक्ति-तर्क और प्रमाणों से पुष्ट सिद्धान्तों के आधार पर सत्यार्थ प्रकाश जब स्वामी जी लिख चुके तो उसके अन्त में पृथक से भी कुछ पृष्ठ उन्होंने जोड़े। इन पृष्ठों का नाम उन्होंने रखा 'स्व मन्तव्यामन्तव्य प्रकाश' अर्थात् कुछ वह बातें जिन्हें वह मानते हैं अथवा जिन्हें नहीं मानते। इनमें मनुष्य की परिभाषा करते हुए स्वामी जी ने लिखा है– जो अन्याय को मिटाने में प्राणों तक की बाजी लगा दे मैं उसे ही मनुष्य कहता हूँ। मनुष्य की यह परिभाषा और किसी पर घटती हो या न घटती हो पर स्वामी जी पर तो पूरी ही घटती है। एक देशी रियासत (जोधपुर) में इसी तरह के अन्याय का सामना करते हुए उन्हें विष दिया गया और उसी में उनका निर्माण भी हुआ। सत्य का प्रचार करने में कठिनाइयाँ तो आनी स्वाभाविक ही हैं। जिसके स्वार्थ पर अथवा कमजोरियों पर चोट पड़ती हैं उनका तिलमिलाना भी स्वाभाविक है। पर यह ही वह समय है जब व्यक्ति के धैर्य और साहस की परीक्षा होती है। इन्हीं पृष्ठों में महर्षि मृतहरि के एक श्लोक का उदाहरण भी स्वामी जी ने दिया है। प्रतीत होता है यह श्लोक उन्हें बहुत पसन्द था।

निन्दन्तु नीतिनिपुणाः याद वा स्तुवन्तु,
लक्ष्मी समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम्।
अथैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा,
न्याय्यात् पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः ॥

राजनीति के पंडित प्रशंसा करें चाहें निन्दा करें। सम्पत्ति रहे चाहे जाय और मृत्यु भी आज आती है या कल आती है, इसकी परवाह किये बिना धैर्यवान पुरुष कभी सत्य और न्याय का मार्ग नहीं छोड़ते।
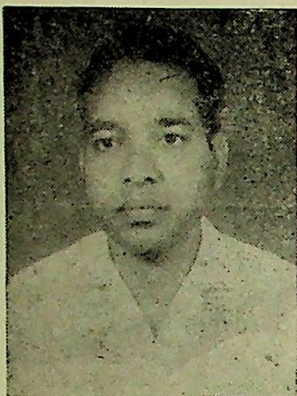
दैवासुरम्

(अथर्ववेद ३·२७ की व्याख्या)

लेखक—अभयदेव शर्मा, एम० ए०, पी-एच० डी०,
अध्यक्ष, वेद-संस्थान (अजमेर, दिल्ली)
(प्रकाश-सदन, आर्यनगर, अजमेर—३०५००१)।

प्राची दिगग्निरधिपतिरसितो रक्षितादित्या इषवः।*…।१

दक्षिणा दिगिन्द्रोधिपतिस्तिरश्चिराजी रक्षिता पितर ईषवः।*…।२

प्रतीची दिग् वरुणोधिपतिः पृदाकू रक्षितान्नमिषवः।*…।३

उदीची दिक् सोमोधिपतिः स्वजो रक्षिताशनिरिषव।*…।४

ध्रुवा दिग् विष्णुरधिपतिः कल्माषग्रीवो रक्षिता वीरुध इषवः।*…५

ऊर्ध्वा दिगृ बृहस्पतिरधिपति श्वित्रो रक्षिता वर्षमि-षवः।*…६

*[तेभ्यो नमोधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु। योस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः।]

(प्राची दिक्) पूर्व दिशा। (अग्निः अधि-पतिः) अग्नि अधि-ष्ठाता। (असितः रक्षिता) काला रक्षिता [राक्षस]। (आदित्याः इषवः) आदित्य तीर।…।१

(दक्षिणा दिक्) दक्षिण दिशा। (इन्द्रः अधि-पतिः) इन्द्र अधि-ष्ठाता। (तिरश्चि-राजिः रक्षिता) तिरछी रेखाओं वाला रक्षिता। (पितरः इषवः) पिता तीर।…।२

(प्रतीची दिक्) पश्चिम दिशा। (वरुणः अधि-पतिः) वरुण अधि-ष्ठाता। (पृदाकुः रक्षिता) कुभाषी रक्षिता। (अन्नम् इषवः) अन्न तीर। ‥।३

(उदीची दिक्) उत्तर दिशा। (सोमः अधि-पतिः) सोम अधि-ष्ठाता। (स्व-जः/सु-अजः रक्षिता) अंहकार/मन रक्षिता। (अशनिः इषवः) विद्युत् तीर।…।४

(ध्रुवा दिक्) ध्रुव दिशा। (विष्णुः अधि-पतिः) विष्णु अधि-ष्ठाता। (कल्माष-ग्रीवः रक्षिता) नील-कण्ठ रक्षिता। (वीरुधः इषवः) औषधियाँ तीर।…।५

(ऊर्ध्वा दिक्) ऊपरी दिशा। (बृहः-पतिः अधि-पतिः) महत्-पति अधि-ष्ठाता। (श्वित्रः रक्षिता) सफेद रक्षिता। (वर्षम् इषवः) वर्षा तीर।…।६

[(तेभ्यः अधि-पतिभ्यः नमः [अस्तु]) उन [मंत्र १–६ के पूर्वांशों में उक्त छह] अधि-ष्ठाताओं के लिए नमन [हो]। (रक्षितृ-भ्यः नमः) [उन छह] रक्षिताओं के लिये नमन [हो]। (इषु-भ्यः नमः) [उन छह] तीरों के लिए नमन [हो]। (एभ्यः नमः अस्तु) इन [छहों] के लिए [अर्पित] नमन [इन्हें स्वीकार्य] हो। (यः अस्मान् द्वेष्टि) जो हमसे द्वेष-शत्रुता करता है [उसे, और] (यम् वयम् द्विष्मः) जिससे हम शत्रुता करते हैं (तम्) उसे (वः जम्भे दध्मः) हम तुम [अधि-पतियों, रक्षिताओं, तीरों] लोगों के जबड़े-दाढ़ों में धरते है।]

तेभ्यो नमः, उन सबको नमन हो। **नम एभ्यो अस्तु**, इन सबको भी नमन हो। दूर, पास, सर्वत्र सबको नमन हो। किनको ? अधिपतियों को, रक्षिताओं को, इषुओं को। विभिन्न दिशाओं में अधिपति हैं, रक्षिता हैं, इषु भी हैं।

ये दिशायें हमारे आवरण हैं। हम कहीं भी हों, दिशायें हमें घेरे हुए हैं। अनन्त, असीम आकाश में दिशाओं का निर्धारण किसी केन्द्रीय विन्दु के अभिमुख होकर किया जा सकता है। हमारा यह सूर्य यदि एक ऐसा केन्द्र मान लिया जाए तो उसकी अभिमुखता पूर्व दिशा है, उससे पराङ्मुखता पश्चिम दिशा है। उसके अभिमुख स्थित होने पर, दाहिनी दिशा दक्षिण है और बाईं दिशा उत्तर है।

ये दिशायें, और इसी प्रकार अन्य भी नानाविध दिशायें हमारी अपेक्षा से हैं। सूर्य के लिये कोई दिशा नहीं है। जो हमारी पूर्व दिशा है वह किसी अन्य, जो हमसे आगे स्थित है और हमारी ओर पीठ किये है, के लिए पश्चिम दिशा है। इसी प्रकार, हमारी दक्षिण दिशा किसी के लिए उत्तर दिशा हो सकती है। है। मानवीय व्यवहार के लिए ही ये दिशायें कल्पित हुई अन्यथा, सूर्य की दृष्टि से तो शायद, दो ही दिशायें कल्पित होंगी, एक ध्रुवा, दूसरी ऊर्ध्वा। सूर्य अपने परिक्रमण-मार्ग (ऑर्बिट) पर, अपनी धुरी पर परिभ्रमण (रिवाल्व) कर रहा है। इसकी धुरी ध्रुव-स्थिर है। सूर्य की ध्रुवा दिक् उसकी अपनी धुरी है। सूर्य की ताप-और-प्रकाश रूप शक्ति अथवा अर्क् (ऊर्जा) धुरी से, चतुर्दिक् वितत हो रही है। यह सौर शक्ति-सावित्री आकाश में जितनी दूर तक फैलती है वहाँ तक सूर्य का मण्डल अथवा परिधि है। परिधि से परिहित, शक्ति समुद्र रूप परिधान पहिने हुये, सूर्य अपनी ध्रुवा दिक् (धुरी) पर खड़ा है। और उसका सिर, मानो, उसकी परिधि की ओर उठा हुआ है; यही सूर्य की ऊर्ध्वा दिक् है।

सौर मण्डल में विद्यमान प्रत्येक वस्तु और प्रत्येक नवीन अभिव्यक्ति का सिर, मानों, सूर्य की ओर है; सूर्योन्मुखी दिशा हम, सबकी ऊर्ध्वा दिक् है। और हमारा आधार, यह पृथिवी, तथा ऐसे अन्यान्य नाना ग्रहोपग्रह सौर प्रजा की दृष्टि से हमारी सबकी ध्रुवा दिक् है। केन्द्र के लिये जो ऊर्ध्वा दिक् (परिधि) है वह हमारी ध्रुवा दिक् (हमारा केन्द्र) है, तो केन्द्र-रूप ध्रुवा दिक् हमारी ऊर्ध्वा दिक् है। केन्द्र और परिधि, इन दो शक्ति बिन्दुओं के मध्य हम लोगों का दिग्बोध और दिग्व्यवहार चल रहा है। केन्द्र और परिधि परस्पर विरुद्ध और विरोधी बिन्दु हैं। इनके बीच शक्ति के त्याग और भोग का, अन्तर्मुखता और बहिर्मुखता का, स्व और पर का सतत तनाव बना रहता है। पर हैं ये दोनों एक दूसरे के स्वरूपनिर्माता और परस्पर पूरक। बिना एक के दूसरे की सत्ता नहीं हो सकती। ये परस्पर भिन्न हैं पर कर्त्तव्यभेद से एक दूसरे के प्रतिस्पर्धी भी हैं। रात्रि और दिन के स्वरूप में किंचित् साम्य नहीं है। पर रात्रि के बिना दिन अथवा दिन के बिना रात्रि की कल्पना भी नहीं की जा सकती। ये दोनों एक दूसरे के प्रतिद्वन्द्वी हैं पर द्वन्द्वात्मकता से ही तो सृष्टि होती है। एकमेवाद्वितीयता से सृष्टि नहीं होती। स्त्री, पुरुष प्रकृति से विपरीत होने पर भी हैं परस्पर पूरक तथा तब सर्जन में सहयोगी।

(३)

इसी प्रकार, इस सृष्टि में, समाज में, सर्वत्र प्रतिद्विन्द्विता है। इस प्रतिस्पर्धा को, इस संघर्ष को द्वेष्टा और द्वेष्य का व्यवहार भी कहा जा सकता है। जो हमसे द्वेष करता है वह हमारा द्वेष्टा है और हम उसके द्वेष्य हैं। हम जिससे द्वेष करते हैं वह हमारा द्वेष्य है और हम उसके द्वेष्टा हैं। यह द्वेष्ट-द्वेष्यभाव सृष्टि में सर्वत्र विद्यमान है। सृष्टि नाम की द्वन्द्वात्मकता का है।

यहां विचार उचितानुचित का नहीं है। सृष्टि के ताने-बाने की बुनावट में अथवा सृष्टि की बनावट में ही यह अनुकूल-प्रतिकूल भाव अथवा आकर्षण-विकर्षणता विद्यमान है। एक दृष्टि से जो केन्द्र है, दूसरी दृष्टि से वही परिधि है। रात्रि-दिन में जैसे द्वेष्ट-द्वेष्य भाव सहज, स्वाभाविक, प्राकृतिक है वैसे ही मानव समाज में भी, प्राणिजगत् में भी यह मारक-तारक भाव रहेगा ही। मानव समाज में यह वृत्ति महत्त्वाकाँक्षा मूलक है, तो प्राणिजगत् में स्वसत्ता बनाए रखने के लिए है।

इस शत्रु-मित्र भाव की सीमाओं के नियामक तत्त्व कौन-से हैं ? उत्तर है, विभिन्न दिशाओं में व्याप्त अधिपतित्व, रक्षितृत्व, इषुत्व। यहाँ भी वही द्वेष्टृ-द्वेष्यभाव

विद्यमान है। अधिपति द्वेष्टा है अपने द्वेष्य रक्षिता का, तो रक्षिता द्वेष्टा है अपने द्वेष्य अधिपति का। दोनों के बीच अपने-अपने वचस्व के लिए प्रतिस्पर्धा है। एतदर्थ दोनों एक दूसरे पर तीर चला रहे हैं। दोनों के मध्य तीरों (शक्तिधारा) के सन्तुलन से ही उत्पत्ति-स्थिति-प्रलयनरूप सुदर्शन चक्र घूम रहा है। यदि सर्जन ही सर्जन होता रहे और विनाश कभी किसी का होवे ही नहीं, तो सृष्टि में विद्यमान जो संतुलन है जीवन और मृत्यु का, वह गड़बड़ा जाएगा। इसके विपरीत, यदि ह्रास ही ह्रास होता रहे, विकास को कभी अवसर ही न मिले, तो भी सृष्टि में संतुलन नहीं रहेगा। शक्ति की धन और ऋण धाराओं के मेल से ही शक्ति का वर्तुल बनता है। एक देव है, तो दूसरा असुर है। ये दोनों एक ही शक्तितत्त्व के दो, विपरीत, द्वेष्टृ-द्वेष्य रूप हैं। अधिपति देव है, तो रक्षिता असुर। पर हैं दोनों एक ही इषु (शक्ति) के प्रयोक्ता। जीवनसर्ग में जो अधिपति (सर्जक) है वह प्रलयन काल में रक्षिता (ह्रास तत्त्व, राक्षस) बन जाता है। मरणचक्र में जो मारक तत्त्व है वह उस मरणचक्र का अधिपति है, तो मृत्यु की धारा का विरोधक तत्त्व (जो पहले सर्जक—अधिपति था) अब रक्षिता बन गया है। 'रक्षिता' का अर्थ ही है रोकने, रोक रखने वाला। और 'अधिपति' का अर्थ है चक्र का प्रवर्तक स्वामी। जीवनचक्र प्रवर्तक, देव (=प्रकाश पुंज) अधिपति है, तो मरणचक्र की दृष्टि से, उसका प्रवर्तक, यम (=प्रकाश नियामक, तमः, असुर) भी अधिपति है। इनके शक्ति संतुलन अथवा पारस्परिक तारतम्य का नियमन कोई अन्य बाहरी शक्ति नहीं करती। सृष्टि की बुनावट ही ऐसी है कि वह स्वयं ही अपनी विकृतियों का शमन कर लेती है, अपनी 'यात-यामता' (न्यूनताओं, रिक्तियों) की भरपाई सृष्टि स्वयं ही, अपनी सामर्थ्य से कर लेती है। अतः इस द्वेष्टृ-द्वेष्यभाव के कारण हम मानव भी परस्पर कटुता से क्यों भर जाएँ? क्यों न, सृष्टि के अधिपति-रक्षिता-इषु, इस चित पर ही इसका भी निर्णय-नियमन-दायित्व छोड़ दें, **वो जम्भे दध्मः**।

वस्तुतः इस सृष्टि का एक ही अधिपति है, एक ही रक्षिता है, और अधिपति का एक ही इषु है। पर अपने व्यवहार की दृष्टि से जो दिशाभेद हमने कल्पित कर रखा है उसके अनुरोध से, कोई चाहे तो, उस चित (अधिपति-रक्षिता-इषु) को विभिन्न नाम दे सकता है।

(४)

मनुष्य स्वभाव से पशु है। संस्कारों के उदात्तीकरण से मनुष्य 'मनुष्य' बना करता है। पर ऐसा अपवादतः तथा व्यक्तिशः होता है। प्राणी का जीवन जल के समान निम्नोन्मुख होता है। उर्ध्वोन्मुख नहीं। ऊर्ध्वोत्थान के लिए साधना की अपेक्षा होती है। साधारणतया मनुष्य अपने पक्ष को न्याय्य, और दूसरे के पक्ष को अनुचित मानता है अथवा स्वार्थ वश मानना और मनवाना चाहता है। स्वार्थ ही मनुष्य को द्वेषी, शत्रु बनाता है। अपने अपकारी से तो द्वेष होता ही है, अपने से बलवान् से भी, भय-और-प्रतिस्पर्धा मूलक द्वेष चित्र में छिपा पड़ा रहता है। अतः हम अपने द्वेष्टा को और अपने द्वेष्य को ही दोषी माना करते हैं, भले ही द्वेषपंक में हम भी समान-रूपेण लिप्त हुआ करें। जब किसी के प्रति सचेष्ट होकर, हम स्वयं द्वेष्टा होते हैं और कोई दूसरा हमारा द्वेष्य होता है तो हम, साधारणतया, स्वयं को **'वो जम्भे दध्मः'** नहीं कहना चाहते हैं; विधाता के विधान की आंच से संतृप्त होने से हम अपने को साफ बचा लेना चाहते हैं। मानवी मन की यह स्वार्थांधता और कायरता इस सूक्त के मन्त्रों की टेक (समानांश) के उत्तरार्ध में स्पष्ट व्यक्त हुई है। पर सृष्टि के नियम सबके लिए समान हैं। विधाता किसी के प्रति दया, और किसी के प्रति कठोरता क्यों करने लगा? करुणा-क्रूरता, राग-द्वेष, निजता-परता, आदि गुणों का विधाता पर आरोप करना उस गुणातीत को अपनी कल्पित-मिथ्या-रंजित दृष्टि से निहारने की अबोध, बालचेष्टामात्र है क्योंकि हम मनुष्यों की मनोवृत्ति है कि अपने ही चश्मे से संसार को देखना। सृष्टि का अधिपति और उसका तीर सबके लिए निष्पक्ष, निरपेक्ष, तटस्थ है। संभवतः इसी के द्योतनार्थ सूक्तगत मन्त्रों का टेक-भिन्न, आरम्भिक भाग क्रियापदरहित, तटस्थ, सूत्रमय-सी भाषा में रखा गया है। दिक्, अधिपति, रक्षिता, इषु, इनके नाममात्र गिना दिए गए हैं। किसी क्रियापद को जोड़कर वाक्य बनाना, मानो, इन निरपेक्ष वस्तुओं या तत्त्वों को अपनी आकांक्षा के अधीन करना हो जाता।

(५)

अथर्ववेद ३·२६ (१–६) में भी विभिन्न दिशाओं का सम्बन्ध नाना देवों और उनके तीरों से जोड़ा गया है। ऐसा इस (३·२७) सूक्त में तो है ही। दिशा विशेष से देवादि विशेष का सम्बन्ध-स्थापन वेदों में अनेक स्थलों में

है। यह एक पृथक् से अध्ययन योग्य विषय होने से, फिर कभी के लिए स्थगित रखना ठीक होगा। इन दो सूक्तों में इस 'सम्बन्ध' की तालिका इस प्रकार है—

सूक्त २६			सूक्त २७		
दिक्	देवाः	देवेषवः	अधिपतिः	रक्षिता	इषवः
प्राची	हेतयः	अग्निः	अग्निः	असितः	आदित्याः
दक्षिणा	अविष्यवः	कामः	इन्द्रः	तिरश्चि-राजिः	पितरः
प्रतीची	वैराजाः	आपः	वरुणः	पृदाकुः	अन्नम्
उदीची	प्र-विध्यन्तः	वातः	सोमः	स्वजः	अशनिः
ध्रुवा	नि-लिम्पाः	ओषधीः	विष्णुः	कल्माष-ग्रीवः	वीरुधः
ऊर्ध्वा	अवस्वन्तः	बृहस्पतिः	बृहस्पतिः	श्वित्रः	वर्षम्

संस्मरण—स्वामी आत्मा नन्द जी के चमत्कारी

बात सन् 1958 की है। स्वामी आत्मानन्द जी को बड़े आग्रह पूर्वक चिकित्सा सेवा शुश्रुषा के लिए पं० इन्द्रराज जी मेरठ ले आये। हिन्दी आन्दोलन के बहुत उत्तर दायित्व-पूर्ण धर्म-युद्ध का संचालन करने के कारण स्वामी जी को रक्त-चाप का रोग हो गया था। मेरठ के प्रसिद्ध डा० की चिकित्सा होने लगी। एक दिन पं० इन्द्रराज जी सिविल सर्जन के पास गये। और कहा कि हमारे गुरु जी को रक्त-चाप का रोग है। वह कई बार रक्त चाप मापक यन्त्र के पैमाने को भी पार कर जाता है। इस पर सिविल सर्जन महोदय ने अविश्वास प्रकट किया तो पं० इन्द्रराज जी ने चलकर स्वयं निरीक्षण करने का आग्रह किया। सिविल सर्जन महोदय ने जाकर स्वयं निरीक्षण किया तो रक्तचाप 260 डिग्री से भी ऊपर था। वे एकदम स्तब्ध रह गये और बाहर आकर अलग से पं० इन्द्रराज जी से कहा कि इन्हें तुरन्त अस्पताल पहुँचाईये। इनका रक्त निकालना इस समय जीवन रक्षा के लिए अत्यन्त आवश्यक है। अन्दर से स्वामी जी ने भी कुछ आभास पाकर पं० जी को बुलाकर कहा—मैं अभी मरने नहीं लगा हूँ आप लोग चिन्ता न करें। डा० करौली को बुलाइये जैसे उनकी सम्मति होगी वैसा ही किया जायेगा। डा० करौली जी ने आकर निरीक्षण किया वे भी स्वामी जी को देखकर दाँतों-तले अंगुली दबा गये। उन्होंने एकान्त में कहा कि इस अवस्था में भी स्वामी जी होश में हैं यह आलौकिक बात है जबकि इससे भी कई डिग्री कम भी किसी व्यक्ति का जीवित रहना सम्भव नहीं। पश्चात् डा० करौली की चिकित्सा से वे स्वस्थ हो गये।

सेवा का अद्भुत प्रभाव—

बात १९५८ की है। श्री इन्द्रराज जी मेरठ, आचार्य प्रवर श्री स्वामी आत्मानन्द जी महाराज को चिकित्सार्थ एवं सेवा के निमित्त बड़े आग्रह पूर्वक मेरठ लिवा लाये। उस समय उनकी दुकान की मासिक आय ४००—५०० रुपये मासिक थी। इस सीमित आय में परिवार के निर्वाह के साथ स्वामी जी महाराज का चिकित्सादि का व्यय चलाना कठिन था। स्वामी जी महाराज ने इस निमित्त किसी से दानादि भेंट लेने का भी निषेध कर दिया था। भगवान की विचित्र लीला कि जब तक महाराज जी मेरठ में ठहरे उनकी दुकान की आय ५०० से बढ़ कर १०००—१२०० तक होने लगी और स्वामी जी महाराज का चिकित्सादि का सारा व्यय एवं पारिवारिक व्यय का भी निर्वाह आसानी से होने लगा। विचित्र बात यह रही कि उनके मेरठ से प्रस्थान कर जाने के बाद वह आय पुनः उसी पूर्व वाले स्तर पर आकर ४००—५०० प्रति मास होने लगी। ■

मेरठ की साहित्यिक विभूति

पं० घासी राम एम० ए०, एल-एल० बी०

लेखक– डा० भवानीलाल भारतीय

आर्य समाज के प्रवर्तक स्वामी दयानन्द सरस्वती का मेरठ से घनिष्ट सम्बन्ध रहा है। स्वामी जी अपने जीवनकाल में इस नगर में अनेक बार पधारे थे। कालान्तर में जब आर्य समाज की स्थापना हुई तो मेरठ नानाविध प्रवृत्तियों का केन्द्र रहा। परोपकारिणी सभा का प्रथम विधान भी यहाँ पर ही बना। इसी नगर में कार्तिक पूर्णिमा सं० १९२९ वि० को पं० घासीराम जी का जन्म हुआ। इनके पिता का नाम श्री द्वारिका दास था। पिता आर्य समाजी थे और उन्होंने स्वामी जी से उपदेश ग्रहण कर मूर्तिपूजा का परित्याग कर दिया था। बालक का नाम घासीराम रक्खा जाना भी एक रोचक बात की ओर संकेत करता है। जिन व्यक्तियों की सन्तान अल्प अवस्था में ही मृत्यु का ग्रास बन जाती है वे अपने जीवित रहे बच्चों के नाम जुगुप्सा युक्त रख देते हैं, इस अभिप्राय से कि ऐसे बच्चों को नजर न लगे। पं० घासीराम के जन्म के पूर्व उनके पिता के चार पुत्र हुये और उनमें कोई भी जीवित नहीं बचा। अतः इस पुत्र का नाम तत्कालीन प्रथा के अनुसार घासीराम रक्खा गया।

प्रारम्भ में उनकी शिक्षा उर्दू और फारसी की हुई। तदनन्तर उन्हें अंग्रेजी पढ़ने के लिये हाई स्कूल में प्रविष्ट किया गया। आर्य समाज के सुप्रसिद्ध विद्वान् पं० गंगा प्रसाद जज उनके सहयोगी और मित्र थे। दोनों ने मिलकर १८८७ ई० में तक आर्य डिबेटिंग क्लब की स्थापना की। इसमें आर्य समाज विषयक भाषण होते। १८९० ई० में पं० घासीराम ने मैट्रिक परीक्षा उत्तीर्ण करी तथा वे आगे पढ़ने के लिये आगरा चले गये परन्तु उनका चलाया गया डिबेटिंग क्लब यथावत् चलता रहा। आगरा में वे कालेज छात्रावास में रहे। यहाँ भी उन्हें पं० गंगा प्रसाद तथा श्री ज्वाला प्रसाद आदि आर्य विद्यार्थियों का सहयोग मिला। अब वे एक आर्य मित्र सभा चलाने लगे। १८९४ ई० में घासीराम जी ने बी० ए० की परीक्षा विश्वविद्यालय में सर्वोच्च स्थान ग्रहण कर उत्तीर्ण की। इसके उपलक्ष्य में उन्हें स्वर्ण पदक प्राप्त हुआ। छात्रवृत्ति तो प्रतिवर्ष मिलती ही थी। १८९६ ई० दुहरा पाठ्यक्रम लेकर एम-ए० और एल० एल० बी० की परीक्षायें उत्तीर्ण कीं। शिक्षा समाप्त कर वे जोधपुर के जसवन्त कालेज में दर्शन एवं तर्क शास्त्र के प्राध्यापक नियुक्त हुये। इस पद पर उन्होंने पाँच वर्ष तक कार्य किया। १९०१ में जब जोधपुर में विशूचिका का प्रकोप हुआ तो वे अपने पिता के आदेश से नौकरी छोड़ कर मेरठ लौट गये।

अब घासीराम जी ने वकालत करना आरम्भ कर दिया। उन्हें इस क्षेत्र में भी पर्याप्त सफलता मिली। परन्तु वे द्रव्यार्जन करने में अधिक सफल नहीं हुये। एक तो वे मितभाषी थे और वकालत के व्यवसाय में वही व्यक्ति सफलता प्राप्त करता है जो वाक पटु हो। द्वितीय, वे मुकद्मा लड़ने वालों को परस्पर सद्भाव से अपना मामला निपटा लेने का परामर्श देते थे। १९२९ तक वे वकालत करते रहे। इसी वर्ष वे मेरठ नगर पालिका परिषद् के सदस्य चुने गये और चार वर्ष तक इस पद पर कार्य करते रहे। वे नगर पालिका शिक्षा बोर्ड के अध्यक्ष भी रहे।

आर्य समाज की सभी प्रवृत्तियों में घासीराम जी सदा से भाग लेते थे। मेरठ आर्य समाज के वर्षों तक वे प्रधान रहे। आर्य प्रतिनिधि सभा संयुक्त प्रान्त (वर्तमान उत्तर प्रदेश) के भी वे कई वर्ष तक उप प्रधान एवं प्रधान रहे। आर्य प्रतिनिधि सभा पश्चिमोत्तर प्रदेश (उत्तर प्रदेश का तात्कालीन नाम) के तत्त्वावधान में साहित्य प्रकाशन का कार्य १८९५ में ही प्रारम्भ हो चुका था। पं० घासीराम जी के निर्देशन में भी साहित्य लेखन एवं प्रकाशन का यह कार्यक्रम निरन्तर चलता रहा और उनके निधन के पश्चात् यह साहित्य विभाग पं० घासीराम साहित्य विभाग के नाम से अभिहित किया गया।

प० घासीराम अद्भुत लेखन प्रतिभा के धनी थे। उन्हें हिन्दी, संस्कृत, उर्दू, फारसी तथा अंग्रेजी का प्रौढ़

ज्ञान था। अनुवाद कार्य में उनकी विशेष रूचि थी। उनके द्वारा अनुदित ग्रन्थों का विवरण इस प्रकार है—

(१) सम्पूर्ण गीता का उर्दू पद्यानुवाद।

(२) ऋषि दयानन्द कृत ऋग्वेदादि भाष्यभूमिका का अंग्रेजी अनुवाद–प्रथम यह अनुवाद गुरुकुल कांगड़ी की मुख पत्रिका वैदिक मैगजीन में धारावाही छपा, पुनः संयुक्त प्रदेश आर्य प्रतिनिधि सभा द्वारा पुस्तकाकार प्रकाशित हुआ। इसमें भूमिका के संस्कृत भाग का ही अनुवाद किया गया था। इसका द्वितीय संस्करण सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा में १९५८ में प्रकाशित किया। जनज्ञान प्रकाशन दिल्ली ने १९७३ में इसे पुनः मुद्रित किया है।

(३) महात्मा नारायण स्वामी लिखित ईशोपनिषद् के भाष्य का अंग्रेजी अनुवाद इसका प्रथम संस्करण इलाहाबाद के श्री विद्याधर बी. ए. की प्रेरणा से तैयार किया गया तथा उन्हीं के द्वारा प्रकाशित हुआ। द्वितीय परिवर्द्धित और संशोधित संस्करण १९२९ ई० में आर्य प्रतिनिधि सभा संयुक्त प्रान्त द्वारा प्रकाशित हुआ।

(४) पं० घासीराम का सर्वाधिक महत्वपूर्ण कार्य स्वामी दयानन्द के यशस्वी बंगला जीवनी लेखक पं० देवेन्द्र नाथ मुखोपाध्याय लिखित महर्षि के प्रथम लघु जीवन चरित का अनुवाद तथा द्वितीय वृहत् जीवन चरित के प्रारम्भिक अंश का अनुवाद तथा मुखोपाध्याय जी द्वारा संगृहीत सामग्री के आधार पर अवशिष्ट ग्रन्थ का लेखन है। देवेन्द्र बाबू ने १८९४ में दयानन्द चरित शीर्षक स्वामी जी का बंगला जीवन चरित लिखा था। इसे अनुदितकर घासीराम जी ने श्री रघुवीर शरण दुबलिस के भास्कर प्रेस द्वारा १९१२ में प्रथम बार प्रकाशित कराया। इसके अन्य संस्करण गोविन्द राम हासानन्द ने कलकत्ता से तथा आर्योदय के विशेषांक रूप में दिल्ली से प्रकाशित हुये हैं।

(५) देवेन्द्र बाबू स्वामी दयानन्द के वृहत् जीवन चरित की उपादान भूत सामग्री का संचय कर चुके थे। काशी में इसी सामग्री के आधार पर वे अपना महत्वपूर्ण ग्रन्थ लिख रहे थे किन्तु दुर्योग से भूमिका तथा चार अध्याय ही लिख पाये थे कि अर्द्धांग रोग से पीड़ित होकर उनका स्वर्गवास हो गया। पं० घासीराम ने १९१७–१८ में काशी के डिप्टी कलक्टर श्री ज्वालाप्रसाद की सहायता से देवेन्द्र बाबू द्वारा संकलित सामग्री प्राप्त की। श्री ज्वाला प्रसाद घासीराम जी के सहाध्यायी रह चुके थे और आर्य समाज के निष्ठावान् सदस्य थे। देवेन्द्र बाबु द्वारा संचित यह सामग्री अत्यन्त अस्त व्यस्त अवस्था में थी। कागजों के सैंकड़ों छोटे बड़े टुकड़े नोट बुकें, पत्र-पोस्टकार्ड, समाचार पत्रों की कतरनों के रूप में उपलब्ध उस सामग्री का पढ़ना, हिन्दी अनुवाद करना तथा उसे व्यवस्थित रूप देकर ग्रन्थ में उपयोग करना अत्यन्त परिश्रम साध्य कार्य था। परन्तु पं० घासीराम जी ने अपने परिश्रम और अध्यवसाय से इस सम्पूर्ण सामग्री का व्यवस्थित सम्पादन कर स्वामी दयानन्द के जीवन चरित को अन्तिम रूप प्रदान किया। यही जीवनी श्री महाराज के उपलब्ध जीवन चरितों में सर्वाधिक प्रामाणिक मानी जाती है। श्री मध्यानन्द निर्माण अर्द्ध शताब्दी के अवसर पर १९९० वि० (१९३३ ई०) में यह जीवन चरित आर्य-साहित्य मण्डल अजमेर द्वारा दो भागों में प्रकाशित हुआ। अब तक इसके चार सस्करण छप चुके हैं।

(६) पं० देवेन्द्र नाथ मुखोपाध्याय ने दयानन्द सरस्वती के विद्यागुण दाडी विरजानन्द का भी प्रामाणिक जीवन चरित बंगला भाषा में लिखा है। यह मूल रूप में प्रकाशित नहीं हो

सका। पं० घासीराम ने इस उपयोगी ग्रन्थ का अनुवाद कर आर्य प्रतिनिधि सभा संयुक्त प्रान्त द्वारा प्रथम बार १९१९ में प्रकाशित कराया। द्वितीय वृत्ति २०११ वि० में हुई।

(७) वेद सुधा शीर्षक ईश्वर स्तुति, प्रार्थना सम्बन्धी १०० वेद मंत्रों का भाषार्थ पं० घासी राम जी ने तैयार किया था। इसे संयुक्त प्रान्तीय सभा के ट्रैक्ट विभाग के अधिष्ठाता के रूप में उन्होंने स्वयं १९३१ ई० में प्रकाशित किया। आर्यसमाज के साहित्य महारथी तथा मेरठ की साहित्यिक विभूति पं० घासी राम जी का निधन ३० नवम्बर १९३४ को हुआ।

संस्मरण—महर्षि दयानन्द के उपदेश का जादू

"उस दिव्य आदित्य मूर्ति को देख कर कुछ श्रद्धा उत्पन्न हुई परन्तु जब पादरी टी० जे० स्काट और तीन अन्य यूरोपियनों को उत्सुकता से बैठे देखा, तो श्रद्धा और भी बढ़ी। अभी दस मिनट की वक्तृता नहीं सुनी थी कि मन में विचार किया—यह विचित्र व्यक्ति है कि केवल संस्कृतज्ञ होते हुए ऐसी युक्ति युक्त बातें करता है कि विद्वान दंग हो जायें। व्याख्यान परमात्मा के निज नाम "ओ३म" पर था। वह पहले दिन का आह्लाद कभी नहीं भूल सकता। नास्तिक रहते हुए भी आत्मिक आह्लाद में निमग्न कर देना ऋषि आत्मा का ही काम था।"

"ऋषिवर! तुम्हें भौतिक शरीर त्यागे इकतालीस वर्ष हो चुके, परन्तु तुम्हारी दिव्य मूर्ति मेरे हृदय-पट पर अब तक, ज्यों की त्यों अंकित है। मेरे निर्बल हृदय के अतिरिक्त कौन मरणधर्मा मनुष्य जान सकता है कि कितनी बार गिरते-गिरते तुम्हारे स्मरण मात्र ने मेरी आत्मिक-रक्षा की। तुमने कितनी गिरी हुई आत्माओं की काया पलट दी, इसकी गणना कौन मनुष्य कर सकता है? परमात्मा के बिना जिनकी पवित्र गोद में तुम विचर रहे हो, कौन कह सकता है कि तुम्हारे उपदेशों से निकली हुई अग्नि ने संसार में प्रचलित कितने पापों को दग्ध कर दिया है? परन्तु मैं अपने विषय में कह सकता हूँ कि तुम्हारे सहवास ने मुझे कैसी गिरी हुई अवस्था से उठा कर सच्चा जीवन लाभ करने के योग्य बनाया।"

दृढ़-प्रतिज्ञ महात्मा मुन्शीराम

मुन्शीराम जी पहले "ऐंग्लो वैदिक कालिज" से ही अन्य आर्य पुरुषों की तरह गुरुकुल के उद्देश्य की पूर्ति की आशा करते थे। पर जब आशा निराशा बन गई तब आपने गुरुकुल के लिए आन्दोलन शुरू किया। उसके परिणामस्वरूप २६ नवम्बर सन् १८९८ के अधिवेशन में प्रतिनिधि सभा ने गुरुकुल खोलने का प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। इसके आपने गुरुकुल की योजना तैय्यार कर सभा को सौंप दी और अगस्त सन् १८९८ में घोषणा कर दी कि "जब तक आप गुरुकुल के लिए तीस हजार रुपया इकट्ठा नहीं कर लेंगे, घर में पैर नहीं रखेंगे।" उस समय देश में दुर्भिक्ष फैला हुआ था। गुरुकुल की कल्पना भी लोगों की दृष्टि में नहीं थी। ऐसी विकट स्थिति में आपने लखनऊ से पेशावर और मद्रास तक का दौरा करके अपने प्रण को पूर्ण किया। ८ अप्रैल सन् १९०० तक ४० हजार रुपया इकट्ठा हो गया। लाहौर आर्य समाज के एक विशेष अधिवेशन में मुन्शीराम जी का अभिनन्दन किया गया। तब से ये "महात्मा मुन्शीराम" के नाम से प्रसिद्ध हुये। ■

भारतीय दर्शन का आधार : समन्वयवाद

लेखक—विजयपाल शास्त्री
प्रधानाचार्य एम० एम० एच० बी० इण्टर कालिज,
(शाखा) पटेल मार्ग गाजियाबाद ।

दर्शन शब्द दृश् धातु से बना है इसके भाव में ल्युट-प्रत्यय है "दृश्यते अनेन इति" की व्युत्पत्ति है जिसके द्वारा देखा जाय उसे दर्शन कहते हैं। यह प्रश्न होता है कि दर्शन द्वारा किस वस्तु को देखा जाता है। इसका सीधा सा अर्थ है कि वस्तु के वास्तविक एवं तात्विक सत्य को देखना ही दर्शन है। हम कौन हैं? कहाँ से आये हैं? यह जगत क्या है? सृष्टि कहाँ से पैदा हुई? चेतन अचेतन का रहस्य क्या है? हमारे क्या कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य हैं? इत्यादि विषयों का विवेचन है। दर्शन वस्तु के स्वरूप का प्रतिपादन करता है अतः वस्तु के आधीन है। पाश्चात्य विचार में सामान्य संज्ञा Philosophy है इसका अर्थ है विद्या का अनुराग या विद्या का प्रेम।

भारतवर्ष में दर्शन एक महत्वपूर्ण विचारधारा है। दर्शन गहरी से गहरी समस्याओं का भी समाधान करने में समर्थ हुआ है। दर्शन ने ही ऋषियों को ब्रह्म विषयक अध्याय विद्या की ओर प्रेरित किया है। कौटिल्य के शब्दों में इसे आन्विक्षिकी विद्या कहा है। भारत में दर्शन शास्त्र अत्यंन्त लोकप्रिय हो गया है। कारणतः कि भारतवासी धर्म को जीवन की प्रधान वस्तु मानते हैं इस प्रकार धर्म के साथ दर्शन का अटूट सम्बन्ध है। धार्मिक आचार पद्धति पर ही दर्शन के विचारों का महल खड़ा है। इसी प्रकार दार्शनिक विचारों के द्वारा पालित पोषित होकर ही धर्म अपने स्वरूप का निर्माण करता है। भारतीय दर्शन दो भागों में विभाजित किया जा सकता है (i) आस्तिक दर्शन, (ii) नास्तिक दर्शन। साधारणतया ईश्वर के अस्तित्व को मानने वाला आस्तिक दर्शन और उसकी सत्ता को न मानने वाला नास्तिक दर्शन कहा गया है। पाणिनी ने परलोक में विश्वास मानने वाले को आस्तिक और न विश्वास करने वाले को नास्तिक माना है। दर्शन से सम्बन्धित आस्तिक नास्तिक शब्दों का प्रयोग भिन्न ही अर्थों में हुआ है। नास्तिकों वेद निन्दक : वेद का निन्दक ही नास्तिक कहलाता है। आस्तिक दर्शन छः मान्य है। (१) गौतम का न्याय दर्शन, (२) कणाद का वैशेषिक दर्शन, (३) कपिल का साँख्य दर्शन, (४) पतञ्जलि का योग दर्शन, (५) जैमिनी का पूर्व मीमांसा दर्शन, (६) व्यास का उत्तर मीमांसा दर्शन (वेदान्त) या ब्रह्मसूत्र, वेद को प्रमाण न मानने वाले चार्वाक जैन और बौद्ध हैं इनमें चार्वाक ही पक्का नास्तिक है। चारु वाक् यस्य सः चार्वाक-अंग्रेजी की कहावत (Eat drink and be merry) के अनुसार है। आस्तिक दर्शनों में यद्यपि विचार विभेद अधिक है ब्रह्म, ईश्वर, जीव, प्रकृति, जड़, चेतन, आत्मा, अनात्मा, कर्म अकर्म, धर्म अधर्म, लोक, परलोक प्रमाण इत्यादि के विवेचन में सभी दर्शन एक मत नहीं हैं। पुनरपि गहनतम अध्ययन करने के उपरान्त सभी दर्शनों में सैद्धान्तिक एकरूपता परिलक्षित होती है। साधारणतया न्याय में प्रमाणवाद है यह तर्क पद्धति का विश्लेषण करता है और संकेत करता है कि तर्क और स्पष्ट विचार से ही सत्य, ज्ञान और आनन्द की उपलब्धि हो सकती है। वैशेषिक में परमाणुवाद है इसका आधार पदार्थ या भूत विज्ञान है इसकी मान्यता है कि यह प्रकृति भौतिक अणुओं का संगठन है। भौतिक अणु आत्म तत्व

से भिन्न है। इस प्रकार वैशेषिक दर्शन भूत द्रव्य और आत्मा के द्वैत को स्वीकार करता है और कहता है कि मानव मुक्ति इसी बात पर आधारित है कि वह पदार्थ सृष्टि से आत्मा का पृथकत्व अनुभव कर ले। साँख्य में प्रकृतिवाद है सांख्य दर्शन पूर्णतया द्वैतवादी है और एक अर्थ में नास्तिक भी। इसकी मान्यता है कि इस सृष्टि में २५ तत्व हैं। प्रथम है प्रकृति, जिसमें अन्तर्निहित स्वभाव द्वारा पहले बुद्धि का विकास होता है, बुद्धि से अहंकार का, अहंकार से पाँच तन्मात्राओं का। जैसे आकाश, वायु, प्रकाश, जल और पृथ्वी। इन पाँच तन्मात्राओं में से पाँच स्थूल भौतिक तत्व महाभूत विकसित होते हैं। पुनः पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ एवम् पाँच कर्मेन्द्रियाँ। इन समस्त २३ तत्वों के विकसित हो जाने के बाद मानस या मन उत्पन्न होता है इस प्रकार प्रकृति से मन तक २४ तत्व हुए जिनसे यह समस्त सृष्टि बनी हुई है और जिसका संचालन उन तत्वों में या मूल तत्व प्रकृति में निहित स्वभाव के अनुसार अपने आप होता रहता है। इन २४ तत्त्वों के परे और मूल गुणों में उनसे सर्वथा भिन्न एक २५ वाँ तत्त्व है आत्मा या पुरुष। सृष्टि में पुरुष तत्त्व निःसंग भाव से प्रकृति की गति और उसका विकास अनन्त काल से देखता रहा है। पुरुष और प्रकृति का परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं। न वे एक दूसरे पर आश्रित हैं, न पुरुष का प्रकृति पर कोई प्रभाव है और न प्रकृति का पुरुष पर। इस प्रकार सांख्य एक दृष्टि से नास्तिक है क्योंकि सृष्टि में वह आत्म तत्त्व का कुछ भी कर्त्तव्य नहीं मानता। योग में ईश्वरवाद, योग दर्शन के तात्त्विक सिद्धान्त तो सांख्य दर्शन से कुछ मिलते हैं किन्तु इस दर्शन ने अपनी मान्यता में ईश्वर की कुछ कल्पना की है। वह ईश्वर सृष्टि का कर्त्ता तो किन्तु अपने आप में स्थित एक उदात्त आत्मा है–प्रकृति से सर्वथा निर्लिप्त। इस तात्त्विक बात के अतिरिक्त योग दर्शन उन साधनों का व्यावहारिक विज्ञान है जिनके द्वारा समाधि परमानन्द या निर्वाण की स्थिति प्राप्त की जा सकती है वे साधन आठ हैं यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। समाधि वह स्थिति है जिसमें पृथक अस्तित्व की चेतना ईश्वर में अन्तर्भूत हो जाती है। मीमांसा में कर्मवाद मीमांसा अपने आप में कोई तत्व दर्शन नहीं है। इसका मुख्य उद्देश्य तो तर्क न्याय और विवेचना से यह दिखलाना है कि वेदों में निहित ज्ञान ही सत्यज्ञान है। वेद अलौकिक आनन्द और अपने आप में ही सम्पूर्ण और अधिकृत ज्ञान के प्रकाशक हैं। मीमांसकारों के लिए मान्य है कि मोक्ष प्राप्ति निमित्त वेदों के प्रति आस्तिक भाव रखना और वेद विहित नियमों का पालन तथा यज्ञ यागादि कर्मों का विधि पूर्वक सम्पादन आवश्यक है। वेदान्त में ब्रह्म-वाद का प्रतिपादन है। षड़ दर्शनों में वेदान्त सर्वाधिक महत्वपूर्ण दर्शन है। इसमें मानों उपनिषदों के समस्त तात्विक विचारों और रहस्यात्मक अथवा आध्यात्मिक अनुभूतियों को एक सुस्थिर रूप प्राप्त हुआ है, इसमें समग्र वैदिक विचार धारा का सार तत्व संगठित हो गया है, इसमें मानो शेष पाँच दर्शन शास्त्रों की भी समाहिति हो गयी है। वेदान्त दर्शन आध्यात्मिक अद्वैत को मानता है। इस समस्त सृष्टि के मूल में केवल एक तत्त्व है— चेतन तत्त्व, आत्मा। यह दृश्य सृष्टि-प्रकृति, जीव, मन, बुद्धि-यह समस्त गति और हलचल उसी मूल चेतन तत्त्व की अभिव्यक्ति हैं। मनुष्य उस मूल चेतन तत्व के साथ एकात्मकता की अनुभूति करले यही चरम सत्य है, यही निर्वाण है, यही परमानन्द है। षड़ दर्शनों में केवल वेदान्त ही मुख्यतया इस समय ही गतिशील है और इसका प्रभाव विश्व के चिन्तक और दार्शनिक अनुभव करते हैं। ये सभी दर्शन पृथक्-पृथक् होते हुये भी एक ही ध्येय की पूर्ति के लिए हैं वह ध्येय मानव जीवन में धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष के चार पुरुषार्थों की प्राप्ति है। भारतीय दर्शनों की सर्वाधिक विशेषता जीवन के व्यावहारिक पक्ष का प्रतिपादन करना है। वे केवल कल्पना पर आधारित नहीं है। दुःख त्रय (अधिदैहिक, अधिभौतिक) से मनुष्य को छुड़ा कर मोक्ष प्राप्ति करा देना इनका प्रधान लक्ष्य है। भारतीय दर्शन केवल वाणि विलास नहीं है और न वह हमारे हृदय में केवल आश्चर्यान्वित तर्क-वितर्क युक्ति युक्त कौतूहल उत्पन्न करने के लिये ही है। इसके विपरीत भारतीय दर्शन जीवन को सर्वाङ्गपूर्ण बनाकर चरम सफलता की ओर प्रेरित करता है। वह जीवन को काम क्रोध मद लोभादि और राग द्वेष आदि से हटाकर शुद्ध सात्विक और संस्कारमय बनाने का प्रकार प्रतिपादित करता है। इसी कारण इसका इतना समादर किया जाता है। भारत के सभी दर्शन जीवन के वर्तमान असन्तोष पर आधारित है। जीवन में प्रतिदिन होने वाली घटनाओं के कारण दुःख विषाद और विक्षोभ पैदा होता है। उसको दूर करने में सभी दर्शन समान रूप से प्रयत्नशील हैं। जैसा कि सांख्यकारिका में सांख्य दर्शन

के सिद्धान्त का प्रतिपादन "दुःखत्रयाभिधाता" आदि में (बौद्ध दर्शन के प्रतिष्ठापक महात्मा बुद्ध ने जिन चार सत्यों की खोज की थी) उनका भी आस्तिक दर्शन में समन्वय किया है।

जिस प्रकार चिकित्सा शास्त्र के चार मूल भूत सिद्धान्त हैं रोग, रोगहेतु, आरोग्य और भैषज उसी प्रकार भारतीन दर्शनों के भी चार तथ्य हैं संसार, संसार हेतु, मोक्ष और मोक्षमय, इन्हीं चारों का विवेचन वर्णन ऊहापोह समस्त भारतीय दर्शनों में भिन्न-भिन्न दृष्टियों से किया गया है। इस प्रकार भारतीय दर्शनों का प्रत्येक समुदाय जीवन के वर्तमान असन्तोष के प्रति सजग होकर उसका मूलोच्छेदन करने के लिए महान् औषधि की खोज में प्रवृत्त हो रहा है। भारत के सभी दर्शन आशावादी हैं। इसका कारण है कि भारतीय संस्कृति आशावाद को ही महत्व देती है। निराशावाद को इसमें स्थान नहीं है तथा संस्कृत साहित्य में प्रायः सभी नाटक सुखान्त होने से आशावादी है। उसी प्रकार समस्त भारतीय दर्शन भी दुःखों का विनाश करके आत्यन्तिक एवम् ऐकान्तिक सुख प्राप्ति की आशा पर ही अपना दृष्टिकोण स्थापित करते हैं।

भारतीय दर्शनों का नैतिकता में अटूट विश्वास है। वह जीवन को एक निश्चित लक्ष्य की प्राप्ति के लिए सुनिश्चित सुव्यवस्था के अनुसार चलाने को कटिबद्ध है। वेद में जिस व्यवस्था को "ऋत" कह कर सम्बोधित किया है। भारतीय दर्शनों में उसी "ऋत" को विकसित करने का यथा साध्य प्रयत्न किया गया है। न्याय वैशेषिक में जिसे अदृष्ट बताया गया है। मीमांसा में उसे अपूर्ण बताया गया है इन दोनों का आधार यही ऋत है।

कर्म सिद्धान्त—

भारतीय दर्शनों का विवेच्य विषय कर्म सिद्धान्त भी हैं कर्म सिद्धान्त आस्तिक दर्शनों के समान ही जैन, बौद्धों के नास्तिक दर्शनों में भी अपनाया गया है। इसी के कारण मानव जीवन और समाज में सुव्यवस्था दृष्टिगोचर होती है। सभी भारतीय दर्शनों मे कर्म के सम्बन्ध में कुछ न कुछ विवेचन अवश्य किगा गया है। अविद्या से बन्धन, विद्या मुक्ति सभी दर्शनों का मुख्य सिद्धान्त है। अविद्या का स्वरूप भी सबमें समान है। इसी अविद्या से संसार के समग्र राग द्वेष और क्लेश उत्पन्न होते हैं। उसके विपरीत विद्या ज्ञान से मुक्ति प्राप्त होती है। ऋते ज्ञानान्न मुक्ति (ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं) इस सिद्धान्त को सभी दर्शन मानते है। तदत्यन्त विमोक्षोऽवर्गः, इस सूत्र के अनुसार आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक दुःखों स छूट जाना ही मोक्ष हिन्दु धर्म में जो चार पुरुषार्थ बताये गये हैं (पुरुषार्थ चतुष्ठयः) उनमें मोक्ष अन्तिम पुरुषार्थ है। इस विषय में एक विचित्र मत फैला है कि मोक्ष प्राप्ति का वह स्थान यह जीवन नहीं है। पर सभी दर्शनों में प्रायः इस जन्म में ही त्रिविध ताप को नष्ट करके जीवन मुक्ति को परम लक्ष्य माना है। यह ठीक है कि मोक्ष एक दुरुह लक्ष्य है फिर भी इसका तात्पर्य कदापि नहीं कि वह इस जीवन में प्राप्त नहीं हो सकता। जैन, बौद्ध वेदान्त एवं षड़दर्शन जीवन मुक्ति का ही आदर्श माना है। न्याय वैशेषिक में मोक्ष की उन्नत अवस्था में दुःख की निवृत्ति मात्र मानते हैं। पर मीमांसा वेदान्त जैन, बौद्ध, दर्शन मोक्ष में आनन्द की उपलब्धि को मोक्ष मानते हैं। दर्शन में मोक्ष प्राप्ति के विभिन्न उपाय बताये गये हैं फिर भी उनमें एकता परिलक्षित होती है। योग दर्शन में मोक्ष की जो प्रक्रिया बताई गई है "योगश्चित वृत्ति निरोध" यमनियमादि इन सभी को दर्शन मानते हैं। बौद्ध धर्म में समाधि को विशेष स्थान प्राप्त है। क्योंकि बुद्ध ने समाधिस्थ होकर ही न्याय पथ पाया था। जैन धर्म दर्शन यम, नियम और ध्यान को अधिक महत्व देता है। न्याय, आत्म साक्षात्कार के लिए धर्मादि को स्वीकार करता है। सांख्य भी इसमें एक मत है। वेदान्त यद्यपि ज्ञान को मोक्ष का एक मात्र कारण मानता है, पर ज्ञान प्राप्ति के लिये चित्त की शुद्धि करने के कारण साधन रूप में दमादि को स्वीकार करता है। सभी दर्शन श्रवण, मनन निदिध्यासन मोक्ष प्राप्ति के लिए स्वीकार करते हैं। कठोपमेषद में प्रेय श्रेय मार्ग को भी सभी दर्शनों ने आवश्यकतानुसार स्वीकृती दी है। इसी प्रकार सभी भारतीय दर्शनों में जीवन की सफलता के प्रति एकता परिलक्षित होती है। सूक्ष्म विवेचन करने के पश्चात् उनमें पारस्परिक विरोध की सम्भावना बहुत कम दृष्टिगोचर होती है। ऐसा सुनिश्चित मत है।

जिसने ज्योति जगाई !

जिसने ज्योति जगाई घर घर, है अपना वर्चस्व दिया ।
धीर वही, गम्भीर वही, जिसने अपना सर्वस्व दिया ।।

जिसने वीणा बजा प्रेम की, मुग्ध किया अवनी अम्बर ।
जिसने जन जन की बाणी को, दिया स्नेह का शाश्वत स्वर ।।

पुन्य प्रभाती गाकर जिसने, किया विमल सबका अन्तर ।
जिसने भक्ति सुधा बरसा कर, दिया चेतना स्रोत अमर ।।

सीपी बना स्वयं, मोती को पाल, हृदय का अर्घ्य दिया ।
धीर वही, गम्भीर वही, जिसने अपना सर्वस्व दिया ।।

जो समाज के बिखरे मोती, प्रतिपल चुनता रहता है ।
संघर्षों का ताना बाना, हँस कर बुनता रहता है ।।

जिसने स्वयं हथेली पर सर रख कर बाँधा कफ़न सदा ।
जीवन के संगीन सफ़र में भी, जो रहता मगन सदा ।।

जिसने तजे मखमली गद्दे, काँटों को श्रेयस्व दिया ।
धीर वही, गम्भीर वही, जिसने अपना सर्वस्व दिया ।।

दिशा हीन लोगों को जिसने, सत्य ज्ञान का दान दिया ।
वर्तमान को जीत, प्रगति पर जिसने अनुसन्धान किया ।।

सामाजिक गति विधियों को, जिसने उन्मुक्त विहान दिया ।
युवा हृदय के संकल्पों को, नव जीवन वरदान दिया ।।

जिसने पारस मणि बन, लोहे को कँचन तेजस्व दिया ।
धीर वही, गम्भीर वही, जिसने अपना सर्वस्व दिया ।।

जो न किसी की चाटुकारिता करके मान गँवाता है ।
टूटी बैसाखी के बल पर कभी नहीं इतराता है ।।

'कर्म बोध' जिसके जीवन में, मूर्तिमान बन कर छाया ।
'संघ शक्ति' का सूत्र सँभाले वही मनुज है मुस्काया ।।

अपने गतिमय जीवन से जिसने सबको गन्तव्य दिया ।
धीर वही, गम्भीर वही, जिसने अपना सर्वस्व दिया ।।

रचयिता—सावित्री रस्तोगी, जवाहर नगर, मेरठ ।

श्री दयानन्द जी सरस्वती महाराज
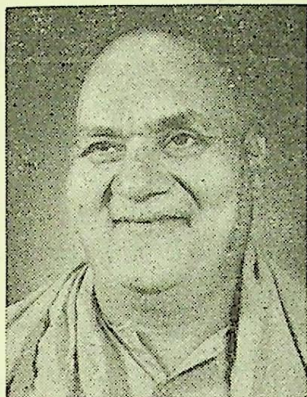
ऐ जमीनें हिन्द कुछ गिनती भी तुझको याद है।
कितने पिनहां हो गये तुझ में शहीदानें वतन ।।

लेखक—श्री रामानन्दजी सरस्वती द्वारा

हमारी भारत भूमि को ये गौरव प्राप्त है, इसने अपने अन्दर अच्छे-अच्छे शूरमाओं को समेट रखा है। हमारी ये धरती माता अपने प्यारे सपूतों से कितना प्यार करती है, उनके दुःखों को क्षणमात्र भी नहीं देख पाती और तत्काल ही उन्हें अपनी गोद में समेट लेती है। धरती माता की ये विशेष कृपा सिर्फ उन्हीं लोगों पर तत्काल होती है जो कि सच्चाई पर होते हैं। निःस्वार्थ भाव से दुनियां को सच्चा रास्ता दिखाते हैं। जिन पर धरती माता अपनी विशेष कृपा करती चली आई हैं, उनमें से एक स्वामी श्री दयानन्दजी महाराज भी हैं। स्वामीजी महाराज का जन्म एक गुजराती ब्राह्मण परिवार में हुआ। आप के पिता श्री करशनजी भाई मोरवि राज्य के अन्तर्गत आने वाले टंकारा नाम के एक कस्बे के रहने वाले थे और मोरवि रियासत में ही एक बड़े सरकारी ओहदे पर काम करते थे। श्री करशनजी भाई त्रिवेदी बड़े नेक और भक्त आदमी थे। वे शिव की पूजा किया करते थे और शिवरात्री का पर्व बड़ी धूमधाम से मनाते थे।

एक दिन शिवरात्री के मौके पर श्री करशनजी भाई मय अपने पूरे परिवार के अपने ही घर में बने एक छोटे से शिव मन्दिर में बैठकर रात्री जागरण कर रहे थे। रात के चार बजे सबको नींद ने आ घेरा लेकिन स्वामी श्री दयानन्द जी महाराज जो के उस समय मूलशंकर नाम के एक दस बारा साल के बालक थे, अच्छी तरह से जाग रहे थे और टकटकी लगाये शिव की पिंडी की तरफ देख रहे थे क्योंकि उनके पिता श्री करशनजी भाई त्रिवेदी ने उनको ये विश्वास दिला रखा था कि सारी रात जागकर शिव की पिण्डी पर नजर जमाये रखने से भगवान शिव के दर्शन हो जाते हैं। बेचारा मूलशंकर पूरे विश्वास के साथ जागता रहा और पिण्डी को देखता रहा लेकिन उनको शिव के तो दर्शन नहीं हुए। अलबत्ता दो चार चूहों ने बालक के दृढ़ विश्वास से प्रभावित होकर अपनी ही कुछ लीला दिखानी शुरू कर दी ताकि बालक का रतजगा तो सफल हों। चूहों ने सोचा होगा कि ये जड़ चीज तो हरकत में आने से रही। चलो थोड़ा सा मनोरंजन हम ही कर दें। ये सोचते ही चूहे महोदय मैदान में आ गये थे और उन्होंने अपनी लीला दिखानी शुरू कर दी थी, याने वे बेतकल्लुफ होकर जनाब शिव के ऊपर चढ़ें चढ़ावे को किसी राजनेता का माल समझ-कर साफ करने में जुट गये थे। उन्होंने कुछ चढ़ावा तो अपने पेटों के सुपुर्द किया और कुछ अपने बिलों के और विदा होते समय निशानी के तौर पर अपनी कुछ मेंगने भी वहां कर गये ताकि निशानी रहे और भक्तगण भी इस मुगालते में ना रहे कि उनके चढ़ाये गये चढ़ावे को भगवान शंकर ने नहीं बल्कि उनके पुत्र श्रीगणेश के वाहन ही खा गये हैं। अगर श्रीमान मूसक महोदय अन्तिम क्रिया ना करते याने मेंगने के रूप में अपना मूसकप्रसाद ना छोड़ जाते तो शंकर भक्त बड़े खुश होते और ऐलान कराने से भी ना चूकते कि आज अमुक मन्दिर में भगवान शंकर प्रकट हुये और अपने सामने चढ़ाया गया सारा परसाद ग्रहण कर गये। बड़ी चेतन मूरती हैं, वाह-वाह क्या कहने, बहने लग जाती भक्तों की भीड़, लेकिन प्रभु भला करें चूहों का जिन्होंने ऐन मौके पर इमरजेंसी का काम

करके बालक मूल शंकर को जगा दिया और सच्चे शिव का परिचय करा दिया। लेखक उन चूहों को हार्दिक धन्यवाद करता है।

खैर, चूहे तो अपनी लीला दिखाकर अपने बिलों में जा छिपे। लेकिन बालक मूलशंकर का हृदय बदल गये। बालक मूलशंकर ने अपने पिता को सारी कहानी बताकर सच्चे शिव का उनसे परिचय मांगा। मूलशंकर जी बोले, पिताजी हम लोगों ने एक ऐसी चीज के लिये अपनी रात खराब की जो कि अपनी रक्षा तक भी नहीं कर सकता। हमें तो दे ही क्या सकता है? आप भविष्य में मुझे ऐसे रतजगे के लिये मजबूर ना करें तो अच्छा रहेगा। मुझे तो आप सच्चे शिव के दर्शन करा दें, इस पिण्डी पर तो मेरा विश्वास जमता ही नहीं। मूलशंकर से अपने कुल देवता शिव का अपमान सुनकर, करशनजी महाराज आपे से बाहर होकर चीखने चिल्लाने लगे और मूलशंकर जी घर से चुपचाप निकल गये और कई मठों-मंदिरों, मेले-ठेलों, कुम्भ आदि धार्मिक स्थानों का चक्कर काटते रहे, वे सिद्धपुर गुजरात के मेले में भी इसीलिये गये थे कि वहां हजारों साधु जमा होते हैं। शायद उनमें से कोई सच्चे शिव याने ईश्वर का सही परिचय दे सके। लेकिन ऐसा हुआ नहीं बल्कि वे अपने पिता द्वारा पकड़ लिये गये। लेकिन मौका मिलते ही फिर भाग खड़े हुए, उस बेचारे बालक को झूठे व पाखडी साधुओं से ही वास्ता पड़ता रहा, जिसमें कुछेक ने तो उनसे उनके कीमती कपड़े व अंगूठी वगैरा भी ये कहकर उतरवा ली कि तुम ब्रह्मचारी हो ये सब उतार फेंको और सादे कपड़े पहनों, उनकी गरम चादर भी एक ठग ने ये कह कर ले ली कि ये अशुभ है, इसे मुझे दे दो। अलगरज के बेचारे मूलशंकर को कई कई दिन तक भूखा प्यासा रहकर सफर जारी रखने पर मजबूर होना पड़ा। उन्होंने दृढ़ निश्चय कर लिया कि जब तक वो सच्चे शिव को नहीं जान लेगा तब तक अपना सफर जारी रखेगा। वो आगे बढ़ता ही गया, बढ़ता ही गया ना तो उसने कोई तीरथ बाकी छोड़ा और ना ही नदियों का उदगम स्थल ही। वो गंगोत्री, जमनोत्री, बद्रीनाथ, केदार नाथ, जोशीमठ, उत्तरकाशी, काश्मीर, मानसरोवर आदि-आदि सारे तीरथों में सिर्फ इसलिये भटकता रहा कि वहां उसे प्रभु परमेश्वर के जानने वाले अवश्य ही मिलेंगे लेकिन उनको हर जगह से मायूसी ही हाथ लगी, उनको अपना चेला बनाकर अपने मठ का मठाधीश बनाने वाले तो बहुत मिले लेकिन ईश्वर का सही रूप बताने वाले कहीं भी ना मिल सके। बद्रीनाथ से वापस लौटकर जब वे हरिद्वार आये तो वहां पर एक महात्मा ने उन्हें बात-चीत के दौरान बताया कि वे अब अपना समय बरबाद ना करें और सीधे वृन्दावन पहुँच जायें। वहां यमुना नदी के किनारे पर एक स्वामी बृजानन्जी महाराज रहते हैं, वे बड़े ही विद्वान पुरुष हैं और बड़े पहुँचे हुए साधु भी हैं। मैं उनका पुराना मिलने वाला हूँ। मैं अच्छी तरह से जानता हूँ कि वो क्या हैं? तुम देर मत करो और फौरन वहां पहुँचो। मैं भी तुम्हारी ही तरह भटकता फिरा। सारी दुनिया में लेकिन किसी ने भी मेरी तसल्ली नहीं की। एक दिन अचानक ही एक विद्यार्थी के साथ में उनकी पाठशाला में पहुँच गया, उस समय वे यजुर्वेद के चालीसवें अध्याय का पाठ पढ़ा रहे थे। मैं ये देखकर दंग रह गया कि एक प्रज्ञाचक्षु व्यक्ति इतनी शुद्ध सस्कृत कैसे बोल लेता है और मंत्र का उच्चारण भी व्याकरण के अनुसार ही निहायत शुद्ध और प्रभावशाली ढंग से कैसे कर लेता है। मेरी हैरत का तो जब ठिकाना ही ना रहा जबकि उन्होंने उपनिषद और ब्राह्मण ग्रंथों का हवाला दे देकर वेद मंत्रों की व्याख्या शुरू की। मैं उस वक्त अपने आंसू ना रोक सका। जब स्वामीजी ने ये फरमाया ब्रह्म तो वो है जिसको जानते ही पूर्ण आनन्द की लहरें मन और हृदय से निकलना शुरू हो जाती हैं। जिसको जान लेने के बाद कुछ भी जानना बाकी नहीं रहता और जिसे पा लेने के बाद किसी भी चीज को पा लेने की इच्छा हमेशा-हमेशा के लिये खत्म हो जाती है। ब्रह्म याने ईश्वर वो ही है, जो ना खाता है ना पीता है ना सोता है ना ऊंधता हैं ना मरता है और ना ही जन्मता है। वो अमर हैं, अनादि है, अंनत है, अजन्मा है, सर्वतो शक्तिमान है। ना उसकी कोई सूरत है और ना ही उसकी कोई मूरत। मैं बृजानन्द उस निराकार ब्रह्म को नमस्कार करता हूँ, जिसने कीड़ी से लेकर हाथी तक को पैदा किया। जिसने धरती व आकाश की रचना की। जिसने सारे ब्रह्माडों को बनाया। ये कहते हुये उन्होंने अपना माथा धरती की तरफ झुकाया और प्रभु के प्रेम से आत्म विभोर होकर टपाटप आंसू बहाने लगे। उनका प्रभु के प्रति सच्चा आदर और प्रेम देखकर मैं भी अपने आंसू ना रोक सका और दहाड़ मार-मार कर रोने लगा। मुझे सब कुछ अकस्मात ही मिल चुका था। मैंने चन्द

मिनटों में ही ईश्वर के सच्चे स्वरूप को जान लिया था और आज मैं पूरी तरह से संतुष्ट हूँ और उस एक ही ईश्वर का दिवाना बना फिरता हूँ। इस गंगा घाट पर मैं सिर्फ इसलिए जमा हुआ हूं ताकि भूले-भटकों को ईश्वर का सही परिचय दे सकूं। तुम फौरन वहां चले जाओ जैसा कि मैंने बताया है उससे भी ज्यादा तुम उनमें पावोगे। स्वामीजी फौरन वृन्दाबन पहुँचे और कुटिया तलाश करके कुटिया के दरवाजे तक पहुँच गये और उन्होंने कुटिया के दरवाजे को जा खटखटाया, अन्दर से स्वामी जी को आवाज आई-भाई कौन हो, इस पर दयानन्द जी बोले मैं यहां आप से ये ही तो यहां जानने आया हूं कि मैं कौन हूं? स्वामी बृजानन्दजी महाराज इस जवाब को सुनकर बड़े ही प्रभावित हुए और उन्होंने इनको अन्दर बुला लिया, बैठाया, सारा हाल चाल पूछा और उनको अपने पास रखकर बड़ी मेहनत से पढ़ाया। सारे वेद व सारे दर्शन शास्त्र कंठस्थ करा दिये, उपनिषद, वेद-वेदान्त आदि सारे आर्ष ग्रंन्थों को कंठस्थ कराकर, उनसे दक्षिणा के रूप में सिर्फ यही मांगा कि जो कुछ तुम मुझ से सीख चुके हो वो पूरी दुनिया को सिखाओगे। इसके लिए चाहे तुम्हें कितना ही अपमान क्यों न सहना पड़े, कितनी ही मुसीबते तुम्हें क्यों ना उठानी पड़ें। लेकिन तुम इस काम में किसी भी प्रकार की ढील ना आने दोगे। तुम्हें जान से भी हाथ धोना पड़ सकता है क्योंकि हर सच्चे व्यक्तियों के साथ ऐसा होता रहा है। दुनिया सच्चाई को आसानी से स्वीकार नहीं करती। तुस किसी भी लोभ में पड़कर सचाई से भूलकर भी दूर मत हटना। मौत से भी कभी ना डरना, जब वो आयेगी तो तुम्हें सात तालों में भी ना छोड़ेगी और हर औरत को अपनी माता के रूप में ही देखना चाहे वो बाजार में बैठने वाली कोई महिला ही क्यों ना हो। पहले राजे महाराजाओं को ही प्रभु के सच्चे स्वरूप के बारे में बताना क्योंकि हर अच्छाई पहले बड़ों से ही फैलती है। ये सब सुनकर महात्मा दयानन्दजी ने अपने गुरु को पूरा विश्वास दिलाया कि आपने जैसा कहा है, ये सेवक वैसा ही करेगा और गुरु गृह से विदा ली। बाद में जो किया उसे पाठकगण उनकी जीवन कथा से पढ़ लें जो कि दो हिस्सों में है और आर्य समाज बुढ़ाना द्वार, मेरठ उत्तर प्रदेश को पत्र लिखकर आसानी से मंगाई जा सकती है और उनके क्या सिद्धान्त हैं याने स्वामी दयानन्दजी महाराज ने किन-किन बातों से करने और किन-किन बातों को ना करने की आज्ञा दी है। वेदों के आधार पर, उन सबको जानने के लिए सत्यार्थ प्रकाश मंगाकर पढ़े। और भी कई पुस्तकें हैं, उनके द्वारा लिखी गई जिनको पढ़कर आप भी सचाई से अवगत हो सकते हैं। बे सभी पुस्तकें आर्य समाज बुढ़ाना द्वार के मंत्री श्री इंद्रराजी जी को पत्र लिख कर प्राप्त की जा सकती हैं। ऐसे आर्य समाज के दस नियम हैं, जो कि हर पुस्तक के आखरी पृष्ठ पर आम तार से छपते हैं। पाठक सिर्फ उन दस नियमों को ही अगर अपना लें तो उनका जीवन सुधर सकता है। उन दस नियमों में सबसे पहले ईश्वर का सही परिचय कराया गया है याने ईश्वर निराकार है अजन्मा है, सर्वशक्तिमान है, न्याय करने वाला है परम दयालु है, ना उसकी सूरत है और ना ही उसकी कोई मूरत। बस वही पूजने के लायक है। हर एक को उसी एक ईश्वर की शरण में आना चाहिये। हर आदमी को अपनी कमाई में से दूसरों को भी कुछ देना चाहिए, कमाने में जितना शेर हो, खर्च करने में दस गुना ज्यादा शेर बनकर दिखाना चाहिए, सिनेमा आदि पर नहीं। गरीब व लाचार व्यक्तियों पर खर्च करना। दूसरों की उन्नति का ख्याल रखकर ही अपनी उन्नति चाहना ठीक रहता है, दूसरों के घर उजाड़कर अपनी उन्नति करने वाला हमेशा बरबाद ही रहता है, लिहाजा किसी का घर ना उजाड़ा जाये। किसी को ना सताया जाये सबका यथा सम्भव सम्मान किया जाये। भूखों को रोटी और प्यासों को पानी पिलाया जाये आदि-आदि बातें उस दस नियमों के अन्दर पाठकों को पढ़ने को मिलेंगी। स्वामी दयानन्द जी महाराज ने इन सारी सच्चाइयों को आम जनता तक पहुंचाने के लिये ही जोधपुर नरेश की उस पेशकश को भी ठुकरा दिया था जिसमें उन्होंने एक बड़ा मंदिर, महल बनाने और करोडों की सम्पत्ति उनको सौंप देने की बात कहीं थी। स्वामीजी ने कभी भी झूठ और फरेब का सहारा नहीं लिया और ना ही वे कभी किसी से दबकर ही रहे, उन्होंने काशी में बड़े-बड़े पंडितों को शास्त्रार्थ में हराया, हरिद्वार, कुम्भ में सबको ललकारा, अपना झंडा गाड़कर मैदान में डटे और लगे सबको ललकारने, एक भी सामने आने की हिम्मत ना कर सका, ऐसे निडर व सच्चे ईश्वर भगत स्वामी दयानन्दजी सरस्वती को, लेखक बारम्बार नमस्कार करता है और इस शेर के द्वारा उनको श्रध्दाजलि अर्पित करता है :—

ऐ जमीनें हिन्द कुछ गिनती भी तुझको याद है।
कितने पिनहां हो गये, तुझमें शहीदानें बतन ॥■

पं० गुरुदत्त विद्यार्थी

लेखक—सोमदेव आर्य

यू तो जीने के लिये लोग जिया करते हैं,
लाभ जीवन का नहीं फिर भी लिया करते हैं,
मृत्यु से पहले तो मरते हैं हजारों लेकिन,
जिन्दगी उन्हीं की है, जो मरकर भी जिया करते हैं।

जो जाति या समाज अपने पूर्वजों एवं महापुरुषों को भुला देती है वह धर्म पथ से च्युत हो जाती है। कारण यह है कि मनुष्य अनुकरणशील प्राणी है। दूसरों के शुभ कर्म देख या किसी की प्रशंसा सुनकर उसे भी सुकर्म करके मान एवं गौरव प्राप्त करने की अभिलाषा होती है। जिन लोगों के हृदय पटल पर अपने महाधनों के सुकृत्यों की स्मृतियाँ अंकित रहती हैं वे उत्तरोत्तर उन्नति पथ पर अग्रसर रहते हैं। पर जिन लोगों के सामने बड़ों का उत्तम आदर्श नहीं होता उनकी समाज एवं जाति का इतिहास नष्ट हो जाता है।

आर्य समाज ने जाति और देश को जागृत करके जगत में प्राचीन आर्य संस्कृति को पुनर्जीवित करने का शुभ कार्य किया है। ऋषि दयानन्द जी ने आर्य जाति को तप, त्याग, धर्म, सत्य, न्याय और परोपकार की दीक्षा का मार्ग दिखलाया।

रात्रि का काला कलुषित घोर अन्धकार प्रतिदिन प्रकाश के हाथों पराजित होकर भी भुवन भास्कर को ढक लेने का कुप्रयास करने की धृष्टता से बाज नहीं आता। ऋषि दयानन्द सूर्य को अनेक बार रूढ़िवाद के बादलों से ढकना चाहा।

जब स्वार्थी, दम्भी एवं दुष्ट जन ऋषि का सामना न कर सके तो प्राण लेने पर उतारु हो गये। कितनी बार दीप बुझाना चाहा, पर बचाने वाला बचाता रहा।

पण्डित गुरुदत्त जी का जन्म २६ अप्रैल १८६४ तदनुसार ६ बैशाख १९२१ को मुलतान में हुआ था। आपके पिता का नाम राम कृष्ण था। लाला रामकृष्ण फारसी के योग्य विद्वान तथा पंजाब शिक्षा विभाग में अध्यापक थे। गुरुदत्त जी से पूर्व राम कृष्ण जी की गृहस्थ-वाटिका में कई पुष्प खिले परन्तु वे सभी थोड़े-थोड़े समय के पश्चात् मुरझा गये।

प्रारम्भिक शिक्षा घर पर होने के पश्चात् जब आप ८ वर्ष के थे तब लाला रामकृष्ण जी ने आपको डिस्ट्रिकट स्कूल झंग में प्रवेश करा दिया।

जब आप दशम कक्षा में थे आपके साथ लाला चेतनानन्द व भक्त रैमल जी भी पढ़ते थे। ये दोनों युवक आर्य समाज के सदस्य थे। इन्हीं की प्रेरणा से आपकी रुचि आर्य साहित्य व आर्य समाज में लगी। परिणाम स्वरूप २० जून १८८० के शुभ दिन गुरुदत्त जी ने आर्य समाज की सदस्यता का फार्म भर दिया और विधिवत् आर्य समाज के सदस्य बन गये।

उन दिनों हिन्दुओं में बाल विवाह की प्रथा थी। गुरुदत्त जी अभी स्कूल में पढ़ ही रहे थे कि उनका विवाह सेवी बाई के साथ कर दिया।

१८८१ में गुरुदत्त जी का स्कूल जीवन समाप्त हुआ और पंजाब विश्वविद्यालय लाहौर एम० ए० प्रथम वर्ष में प्रविष्ट हुए। पढ़ने में आप तेज थे। अध्यापक व इन्सेपक्टर इस होनहार युवक को देखकर आश्चर्यचकित हो जाते थे।

गुरुदत्त जी के विद्यार्थी जीवन के साथ और कई अंशों में उनके शिष्यों में से कुछ नाम पंजाब के सार्वजनिक जीवन में ख्याति पा चुके हैं। लाला हंसराज, दीवान नरेन्द्रनाथ, लाला भगतराम, लाला लाजपतराय ये लोग पंडित जी के केवल कालिज मित्र ही न थे, वे उनके धार्मिक ऊहापोह के भी कई अंशों में साथी थे।

गुरुदत्त जी ने १८८२ में एक 'स्वतन्त्र वाद-विवाद सभा' की स्थापना की। सर्वसम्मति से गुरुदत्त जी को मन्त्री बना दिया गया। लाजपतराय सरीखे तथा उनके सभी प्रमुख मित्र सदस्य बन गये। सबकी आयु लगभग २० वर्ष की थी।

१८८३ में ऋषि दयानन्द जी को दूध में काँच व विष मिलाकर पिलाया गया। फलस्वरूप उनकी स्थिति चिन्ता-जनक हो गयी। चिकित्सा की गई पर सब व्यर्थ। शीघ्र ही यह समाचार सर्वत्र फैल गया। सब स्थानों से श्रद्धालु ऋषिराज की सेवा के लिये राजस्थान की ओर चल पड़े। लाहौर आर्यसमाज की अंतरंग सभा ने जीवनदास व गुरुदत्त को सेवा के लिये भेजने का निश्चय किया। सन् १८७८ में देव दयानन्द मुलतान आये पर बालक गुरुदत्त उस समय झंग में बैठा था तब गंगा घर आई पर प्यास न बुझा पाया। अब प्यासा स्वयं गंगा के पास जा रहा है। २९ अक्तूबर सांय को दोनों अजमेर पहुँच गये।

आगरा गेट के बाहर मिनार हाउस में महाराज विराजमान थे सारे शरीर पर फफोले थे। हिचकियाँ आ रही थीं। डा० लक्ष्मण दास की ओषधियाँ चल रही थीं। गुरुदत्त जो ऋषिवर की भयंकर बीमारी के कारण उनसे कोई वार्तालाप भी न कर पाये। केवल दर्शन हुए। पर जो चीज डार्विन और स्पेन्सर, न्यूटन और वेकल से न मिल सकी; वह मिल गयी। दर्शनमात्र से जीवन में शांति प्राप्त हो गई। जन्म मंगलवार को हुआ था और पुनर्जन्म भी मंगलवार को हो गया।

घर आकर दो कपड़ों पर आर्य समाज के पाँच-पांच नियम लिखवा लिये। प्रातः काल जलपान किया। फिर एक कपड़ा आगे लटका लिया, दूसरा पीठ से बाँध लिया और चलने लगे ऋषि सन्देश सुनाने के लिये। देवी ने देखा तो विस्मित हो गई। हाथ पकड़कर बोली—'पतिदेव, यह क्या हाल बनाया है? क्या कहेंगे लोग? 'उत्तर मिला' भोली तू नहीं जानती। अब यह जीवन मेरा नहीं रहा। मैं इसे ऋषि के चरणों में अर्पित कर आया हूँ। अब रोम-रोम उनकी धरोहर है, देवी। कोई क्या कहेगा—कोई क्या कहेगा—इसकी चिन्ता कैसी?

पंडित गुरुदत्त जी ने ऋषिवर को समझ लिया। वे जानते थे कि लोग अभी उस दिव्य देवता को समझ नहीं पाये। समझ लेंगे तो इनका भी यही हाल हो जायेगा। इसलिये आर्य समाज अमृतसर के उत्सव पर भाषण देते हुए उन्होंने कहा था। ऋषि के महत्व का लोगों को कुछ समय बीतने पर पता लगेगा, और वह भी जब विद्वान पक्षपात त्यागकर उनके ग्रन्थों पर विचार करेंगे। स्वामी जी के ग्रन्थों को पढ़ने में उनकी विशेष रूचि थी। इसलिये वे कहा करते थे। कि मैंने १८ बार सत्यार्थ प्रकाश पढ़ा। पर मैंने जब-जब पढ़ा तब-तब नई से नई शिक्षा और जानकारी प्राप्त हुई।

१ जून १८८६ का दिन डी० ए० वी० स्कूल की स्थापना के लिये निश्चित किया गया। अतः ३१ मई को आर्य समाज मन्दिर लाहौर में गुरुदत्त ने एक सभा बुलाई जिसमें स्कूल की आवश्यकता और उद्देश्यों पर प्रकाश डाला गया। तथा जनता में इस पवित्र कार्य के लिये उत्साह भरा। आखिर प्रतीक्षा की घड़ियाँ समाप्त हुईं और १ जून को आर्य समाज मन्दिर गली बच्छो वाली में एक सार्वजनिक सभा करके डी० ए० वी० स्कूल की स्थापना कर दी।

पंडित जी ने १८८८ में इतना कार्य किया जितना साधारण व्यक्ति इस वर्ष में भी नहीं कर सकता। वे 'कृण्वन्तोविश्वमार्यम्' की धुन के दीवाने हो गये। जो व्यक्ति सम्पर्क में आ जाता उसे ही आर्य बनाने के लिये जुट जाते। न जाने कितने व्यक्तियों को इस प्रकार नव जीवन मिला।

जुलाई १८८९ में "वैदिक मैगजीन" के नाम से आंग्ल भाषा में एक मासिक पत्रिका का संपादन आरम्भ किया। पंडित जी इस पत्रिका में वैदिक सिद्धान्तों पर खोजपूर्ण लेख लिखा करते थे। लेख इतने विद्वता पूर्ण होते थे कि देश-विदेश में सर्वत्र पत्रिका का मान हुआ। पत्रिका चलती फिरती आर्य समाज थी।

ईश्वरीय नियम अपना बदला लिये बिना नहीं छोड़ते। जो बरसात समय से पहले आ जाती है वह शीघ्र ही समाप्त हो जाती है। पंडित गुरुदत्त जी में प्रतिभा समय से पूर्व ही बरस पड़ी थी। जिस उम्र में दूसरे बच्चे गिल्ली डंडा खेलते हैं, उसमें गुरुदत्त जी ने प्राणायाम करना आरम्भ कर दिया था। १९ वर्ष की अवस्था का विद्यार्थी पंजाब की आर्य समाज का प्रतिनिधि बनाकर अजमेर भेजा गया। २४ वाँ वर्ष पूरा होता कि नौजवान एम० ए० को पढ़ाने के लिए गवर्नमेंट कालेज से साइन्स का बड़ा अध्यापक नियुक्त कर दिया जाता है।

फिर पडित जी ने नियमों को तोड़ने में कोई कसर

न छोड़ी। जिस काम में लगे उसके सिवा सब कुछ भुला दिया। जिन लोगों को उसे ज्ञानी आत्मा के सहवास का अवसर मिला है, वे कहा करते—कि जब वे वैदिक मैगजीन को लिखने बैठते थे तब कई दिनों तक घर से बाहर नहीं निकलते थे। जब पढ़ने लगते तब ४८ घण्टे तक एक मिनट भर नींद लिये बिना पढ़े चले जाते थे। जब सोने की धुन सवार होती थी तब २४ घण्टे की इकट्ठी समाधि लगती थी।

इस प्रकार के अतिक्रमणों से लोहे का शरीर भी अस्त व्यस्त हो सकता है। जवानी में पंडित जी का शरीर सुडौल व मजबूत था। परन्तु ईश्वरीय नियमों के उल्लंघन ने उसे शिथिल कर दिया। प्रतीत होता है कि गुरू के बिना प्राणायाम के परिश्रम ने भी शरीर पर कुछ बुरा प्रभाव उत्पन्न कर दिया। इन कारणों से आर्य समाज की आशाओं के केन्द्र उस होनहार नवयुवक को क्षय रोग ने आ घेरा। फलस्वरूप १९ मार्च १८८९ को प्रभात के ७ बजे स्वामी दयानन्द के सच्चे शिष्य ने २६ वर्ष की अल्पायु में ही इस लोक से प्रयाण कर दिया।

पंडित गुरुदत्त विद्यार्थी जी उस कली की भाँति थे जो खिलने से पूर्व ही मुरझा गई। यह ठीक है कि पंडित जी के पश्चात् आर्य समाज की गोदी में अनेक रत्न खिले जिन्होंने आर्य समाज का गौरव बढ़ाया। पर कोई गुरुदत्त फिर न मिल सका। उनका अभाव तो अखरता रहेगा। उनके बिना वह शोभा ही नहीं। हो भी कैसे ?

जिसे रौनक तेरे कदमों ने देकर छीन ली रौनक,
वह लाख आबाद हो, उस घर की विरानी नहीं आई।

प्रभु करे हम पण्डित जी के चरण-चिन्हों पर चलकर विश्व में वैदिक मान्यताओं का प्रचार कर सकें। यही उनके प्रति सच्ची श्रद्धांजलि होगी।

संस्मरण—प्रचार की धुन में धनी पं० रामचन्द्र जी देहलवी

पं० रामचन्द्र जी देहलवी फव्वारे व गांधी मैदान दिल्ली में सप्ताह में 6 दिन तक नियत समय पर नियम पूर्वक व्याख्यान दिया करते थे। यह कार्य-क्रम उनका सन् 1910 से 1925 तक अबाध गति से चलता रहा। आश्चर्य की बात है कि इस लम्बी अवधि में प्रवचनों के क्रम में एक दिन भी नागा नहीं हुआ। जबकि उनके एकलौते पुत्र प्रिय पुत्रियों एवं उनकी कर्त्तव्य-परायणा धर्म पत्नी की मृत्यु भी इन्हीं दिनों में हुई।

दृढ़ व्रती देहलवी

जब पं० रामचन्द्र जी देहलवी की धर्म पत्नी का स्वर्गवास हुआ तब उनकी आयु 36 वर्ष की थी अन्तिम समय में अपनी धर्म-पत्नी के शरीर पर हाथ रखकर उन्होंने एक भीषण प्रतिज्ञा की थी कि देवी ! जिस दृष्टि से मैंने तुम्हें देखा है वह दृष्टिकोण अब और किसी शरीर पर नहीं रखूंगा। यह रिश्ता अब संसार तुम्हारे शरीर के साथ ही समाप्त हो गया। अब तो केवल मां, बहिन और बेटी के सम्बन्ध मेरे लिए दुनिया में रहेंगे।

धार्मिक क्षेत्र में प्रयाप्त ख्याति होने के कारण कई लड़कियों ने जो अत्यन्त रूपवती, गुणवती ऐश्वर्य सम्पन्न थीं पं० जी के साथ अपने विवाह के लिए पत्र लिखे। किन्तु वे अपनी प्रतिज्ञा पर भीष्म की भांति अडिग रहे। उन्होंने उन्हें बेटी से सम्बोधित किया। इस प्रकार अपने निश्चय से न टले। ■

मेरा दान खाता और टिहरी में एक विचित्र घटना

लेखक—श्री गंगा प्रसाद एम० ए० चीफ जस्टिस

मैं अपनी नौकरी के आरम्भ से अपनी आय का दशांश दान में देता हूँ, जैसा शास्त्रों का आदेश है, और दान के आय व व्यय का अलग-अलग हिसाब रखता हूँ। टिहरी जाने पर पहले मुझको ८०० रु० मासिक वेतन मिलता था। तब मैं ८० रु० माह दान देता था। परन्तु १००० रु० माह वेतन होने पर २०० रु० माह देने लगा। १९३५ में एक ऐसी विचित्र घटना हुई जिससे मैं उसके बाद आधा वेतन ५०० रु० माह दान रूप में देने लगा। उसका संक्षिप्त वर्णन करना आवश्यक है। १० नवम्बर १९३५ को मैं महाराजा साहब का जरूरी बुलावा आने पर टिहरी से घोड़े पर नरेन्द्र नगर जा रहा था जहाँ महाराजा साहब का निवास था, घोड़ा तेज चलता था। नरेन्द्र नगर से १२ मील इस ओर एक स्थान पर विकट मार्ग था। दो बजे दोपहर का समय था। घोड़े को सड़क के किनारे के पास चलने की कुछ आदत थी, सड़क ८ फुट चौड़ी थी। उसके एक तर्फ ऊँचा व सीधा पहाड़ था। दूसरी तर्फ गहरा खड्ढा था। उस विकट स्थान पर उसका पांव फिसल गया। मुझको यह अभ्यास था कि रकाब में पांव का केवल अगला भाग या पंजा रहे, जिससे ऐसी घटना आने पर घोड़े से कूद कर बच जाना सुगम हो। मैंने ऐसा ही किया और शरीर को सड़क की ओर झुकाया। मैं सड़क पर गिरकर सड़क पर खड़ा हो गया और मुझको कोई भी चोट नहीं आई। सारी घटना विचित्र ही थी। मुझको ऐसा भान हुआ मानो किसी ने मुझको घोड़े की पीठ से उठाकर सड़क पर खड़ा कर दिया। घोड़ा सड़क के नीचे जो विकट घाटी थी उसमें गिरा और लगभग १०० या १५० गज नीचे जाकर उसका वदन ठहरा। बीच में कोई वृक्ष या अन्य रुकावट की, वस्तु नहीं थी। घोड़ा वहीं मर गया। उसका सिर टांग आदि व जीन भी टूट गये। नीचे स्थान ऐसा था जहाँ खेत आदि भी न थे। यदि मैं भी गिरता तो मृत्यु होनी तो निश्चित ही थी पर दो या ४ दिन तक किसी को इस घटना की खबर भी न होती। क्योंकि इस घटना के समय उस स्थान पर या उसके आस पास कोई मनुष्य नहीं था। मेरे चपरासी साईस, रिश्तेदार आदि सब बहुत पीछे रह गये थे, कुछ समय के बाद वहाँ पहुँचे। हाल सुनकर हैरान हो गये। मैं सरिश्तेदार का घोड़ा लेकर सीधा नरेन्द्र नगर को चल दिया, क्योंकि आवश्यक कार्य था।

महात्मा नारायण स्वामी ने लिखा कि यह आपका नया जन्म हुआ, इसलिए शेष जीवन ईश्वर की देन समझनी चाहिए और अपना आधा समय धार्मिक कार्यों में लगाना चाहिए। तब से अपना आधा वेतन धर्मार्थ देता रहा।

यौगिक प्रतिभा परिचित ज्ञान

बात सन् 1958 की है। स्वामी आत्मानन्द जी मेरठ पधारे हुए थे। वहाँ वे जी० एम० फर्म. (मेरठ) के मालिक श्री हरीशचन्द जी पं० इन्द्रराज जी के साथ स्वामी जी के दर्शनार्थ पधारे। ज्यों ही उन्होंने स्वामी जी के चरण छू कर नमस्ते की तो बैठते ही स्वामी जी ने उनके कुशल क्षेम की बात के साथ ही पूछा कि क्या आपका मानसिक जाप पूरा हो गया? इस बात को सुनकर वे बहुत ही चकित हुए और आकर पं० इन्द्रराज जी से कहा—यह बहुत आश्चर्य की बात है कि स्वामी जी को मेरे मानसिक जाप के बारे में कैसे जानकारी मिली। वस्तुतः ये एक उच्च कोटि के सिद्ध योगी पुरुष हैं। इस घटना से उनके दिल में स्वामी जी के प्रति और भी अधिक श्रद्धाभाव उत्पन्न हो गया और उन्होंने स्वामी जी की सेवा में 101 रु० तुरन्त सेवा में उपस्थित किये। ■

महर्षि दयानन्द की पवित्र स्मारिका

हमारे सारे इतिहास में सबसे महान् सत्य का पुजारी

लेखक—धरमेन्द्र नाथ शास्त्री

वह मेरे जीवन में बड़े सौभाग्य का दिन था जब मैंने टङ्कारा में जाकर उस मकान के दर्शन किये जहां ऋषिनन्द का जन्म हुआ था। एक मुसलमान भाई मिला जो लगभग १०० वर्ष का था, जिसने ऋषि के प्रारम्भिक जीवन-काल को देखा था। उसने उनकी गाथा सुनानी शुरू की। उसने बताया कि किस प्रकार महादेव की मूर्त्ति पर चूहे का चढ़ना देखकर उन्हें मूर्ति पूजा से नफरत हो गयी।

ऋषि दयानन्द के जीवन का मुख्य कार्य हिन्दू धर्म के पाखण्ड का खण्डन था। सत्यार्थ प्रकाश के खण्डनात्मक समुल्लासों में ११ वां समुल्लास सबसे महत्वपूर्ण है। हरद्वार के कुम्भ के मेले में हिन्दू पुजारियों और महन्तों के पाखण्ड को देखकर ऋषि को जैसा जबरदस्त आवेश हुआ था उसे कौन भूल सकता है? उन्होंने अपने नीचे बांधने के कपड़े में से आधा वस्त्र फाड़कर पाखण्ड-खण्डिनी पताका लगायी थी। ओजस्वी दयानन्द के सिवाय कौन यह साहस कर सकता था कि कुम्भ के मेले में इस प्रकार की पाखण्ड-खण्डिनी पताका लगाये।

ऋषि दयानन्द को यह स्पष्ट हो गया था कि सभी धर्मों का आधार बहुत अंश तक असत्य है। इसीलिए उन्होंने १२वें समुल्लास में जैन-बौद्ध मतों का खण्डन किया, १३वें में ईसाई धर्म और चौदहवें समुल्लास में इसलाम का। परन्तु ऋषि दयानन्द ने हिन्दू धर्म का ज़ोरदार खण्डन किया है, उसे देखकर बहुत से लोगों की यह धारणा बन गयी थी कि ऋषि दयानन्द जन्मना ब्राह्मण नहीं हो सकते, अन्यथा ब्राह्मण-हिन्दू धर्म का इतने ज़बर-दस्त रूप में खन्डन न करते।

टङ्कारा में ऋषि दयान्द के जन्म स्थान के साक्षात् रूप से मिल जाने पर यह भी स्पष्ट हो गया कि ऋषि दयानन्द जन्म से ब्राह्मण थे। ब्राह्मण के घर में ही उनका जन्म हुआ था। हम लोग प्रायः इस बात को भूल जाते हैं कि इस बात से ऋषि दयानन्द का गौरव भारत के सारे धार्मिक आचार्यों में सर्वोपरि है कि उन्होंने जन्मना ब्राह्मण होते हुए भी ब्राह्मण-धर्म का ज़ोरदार खण्डन किया। सारे भारत के इतिहास में ऐसा दूसरा उदाहरण नहीं है। शङ्कराचार्य जैसे प्रतिभाशाली महान् व्यक्ति का जन्म ब्राह्मण-धर्म की रक्षा में व्यतीत हुआ था क्योंकि वे जन्मना ब्राह्मण होने के कारण ब्राह्मण धर्म की रक्षा ही अपना परम कर्त्तव्य मानते थे।

परन्तु ऋषि दयानन्द सत्य के पुजारी थे। उनके बनाये आर्य समाज के नियमों में सत्य की महिमा ओत-प्रोत है। उन्होंने अपने मौलिक ग्रन्थ का नाम भी 'सत्य-अर्थ-प्रकाश' ही रक्खा। वे सत्य के इतने जबरदस्त पुजारी थे कि उन्होंने सत्यार्थ-प्रकाश की भूमिका में लिखा कि जो कोई इस ग्रन्थ में त्रुटि बतायेंगे और वह ठीक प्रतीत हुयी तो अगले संस्करण में ठीक कर दी जायगी।

संसमरण—सत्यार्थ-प्रकाश का जादू

उन दिनों आर्य समाजी अपने मित्र मण्डल बढ़ाने की चिन्ता में लगे रहते थे। मुन्शीराम जी के मित्र भी उन्हें आर्य समाजी बनाना चाहते थे। रविवार को सवेरे ही वे मुन्शीराम जी के डेरे पर आ पहुँचे। मुन्शीराम जी सत्यार्थ-प्रकाश का आठवाँ समुल्लास खोले बैठे हुए किसी विचार में निमग्न थे। उन्होंने आते ही पूछा—कहिये किस चिन्ता में निमग्न हो? कुछ विचार किया या नहीं? मुन्शीराम जी ने उत्तर दिया—हाँ, पुनर्जन्म के सिद्धान्त ने फैसला कर दिया। आज से मैं सच्चे विश्वास से आर्य समाज का सभासद् बनता हूँ। ■
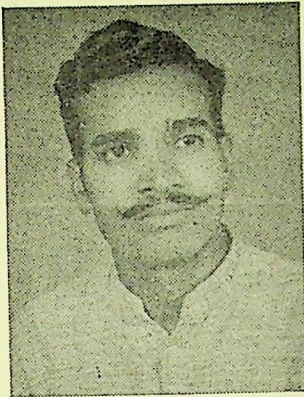
पतित पावन आर्य समाज

(पं० प्रियदत्त शास्त्री विद्या वाचस्पति)

युगप्रवर्तक महर्षि दयानन्द सरस्वती ने सबसे प्रथम आर्य समाज यद्यपि राजकोट में स्थापित किया था परन्तु वह उस समय उन्नति नहीं कर सका। उसके पश्चात् ७ अप्रैल १८७५ ई० को महर्षि ने बम्बई में आर्य समाज की स्थापना विधिवत की। आज आर्य समाज की आयु १०२ वर्ष ६ महीने २२ दिन हो रहे हैं। प्रत्येक आर्यवर्तवासी इस पवित्र संस्था को भलि-भाँति जानता है कि आर्य समाज ने मनुष्य मात्र के लिये कौन-कौन से कार्य किये हैं। आर्य एक ज्वलत आन्दोलन है। आर्य समाज रोगियों का डाक्टर है, वही देश का प्रहरी है और वही पतितों को पावन करने वाला है। आर्य समाज ने ही सब मनुष्य-मात्र को अज्ञानरूपी बन्धन से छुड़ाकर ज्ञानरूपी स्वतन्त्रता को प्रदान किया है। प्रत्येक व्यक्ति समाज की व्यवस्था के कारण दुःखी था। आज सब मन्दिरों के द्वार सबके लिये खुले हैं। आज प्रत्येक व्यक्ति मान सम्मान के साथ अपने जीवन को व्यतीत कर रहा है। यह पुरुषार्थ इस पवित्र संस्था का ही है, जिसने करोड़ों पतितों को पावन करके वेद के आदेशों का पालन किया है।

स्त्री शूद्रों की दशा—स्त्री और शूद्रों को समाज में हीन दृष्टि से देखा जाता था। स्त्रियाँ समाज में भोग-विलासिता का प्रतीक मानी जाती थीं। प्रकाण्ड विद्वान की स्त्री या पुत्री क्यों न हो वह वेद शास्त्र पढ़ना तो दूर रहा पर वह सुन भी नहीं सकती थी। शूद्रों को भी नाना प्रकार के संकटों का सामना करना पड़ता था। रास्ते से जाने वाले शूद्र के पीछे झाड़ू बाँध दिया जाता था ताकि उसके पैर के निशान रास्ते पर न रहें और मुंह के आगे एक डिब्बा बाँध दिया जाता था क्योंकि उसे थूंकना हो तो उसी डब्बे में थूंके। वेद शास्त्र पढ़ना तो दूर रहा सुनना भी उनके लिये स्वयं मौत को निमन्त्रण देना था। इस प्रकार समाज की व्यवस्था थी। जिधर देखें उधर करुण क्रन्दन सुनाई देता था। इन पतित समझे जाने वाले स्त्री शूद्रों को महर्षि दयानन्द ने पावन करके समाज में उसको मान-सम्मान का स्थान दिया। आज हरिजन भी वेद पढ़ कर ब्राह्मण बन रहें हैं। स्त्रियाँ तो पढ़ने में सबसे अग्रसर हैं। वर्तमान युग में अनेक शूद्र ब्राह्मण बन कर वेद का प्रचार कर रहे हैं। अनेक विदुषियाँ वैदिक धर्म का प्रचार करने में लगी हैं। यह केवल मात्र आर्य समाज का ही पुरुषार्थ है।

शिक्षा पद्धति—नई पीढ़ी को अपने उद्देश्य की ओर प्रेरित करने के लिये और धार्मिक, सांस्कृतिक, राष्ट्रीय विचारों से ओत-प्रोत करने के लिए शिक्षण संस्थायें प्रमुख साधन हैं। जब कोई देश अपना राज्य स्थापित करना चाहता है तो वह सबसे पहले प्रचलित शिक्षा पद्धति को नष्ट कर अपने ढंग की शिक्षा जनता पर ठूंसने लगता है। अंग्रेज ने इस देश में आकर यही तो किया था। लार्ड मैकाले ने जब भारत में प्रचलित शिक्षा पद्धति के स्थान पर ब्रिटेन की पाश्चात्य शिक्षा पद्धति को जारी किया तब उसने बड़े अभिमान के साथ कहा था कि इस पाश्चात्य शिक्षा से भारत में एक ऐसा वर्ग पैदा हो जाएगा जो रंग से काला होता हुआ भी दिल से ब्रिटिश भक्त होगा।

देव दयानन्द ने अंग्रेजों की इस नीति को शीघ्र ही जान लिया। महर्षि ने अपने जीवन में, वाणी और लेखनी द्वारा विदेशी शासन को निन्दनीय बताया और स्वदेशी राज्य की—चाहे वह इतना उत्कृष्ट न हो—सदा प्रशंसा की है। शिक्षा के विषय में भी महर्षि ने पूर्णतः भारतीय शिक्षा पद्धति का स्वरूप उपस्थित किया जिसका वर्णन सत्यार्थ प्रकाश और संस्कार विधि में है। महर्षि ने इसी लक्ष्य की पूर्ति के लिए अपने जीवन में हाथरस, फर्रूखाबाद, काशी इत्यादि में संस्कृत पाठशालायें स्थापित की थीं।

ऋषि के शिष्यों ने उनका स्वप्न साकार करने के लिये "दयानन्द ऐंग्लो वैदिक" (डी० ए० वी० कालेज) स्थापित किया गया था। पर आज महर्षि की इच्छा के विरुद्ध कार्य हो रहा है।

महात्मा मुन्शीरामजी ने गुरुकुल की स्थापना करके अंग्रेजी की शिक्षा पद्धति के साथ टक्कर ली थी। महात्मा मुन्शीरामजी ने इसके लिये अपना सर्वस्व नौछावर कर दिया। गुरुकुल में गरीब श्रीमंत का भेदभाव नहीं है। प्रत्येक विद्यार्थियों के साथ समान व्यवहार किया जाता है। इस संस्था से प्रकाण्ड विद्वानों ने जन्म लिया और राष्ट्र में वैदिक धर्म के प्रचार की धूम मचा दी।

इन संस्थाओं ने सर्व प्रथम बहुत ही लगन से कार्य किया परन्तु बाद में इन्हीं संस्थाओं में से अपनी संस्कृति के विरोधी निर्माण हो रहे हैं। आज संस्थाओं में युवक व युवतियाँ दोनों ही शिक्षा प्राप्त कर रहे हैं। स्त्री को पढ़ना मना है, कहने वाले भी आज मन्दिरों में स्त्रियों को शिक्षा दे रहे हैं। यह आर्य समाज की विजय है।

अर्न्तजातीय आर्य विवाह :—

हिन्दु जाति में अर्न्तजातीय विवाह पर भी रुकावट थी। इस दिशा में आन्दोलन करके बड़ा ठीक कदम उठाया। आज अनेक अर्न्तजातीय विवाह होते हैं। आर्य समाज गुण कर्म स्वभाव को देखकर विवाह कराता है। यह रीति ऋषि मुनियों की है। वेद का आदेश है। प्रत्येक व्यक्ति इस प्रकार विवाह करने लगे तो हमारा विश्व बन्धुत्व का भाव बढ़ता जायेगा। हम दूसरों को गले लगाना सीखें तब तो "कृण्वन्तों विश्वमार्यम्" अर्थात् सारे संसार को आर्य बनायेंगे। हम दूसरों को भी अपना समझें। पतित से पतित व्यक्ति को भी हम अपना बना लेवें। देव दयानन्द ने भी चमार की दी हुई गेहूँ की रोटी बड़े प्रेम से खाते थे, और कहा था यह चमार की रोटी नहीं है यह तो गेहूँ की है। कितना तर्क पूर्ण उत्तर दिया था मेरे देव दयानन्द ने। देश में से भेद भाव मिटाकर शूद्रों को गले लगाने वाला आर्य समाज है।

विधवाओं की रक्षा :—

हिन्दु जाति में विधवाओं को अतिशय निन्दनीय अवस्था थी। विधर्मियों की संख्या बढ़ने का एक बड़ा कारण हिन्दुओं में १४—१५ साल की लड़कियों का पर्याप्त संख्या में विधवा होना। विधवाओं का मुंह देखना भी पाप समझा जाता था। इसाई और मुसलमान होकर सन्तान पैदा करके हिन्दु धर्म के शत्रु बनाना। यह हिन्दु धर्म पर यह बड़ा कलंक था। देव दयानन्द ने अनेक विधवाओं को विवाह की प्रेरणा देकर इस कार्य को सफल बनाया। आज विधवा विवाह बड़े ही धूम-धाम से करते हैं। यह पुण्य का कार्य आर्य समाज ने ही अपये हाथ लिया है।

आर्य समाज का सेवा कार्य :—

आर्य समाज ने अपने जीवन काल में अनेक प्रकार के सेवा कार्य करके दुनियाँ के सामने आदर्श स्थापित किया है। अनाथों की सेवा के लिए आर्य समाज ने अनेक अनाथालयों की स्थापना की। आज अनेक स्थानों पर यह संस्थायें कार्य कर रही हैं। उदाहरण :—फिरोजपुर (पंजाब) दिल्ली, करनाल, राँची, अजमेर, बड़ौदा, इत्यादि नगरों में हैं।

भारत में हमेशा ही किसी न किसी प्रान्त में दुर्भिक्ष पड़ता ही है। दुर्भिक्ष से प्रभावित क्षेत्र यह है—

१८९९–१९०० के दुर्भिक्ष का प्रभाव राजपुताना, मध्य प्रदेश, बम्बई, और पंजाब आदि।

संयुक्त प्रान्त का दुर्भिक्ष सन् १९०८ में पड़ा था।

बंगाल में भी सन् १९४५ में दुर्भिक्ष पड़ा था।

ऐसे स्थानों पर इसाई लोग जाकर अपना धर्म प्रचार करते थे, वहीं पर आर्य समाज के नौजवान जाकर जनता की सेवा में रात और दिन जुटे रहे। अपना तन, मन, धन व समय पर अपना जीवन भी इनके लिए अर्पित किया है। यह पवित्र संस्था सब पतियों को पावन करने में ही लगी है।

इसी लक्ष्य को सामने रखते हुए आर्य समाज, मेरठ शहर के सदस्यों ने अपने आर्य समाज शताब्दि के सुअवसर पर अनेक विद्वानों व साधु सन्यासियों के प्रवचन व लेख द्वारासंसार में वैदिक धर्म की धूम मचा रहे हैं। इस समाज के नौजवान हमेशा ही धर्म कार्य में रत रहते हैं। प्रभु इसी प्रकार इनको सद्बुद्धि प्रदान करके जगत का उद्धार कर सकने में समर्थ करें।

ओ३म् शान्ति शान्ति !

होम्योपैथी

लेखक—डा० सतीश चन्द्र शर्मा, लालकुर्ती, मेरठ।

मानव शरीर को रोग मुक्त करने के लिए होम्योपैथी, आयुर्वेदिक, एलोपैथिक, यूनानी एवं प्राकृतिक चिकित्सा पद्धति ही विशेष प्रचलित हैं। आज के इस आधुनिक युग में विज्ञान ने चहुमुखी प्रगति की है परन्तु इस विज्ञानिक युग में शायद ही कोई बिरला स्वस्थ हो क्योंकि हम सब अप्राकृतिक वातावरण में रह रहे हैं। हमारा रहन-सहन, भोजन, वायु जल सब ही दूषित हो गया है। आज के युग में प्रत्येक प्राणी मानसिक तनावों की चरम सीमा में जीवन व्यतीत कर रहा है किसी को पारिवारिक चिन्ता किसी को आर्थिक, शारिरिक कष्ट, अन्य बहुत सी चिन्ताओं से ग्रस्थ हैं इस आधुनिक युग में होम्योपैथी का विशेष महत्व है।

होम्योपैथी का आविष्कार डाक्टर क्रिश्चयन फ्रडरिक सेमुएल हैनोमैन ने किया था। डा० हैनोमैन का जन्म १७५५ में जर्मनी के माइसेन नगर में हुआ था। डा० हैनोमैन अत्यन्त प्रतिभावान व्यक्ति थे। उन्हें १४ भाषाओं का ज्ञान था एवं ९ भाषाओं के पंडित थे। डा० हैनोमैन ने १७७९ में एस० डी० की डिग्री प्राप्त करने के पश्चात ऐलोपैथिक चिकित्सा शुरू कर दी। काफी अनुभवों के पश्चात भी उक्त चिकित्सा के बारे में आत्म विश्वास न था अतः उन्होंने चिकित्सा करना छोड़ दिया और किताबों का अनुवाद प्रारम्भ कर दिया। क्यूलेंस मेटिरिया मैडिका का अनुवाद करते समय सिनकोना नामक औषध के ज्वर ठीक करने का जो गुण लिखा था उसको पढ़ कर संतुष्ट नहीं हुए, क्योंकि वो स्वयं रसायन शास्त्र के विद्वान थे। उन्होने सिनकोना नामक औषधि के गुण जानने के लिये उसे खाना शुरू कर दिया। उक्त औषध के लगातार खाने से उन्हें जाड़े से बुखार चढ़ गया। डा० हैनोमैन ने सोचा कि शायद मलेरिया हो गया है अतः औषध को रोककर फिर दोबारा कुछ समय बाद खाना शुरू किया उन्हें दोबारा जाड़े से बुखार चढ़ा उनके मन में जिज्ञासा उठी एवं ६ वर्ष के अथक परिश्रम एवं प्रयोगों के पश्चात ह्यूफैलैन्ड जर्नल में औषधी द्वारा निरोग किये जाने की शक्ति के नये नियम का प्रतिपादन एवं होम्योपैथी का आविष्कार किया। इस महान आत्मा ने १८३० तक जब तक जीवित रहे होम्योपैथी का विकास एवं प्रचार किया एवं मानव समाज को एक अद्भुत देन देकर इस संसार से विदा ली।

होम्योपैथी "सिमिलिया = सिमिलिबस—कयूरैन्टर" (Similia, Similibus, Curunter) सिद्धान्त पर आधारित हैं यह सूत्र समः समेः शमयतिः हेतु व्याधि विषर्यस्तू विषर्यस्तार्थ करिणा, विषस्य विषमोषद्यम्" वेद एवं निदान में कहे गये वाक्य भी इस सूत्र का प्रतिपादक हैं होम्योपैथी के सिद्धान्तानुसार प्रत्येक औषध उन्हीं रोग लक्षणों को दूर करने की क्षमता रखती है जिन्हें स्वस्थ प्राणी को लगातार खिलाने पर उत्पन्न करती हैं।

वैसे तो प्रत्येक चिकित्सा पद्धति की अपने विशेषताएँ होती हैं परन्तु होम्योपैथी की कुछ अपनी अलग विशेषताएँ हैं प्रमुख निम्न हैं।

होम्योपैथी प्रकृति आरोग्य विधान पर आधारित है एवं इसका सिद्धान्त उसी प्रकार अपरिवर्तनीय हैं जिस प्रकार प्रकृति के नियम होम्योपैथिक औषधि प्रकृति के अनुरूप हैं एवं उसी के अनुसार रोगाहरण करती हैं।

होम्योपैथिक औषधियाँ स्वस्थ प्राणी को सेवन करवा कर प्रमाणित की गयी हैं अर्थात इन औषधियों को पुरुष, स्त्री, बच्चों सभी उम्र के प्राणियों को लगातार सेवन करवाकर उनके लक्षण संग्रहीत किये गये हैं जबकि अन्य पद्धति की औषध जानवरों पर प्रयोग की गयी हैं।

होम्योपैथिक औषध बहुत ही सूक्ष्म मात्रा में दी जाती हैं एवं रोग को शीघ्र समूल नष्ट करती हैं। साधारणतया लोगों में भ्रम है कि इन छोटी-छोटी गोलियों में क्या रखा है। क्या वो विद्युत, चुम्बक, एटम की शक्ति को देख सकते हैं। उनकी अपार शक्ति का पता तो आज सभी को है। और आज तो विज्ञान इसी निष्कर्ष पर पहुँचा है कि सूक्ष्म वस्तु में ही अपार शक्ति है। बीमारी पैदा करने वाले बैक्टीरिया (Bacteria) व वाईरस (Virus) को

आँखों से नहीं देख सकते। परन्तु मानव शरीर में कैसे विकार पैदा कर देते हैं, रोगी या डाक्टर ही जानता है। कहने का तात्पर्य है कि होम्योपैथी औषधी में अपार शक्ति होती है जो कठिन से कठिन रोगी को पूर्णतः ठीक करती है।

होम्योपैथिक औषधि शरीर पर कोई दुष्प्रभाव नहीं छोड़ती न ही हानि पहुँचाती हैं।

होम्योपैथिक औषधी शरीर की जीवनी शक्ति पर क्रिया कर रोगी को शीघ्र निरोगी करती हैं।

आम लोगों में भ्रम है कि होम्योपैथी से रोगी देर से ठीक होता है या धीमा इलाज है जबकि इस पद्धति से रोगी शीघ्रता से निरोगी होता है परन्तु रोग की गहराई एवं रोगी की स्थति पर निर्भर होती है। यदि रोग एक्यूट हो तो शीघ्र ठीक होगा पुराना है तो समय अवश्य लेगा।

कठिन से कठिन रोग व वो रोग जिनका केवल शल्य चिकित्सा से इलाज सम्भव है उस प्रकार के १०० में से ७० मरीज होम्योपैथी द्वारा ठीक हो सकते हैं जैसे टयूमर, टान्सलाईटिस, नाक, कान व गर्भाशय का पोलिपस, कान का नासूर, लेक्रीमल फिस्चुला, गुर्दे या जिगर की थैली की पथरी, ऐपेन्डीसाइटिस, हार्निया (विशेष कर बच्चों का) बवासीर, हाइड्रोसोल, भगन्दर, प्रास्टेट ग्लैंड का बढ़ना, हड्डी की बीमारियों, आदि अनेकों रोग होम्यो-पैथिक द्वारा ठीक हो सकते हैं यदि इनकी चिकित्सा किसी सुयोग्य होम्योपैथ द्वारा करवायी जाए।

आम लोगों का भ्रम है कि होम्योपैथिक औषधी नशा करने वालों पर असर नहीं करती। लहसुन, प्याज, तम्बाकु आदि खाने वाले व्यक्ति पर औषध असर नहीं करती। यह भ्रम है। होम्योपैथिक औषधि का असर कोई भी पदार्थ खत्म नहीं कर सकता। प्रत्येक रोगी चाहे कुछ भी खाता हो उस पर औषधि अपना पूर्ण प्रभाव करती हैं वैसे ये सब आदतें शरीर के लिए विष हैं।

आज भारतवर्ष में होम्योपैथी का बहुत प्रचार व प्रसार है राज्य व केन्द्र सरकार भी इस पद्धति को ऊँचा उठाने में संलग्न हैं। हम सब होम्योपैथस का कर्त्तव्य है कि उक्त पद्धति को जन साधारण में रोगी को निरोगी कर डा० हैनोमैन की आत्मा को प्रसन्न करें। **होम्योपैथी चमत्कारों से भरी हैं। एक होम्योपैथ असफल हो सकता है परन्तु होम्योपैथी फेल नहीं हो सकती (Homoeopathy is full of miracles, a homoeopath can fail but homoeopathy never fails)**।

संस्मरण—स्त्री शिक्षा के पोषक मुन्शीराम

मुन्शीराम जी को स्त्री शिक्षा का विचार पहले से ही था और उसके लिए वे प्रयत्न भी कर रहे थे परन्तु जिस दिन मिशन स्कूल में पढ़ती हुई अपनी कन्या वेद कुमारी के मुख से—"इकबार ईसा-ईसा बोल, तेरा क्या लगेगा मोल ? ईसा मेरा कृष्ण कन्हैया" यह सुना, उस दिन उनका माथा ठनका। उन्होंने अपनी कन्या पाठशाला खोलने का निश्चय किया और संद्धर्भ प्रचारक में आन्दोलन शुरू कर दिया। इस आन्दोलन में दूसरों का तो क्या स्वयं आर्य समाजियों को बड़े विरोध का सामना करना पड़ा। विरोध की सीमा यहाँ तक पहुँच गई कि इस संस्था को लेकर व्यक्तिगत आक्षेप तक होने लगे। परन्तु मुन्शीराम जी ने अपना संकल्प पूरा करके छोड़ा और संवत् १९४७ में वह पाठशाला खुल गई जो आज "कन्या महाविद्यालय जालन्धर" के नाम से सुविख्यात है।

राष्ट्रीय आन्दोलन एवं मेरठ आर्य समाज

लेखक—मास्टर सुन्दर लाल, इन्द्रराज

जब भारत माता परतन्त्रता की बेड़ियों में जकड़ी हुई थी। जब अधर्म चारों तरफ फैला हुआ था। जब दरिद्रता और अज्ञान रूपी राहू और केतु भारत रूपी चन्द्रमा को ग्रस रहे थे। जब बाल-विवाह और वृद्ध-विवाह मानव जाति के मूल को खोखला कर रहे थे। जब विधवाएँ और अनाथ चीतकार कर रहे थे। जब सम्मुदाय गुरु धर्म का शोषण कर रहे थे। जब ईसाई मिशनरी और मुसलमान आर्य जाति पर आक्रमण कर रहे थे। जब भारत में दुराचार और भ्रष्टाचार का बोलबाला था। जब असहाय ललनाएँ गरीबी के कारण अपनी इज्जत बेच रही थीं। जब स्त्री और शूद्र को भगवान् की पवित्र, वेद वाणी को पढ़ने और सुनने के अधिकार से वंचित कर दिया गया था। जब वर्गवाद और जातिवाद ने इस राष्ट्र को अपने चक्रव्यूह में फंसा रखा था। उस समय वैदिक धर्म का सूर्य, अविद्या, अज्ञान, अन्याय, अभाव, रूपी काले बादलों को चीरता हुआ भारतवर्ष के पूर्व क्षितिज पर मूलशंकर (दयानन्द) के नाम से प्रादुर्भूत हुआ। महर्षि दयानन्द का जन्म एक उदीच्य ब्राह्मण सम्भ्रन्ति परिवार में हुआ था। ब्राह्मण समान रूपी शरीर का मस्तक होता है। जब मस्तक ही बिगड़ जाता है तो समाज रूपी शरीर पागलों का व्यवहार करने लगता है। भारतवर्ष की सामाजिक, आर्थिक, एवं राजनैतिक, दुर्दशा को देखते हुए सम्भवतः पर ब्राह्मण परमात्मा ने एक ऐसी महान् आत्मा को इस देश में भेजा जिसने बाद में धार्मिक, सामाजिक, राजनैतिक, और आर्थिक जगत् में महान् क्रान्ति का सूत्रपात किया।

महर्षि दयानन्द जी को आज का संयम केवल साधु, सन्यासी या समाज सुधारक ही नहीं मानता है। अपितु भारत की स्वाधीनता का अगतम् भी मानता है। वे राष्ट्रीय नेता भी थे। इस की पुष्टि उनके कर्त्तत्व एवं साहित्य से होती है। सन् १८४६ में उन्होंने तीव्र वैराग्य के कारण गृह त्याग किया। सन् १८५६ तक का उनका जीवन चरित्र मिलता है जिसमें वे सत्य की खोज में निरन्तर भ्रमण करते रहे। शैल, सिद्धपुर, मेला, अहमदाबाद, बड़ौदा, चाणोद, कर्णाली, व्यासाश्रम, छिनूर (सिमोर) आबू, हरिद्वार, ऋषीकेष, टिहरी, श्रीनगर, केदार नाथ, रुद्रप्रयाग, शिवपुरी, तुंगनाथ, ओखीमठ, जोषीमठ, अलखनन्दा स्रोत, वसुधारा, बद्रीनारायण, रामपुर, काशीपुर, द्रोण सागर, मुरादाबाद, सम्भल, गढ़मुक्तेश्वर, कानपुर, इलाहाबाद, मिर्जापुर, काशी आदि स्थानों में महर्षि ने इन दस वर्षों में भ्रमण किया। इसी समय के अन्दर वे एक सिद्धपुर के मेले में पिता द्वारा पकड़े भी गए। पुनः घर से भागे और योगियों की और सच्चेशिव की तलाश में वे बराबर आगे बढ़ते रहे। इसी बीच में उन्होंने ब्रह्मचर्य की दीक्षा ली और उनका लाभ शुद्ध चैतन्य रखा गया। इसके पश्चात् उन्होंने स्वामी पूर्णा नन्दजी से सन् १८४७ में चाणोद में सन्यास की दीक्षा ग्रहण की और उनका नाम 'स्वामी दयानन्द सरस्वती' रखा गया। चाणोद से सन् १८४७–४८ में वे व्यासाश्रम में पहुँचे जहाँ योग में अत्यन्त निष्णात योगी योगानन्द जी रहते थे। वहां उन्होंने योगाभ्यास सीखा। इस भ्रमण काल में, वे सन्यासियों ब्रह्मचारियों, विद्वानों, अनेक प्रकार के साधुओं, मठों, मन्दिरों और हर प्रकार के व्यक्ति के सम्पर्क में आये। उनकी दृष्टि में भारतवर्ष का ठीक चित्र आ गया था। उन्होंने इस देश की अज्ञानता, गरीबी, शोषण, सम्प्रदायों द्वारा फैलाए हुए जाल, अंग्रेजी शासन द्वारा भंयकर अत्याचार और परतन्त्रता से होने वाले दुःखों और कष्टों के साक्षात् दर्शन कर लिए थे।

इसके पश्चात् जीवन चरित्र अगले ३ वर्षों के लिए मौन है। इन्हीं तीन वर्षों के अन्दर ही १८५७ की विशाल क्रान्ति मेरठ में हुई। इन तीन वर्षों में महर्षि कहां रहे इसका वर्णन जीवन चरित्र में नहीं मिलता। केवल इतना मिलता है कि वे नर्मदा के तट पर घूमते रहें।

इन तीन वर्षों में महर्षि क्या कर सकते थे? यह

इतिहास के लिए एक प्रश्नवाचक चिन्ह है? जिस महर्षि ने पिछले दस वर्षों में इस जर्जर भारत के निकट से दर्शन किए हों। जिस महर्षि ने अंग्रेजों के अत्याचारों से सत्रंस्त गरीब जनता के कष्टों और दुःखों में ग्रस्त देखा हो। वह महर्षि ३ वर्ष के लिए बिल्कुल मौन होकर ही रह जाए। यह बात समझ में नहीं आती। वे इन तीन वर्षों में क्या कर समझते थे? इस बात को देखने के लिए उनके साहित्य और कर्त्तत्व को देखना पड़ेगा। उसी से अनुमान लगाया जा सकेगा कि वे १८५७ की मेरठ की महान् क्रान्ति की पृष्ठ भूमि में थे।

महर्षि, यजुर्वेद अध्याय के छटे मन्त्र पर भाष्य करते हुए लिखते है—मनुष्यै द्वाभ्यां प्रयोजनाभ्यां प्रर्पाततव्यम्। प्रथमं अत्यन्त पुरुषार्थ शरीरारोग्माभ्यां चक्रवर्ती राज्य श्री प्राप्तिकरणम्। द्वितीयं सर्वा विद्याः पठित्वा तासां सर्वत्रचारीकरणम्" इसका अभिप्रायः यह है कि 'मनुष्य को सदा दो प्रयोजन अपने सामने रखकर उनकी पूर्ति के लिए अपना सब व्यवहार करना चाहिए। पहला यह कि अत्यन्त पुरुषार्थ करके और शरीर को स्वस्थ रख कर वह चक्रवर्ती राज्यरूपी श्री का सम्पादन करे और दूसरा यह कि वह सब विद्याओं को पढ़ कर सब जगह उनका प्रचार करे।"

इन ऊपर लिखित पक्तियों से स्पष्ट है कि महर्षि अपने मस्तिष्क में राजनैतिक भावना और स्वराज्य की स्थापना को विद्या प्रचार और धर्म प्रचार से भी प्रथम स्थान पर मानते थे।

देश प्रेम उनके रुधिर के कण २ में किस प्रकार समझा हुआ था, सत्यार्थ प्रकाश के ग्यारवें समुल्लास में वे एक स्थल पर लिखते हैं "यह आर्यावर्त देश ऐसा है, जिस के सदृश भूगोल में दूसरा कोई देश नहीं है। इसीलिए इस भूमि का नाम सुवर्ण भूमि है। क्योंकि यही सुवर्ण आदि रत्नों को उत्पन्न करती है।······जितने भूगोल में देश हैं, वे सब इसी देश की प्रशंसा करते हैं और आशा रखते हैं कि पारस मणि पत्थर सुना जाता है, वह बात तो झूठी है, परन्तु आर्यावर्त देश ही सच्चा पारसमणि है कि जिसको लोहे रूप दरिद्र विदेशी के छूने के साथ ही सुवर्ण अर्थात् धनाढय हो जाते हैं।

इस प्रकार से प्रार्थना समाजियों और ब्रह्म समाजियों की आलोचना करते हुए वे कितनी वेदना और हार्दिक व्यय के साथ लिखते हैं। इन लोगों में स्वदेश भक्ति बहुत न्यून है" ······ भला जब आर्यावर्त देश में उत्पन्न हुए हैं और इसी देश का अन्न जल खाया पीया, अब भी खाते-पीते हैं, तब अपने माता-मिता व पितामह आदि के मार्ग को छोड़ दूसरे विदेशी मतों पर अधिक झुक जाना और एतद्देशस्थ संस्कृत विद्या से रहित अपने को विद्वान् प्रकाशित करना, इंगलिश भाषा पढ़ के पण्डिताभिमानी होकर अटिति एक मत चलाने में प्रवृत होना, मनुष्यों का स्थिर और वृद्धि कारक काम क्यों कर हो सकता है।

ऊपर लिखित पंक्तियों से स्पष्ट है कि महर्षि दयानन्द के मन में, स्वदेश, स्वभाषा और स्वधर्म के प्रति कितना अगाध प्रेम था और पूर्वजों के प्रति कितना सम्मान था।

अंग्रेजों द्वारा भारत को निरन्तर पर तन्त्र रखने का कितना गहरा षड्यन्त्र चल रहा था, इसे भी महर्षि की दूर दृष्टि ने स्पष्ट देख लिया था। उन्होंने देखा था कि लार्ड क्लाईव ने तो इस देश में अंग्रेजी हकूमत को कायम किया था। और लार्ड मैंकाले उस की जड़ों को पाताल तक पहुँचाने के उपक्रम में लगे हुये थे। सन् १८३४–३५ के लगभग जब यह प्रथा अंग्रेजों के सामने आयी कि भारत में किस प्रकार की शिक्षा पद्धति रखी जाए तो लार्ड मैंकाले भारतवर्ष के प्रति अपने मन की दुर्भावना को रोक नहीं सके और उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा "We must do our best to form a class, who may be interpreters between us and the millions whom we govern, a class of persons Indian in blood and colour but in English in taste, in opinons, words and intellect." अर्थात् हमें इस देश में ऐसी जमात पैदा करने में अपने सब प्रयत्न लगा देने चाहिए जो हमारे और उन करोड़ों लोगों के बीच मध्यस्थ का काम कर सकें जिन पर हमें शासन करना है। यह जमात भले ही हाड़ मास और रुधिर में हिन्दुस्तानी रहे परन्तु आचार-विचार, रहन-सहन और दिल दिमाग से अग्रेज बन गए।

इस शिक्षा पद्धति को अपनाने का परिणाम अग्रेजो के

अनुकूल ही निकला। थोड़े से समय में ही अंग्रेजी पढ़े लिखे लोग अपने आप को भूलने लगे। इसी समानता का दिग्दर्शन कराते हुए लार्ड मैकाले ने १८३६ में अपने पिता को एक पत्र लिखते हुए लिखा—No Hindu, who has received an English Education, ever remains sincerely attached to his religion, some continue to profess it as a matter to policy, but many profess themselves pure diets and same embrace christianity. It is my firm belief that if our plans of education are followed up, there will not be a single idolator among the respectable classes in Bengal thirty years hence" अर्थात् जो भी हिन्दू अंग्रेजी शिक्षा ग्रहण कर लेता है, वह अपने धर्म में श्रद्धा और विश्वास खो बैठता है। कुछ केवल दिखावे के लिये उसे मानते हैं। अधिकतर सिर्फ एकेश्वरवादी बन जाते हैं या ईसाई हो जाते हैं। यह मेरा पक्का विश्वास है कि शिक्षा की यह योजना यदि चली तो अच्छे घरानों में ३० वर्षों में एक भी मूर्ति पूजक अथवा हिन्दू न रहेगा।

लार्ड मैकाले केवल यहीं तक सीमित नहीं रहा। अपितु उसने बंगाल में जब वैदिक संस्कृति के दर्शन किये तो उसके दिमाग में यह भी आया कि यदि यह उच्च संस्कृति कायम रही तो भी भारतवासियों को परतन्त्र रखना कठिन हो जाएगा। इसको दृष्टि में रखते हुए अंग्रेजों ने वैदिक-संस्कृति का मजाक उड़ाना शुरू किया। हमारे पूर्वजों को जंगली बताया जाने लगा, वेदों को जंगली गडरियों के गीतों की संज्ञा दी गई। वैदिक साहित्य को अंग्रेजी साहित्य के सामने तुच्छ पेश किया जाने लगा। इसके पीछे दुर्भावना यह थी कि किसी प्रकार से भारतवासी अपनी संस्कृति और पूर्वजों को भूल जाए ताकि इनमें स्वतन्त्रता की भावना ही पैदा न हो।

इस घोर षडयन्त्र के पर्यपेक्ष मे महर्षि दयानन्द जी के कार्य को देखने पर उनके कार्यों के महत्व को समझा जा सकता है। अंग्रेजों द्वारा जब यह कहा जा रहा था कि हमारे पूर्वज जंगली थे तब उन्होंने वेद के आधार पर बताया कि हम आर्य हैं, आर्यों के वंशज हैं और आर्य ईश्वर पुत्र होता है। अपने देश का नाम हिन्दुस्तान (India) के स्थान पर महर्षि ने आर्यावर्त बताया। वेद गडरियों के गीत नहीं हैं बल्कि ईश्वरीय ज्ञान हैं। हमारी संस्कृति इतनी ऊँची थी कि हमारे पूर्वजों के पास दुनिया भर के लोग चरित्र की शिक्षा ग्रहण करने के लिए उनके चरणों में रहा करते थे। मनुजी महाराज की वह गौरव-मयी वाणी का उद्घोष महर्षि ने किया :—

एतद्देश प्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मना।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्व मानवाः॥ मनु

वेदों के संसार में सबसे पुराना साहित्य बताकर अपने साहित्य का मस्तक संसार में महर्षि ने ऊँचा किया।

महर्षि इस सब के द्वारा यह बताना चाहते थे कि हम लोग हीन और दीन नहीं हैं। हमारे पास अपना अक्षुण भण्डार है। अपने अन्दर स्वाभिमान एव स्वदेशाभिमान की भावना से ही हम स्वतन्त्र हो सकते हैं।

१८५७ की क्रान्ति के पश्चात् अंग्रेजों की दास्ता से मुक्ति प्राप्त करने का प्रयत्न करना भी बहुत ही बड़ा दुष्कर कार्य था। अंग्रेज की दृष्टि बड़ी पैनी थी। परन्तु महर्षि दयानन्द ने धर्म प्रसार की आड़ में स्वतन्त्रता प्राप्त करने का प्रयत्न जारी रखा। स्वामी सत्यानन्द जी दयानन्द प्रकाश में एक स्थल पर लिखते हैं :—"कि महर्षि स्वामी दयानन्द देश और जाति की उन्नति के विषयों पर भी ओजस्विनी और तेजस्विनी भाषा में प्रभावशाली भाषण दिया करते थे। उनके भाषणों को सुनकर श्रोताओं में ऊष्मा भर जाती थी, उनका साहस बढ़ जाता था, उत्साह उमड़ आता था, हृदय उछलने लगता था, अंग फड़क उठते थे और जातीय जीवन का रक्त खौलने लग जाता था, किन्तु किसी मनुष्य या जाति के लिए मन में घृणा और द्वेष उत्पन्न नहीं होता था। उनकी उदात्त नीतिमत्ता और राष्ट्र सुधार के विचार सिद्धान्त रूप में प्रकाशित होते थे।"

स्वामी सत्यानन्द जी की इन पंक्तियों से स्पष्ट है कि महर्षि जनता में कितना संभल कर बोलते थे कि स्वतन्त्रता की भावना जो जन मानस में भर जाए परन्तु क्रूर अंग्रेज शासक के पंजे से भी बचा जा सके।

जब स्वराज्य का नाम लेना भी कठिन था तब महर्षि ने अपने अमर ग्रन्थ सत्यार्थ प्रकाश के ८ वें समुल्लास में निर्भीकता पूर्वक लिखा था :—"आर्यावर्त में भी आर्यों

का अखण्ड स्वतन्त्र स्वाधीन और निर्भय राज्य इस समय नहीं है, जो कुछ है सो भी **विदेशियों का पादाक्रान्त हो रहा है**। कुछ थोड़े राजा स्वतन्त्र हैं। दुर्दिन जब आता है तब देशवासियों को अनेक प्रकार के दुःख भोगने पड़ते हैं। कोई कितना ही करे परन्तु **जो स्वदेशी राज्य होता है, वह सर्वोपरि उत्तम होता है**। माता पिता के समान कृपा, न्याय और दया के साथ **विदेशियों का राज्य भी पूर्ण सुखदायक नहीं।"**

सत्यार्थ प्रकाश में अन्यत्र ११ वें समुल्लास में महर्षि लिखते हैं "सृष्टि से लेकर महाभारत पर्यन्त चक्रवर्ती, सार्वभौम आर्य कुल में ही हुए थे। अब इनके सन्तानों का अभाग्योदय होने से राजभ्रष्ट होकर विदेशियों के पादाक्रान्त रो रहे हैं।"

महर्षि दयानन्द जी ने इस महान पतन का कारण परस्पर की फूट को माना था। दशम समुल्लास में वे एक स्थल पर लिखते हैं :—"विदेशियों के आर्यावर्त में राज्य होने के कारण आपस की फूट, मतभेद, ब्रह्मचर्य का सेवन न करना, विद्या न पढ़ना-पढ़ाना, बाल्यावस्था के अस्वयंवर विवाह, विषयासक्ति, मिथ्या भाषण आदि कुलक्षण, वेद विद्या का अप्रचार आदि कुकर्म हैं।

महर्षि आगे लिखते हैं "**जब आपस में भाई भाई लड़ते हैं, तभी तीसरा विदेशी आकर पंच बन बैठता है।** क्या तुम महाभारत की बातें जो पाँच सहस्र वर्ष पहले हुई थी, उनको भी भूल गए? देखो, आपस की फूट से, कौरव, पाण्डव और यादवों का सत्यनाश हो गया। सो तो हो गया, परन्तु अब तक भी वही राज रोग पीछे लगा है। **न जाने यह भयंकर राक्षस कभी छूटेगा वा आर्यों को सब दुखों से छुड़ा कर दुःख सागर में डुबा मारेगा।** उसी दुष्ट दुर्योधन, गोक-हत्यारे, स्वदेश विनाशक, नीच के दुष्ट मार्ग में आर्य लोग अब तक भी चलकर दुःख बढ़ा रहे हैं। परमेश्वर कृपा करे। यह राज रोग हम आर्यों में से नष्ट हो जाए।

इस प्रकार महर्षि ११ वें समुल्लास में एक स्थल पर लिखते हैं "स्वायम्भव-राजा से लेकर पाण्डव पर्यन्त आर्यों का चक्रवर्ती राज्य रहा। तत्पश्चात् **आपस के विरोध से लड़कर नष्ट हो गए।**

आर्याभिविनय के एक मन्त्र की प्रार्थना में महर्षि लिखते हैं :—हे परमेश्वर! स्वदेशस्य आदि मनुष्यों को अत्यन्त परस्पर निर्वैर, प्रतिमान्, पाखण्ड रहित करें। अन्योन्य प्रीति से परमवीर्य, पराक्रम से निष्कण्टक चक्रवर्ती राज्य भोगें। हम में सब नीतिमान् सज्जन हो।"

सत्यार्थ प्रकाश के ११वें समुल्लास में महर्षि पुनः लिखते हैं :—"ऐसे शिरोमणि देश को महाभारत के युद्ध ने ऐसा धक्का दिया कि अब तक भी यह अपनी पूर्व दशा में नहीं आया, **क्योंकि जब भाई को भाई मारने लगे तो नाश होने में क्या सन्देह ?**

महर्षि दयानन्द ने अपने साहित्य में स्थान-स्थान पर स्वराज्य, साम्राज्य, सार्वभौम चक्रवर्ती राज्य, स्वदेशी की भावना, पूर्वजों का गौरव, वेद सब सत्यविधाओं के पुस्तक, वेदों में विज्ञान, गौ रक्षा, कला कौशल विज्ञान, विदेशों से व्यापार, एक भाषा, स्वदेशी वेश भूषा, संस्कृत का प्रचार, ब्रह्मचर्य का सेवन, आपस की फूट को दूर करना, छूआ छात को दूर करना, विद्या का प्रचार, युवावस्था में विवाह, और सत्य भाषण आदि का उल्लेख किया है।

महर्षि केवल लेखनी तक ही सीमित नहीं रहे बल्कि उन्होंने अपने जीवन का अन्तिम भाग अपनी देसी रियासतों के सुधार में और उनमें राष्ट्रीय गौरव भरने में लगाया। उन्होने मारवाड़, मेवाड़, जयपुर, शाहपुर, भरतपुर, रीवां, ग्वालियर, धौलपुर, करौली और इन्दोर आदि सभी राज्यों में दौरा कर वहाँ के नरेशों को स्वतन्त्रता संग्राम के लिए जगाने की पूरी-पूरी चेष्टा की।

अपने धर्म ग्रन्थ 'सत्यार्थ प्रकाश' के दशम समुल्लास में उन्होंने राजाओं में स्वतन्त्रता की चेतना भरने के उद्देश्य से ही एक प्राचीन राजाओं की वंशावली भी गिनाई है। तथा राजनीति में दिशा प्रदान करने के लिए सत्यार्थ प्रकाश में छटा समुल्लास भी लिखा है।

महर्षि के हृदय में स्वतन्त्रता की अग्नि किस प्रकार से दहकती थी। इसके दर्शन तो पाठकों ने उनके लिखे साहित्य में और उनकी प्रचार शैली से ही कर लिए हैं पुनर्रपि एक महान घटना की ओर हम पाठकों का ध्यान आकर्षित करते हैं। घटना का विवरण इस प्रकार है :—

एक बार कलकत्ते के लाट पादरी ने महर्षि के भाषणों से प्रभावित होकर उस समय के वायसराय लार्ड नार्थ ब्रुक को यह सुझाव दिया कि महर्षि दयानन्द को वश में कर लेने से अंग्रेजी सरकार का बहुत भला होगा। सन् १८७३ में महर्षि दयानन्द और तत्कालीन वायसराय लार्ड नार्थ ब्रुक की भेंट आयोजित की गई। सामान्य शिष्टाचार के पश्चात् वायसराय ने स्वामी जी से पूछा "पण्डित दयानन्द ! मुझे सूचना मिली है कि आपके द्वारा दूसरे मत मतान्तरों व धर्मों की कड़ी आलोचना, उनके हृदय में क्षोभ उत्पन्न करती है और आपके विरुद्ध भयानक विचार उत्पन्न करती है, विशेषतया मुस्लिम और इसाई जनता के। क्या आप अपने शत्रुओं से किसी प्रकार का खतरा अनुभव करते हैं ? अर्थात् क्या आप सरकार से अपनी सुरक्षा का कोई प्रबन्ध चाहते हैं ?

स्वामी दयानन्द ! मुझे अपने विचारों के प्रचार करने की अंग्रेजी राज्य में पूरी स्वतन्त्रता है। मुझे व्यक्तिगत रूप से किसी प्रकार का खतरा नहीं है।

वायसराय—यदि ऐसा ही है तो क्या अपने देश में अंग्रेजी शासन द्वारा उपलब्ध उपकारों का भी वर्णन किया करेंगे ? और अपने व्याख्यानों के आरम्भ में जो ईश्वर प्रार्थना आप किया करते हैं, उसमें देश पर अखण्ड अंग्रेजी शासन के लिए प्रार्थना भी किया करेंगे ?

स्वामी दयानन्द—मैं ऐसी बात को मानने में असमर्थ हूँ क्योंकि यह मेरा दृढ़ विश्वास है कि मेरे देशवासियों को अबाध राजनैतिक उन्नति और संसार के राज्यों में समानता का दर्जा पाने के लिए शीघ्र पूर्ण स्वतन्त्रता मिलनी चाहिए। श्रीमान् जी ! ईश्वर से नित्य सायं प्रातः उसकी अपार कृपा से इस देश की विदेशियों की दासता से मुक्ति की ही मैं प्रार्थना करता हूँ।

ऋषि दयानन्द के राजनैतिक विचारों के इस प्रकार के प्रदर्शन से वायसराय घबरा गए और उन्होंने तुरन्त वार्तालाप बन्द कर दिया। लार्ड नार्थ ब्रुक ने इस घटना का विवरण अपनी साप्ताहिक डायरी द्वारा इण्डिया आफिस लण्डन को भेजा और सेक्रेटरी आफ स्टेट मलका सरकार को लिखा कि मैंने इस बागी फकीर की कड़ी निगरानी के लिये गुप्तचर विभाग को आदेश दे दिए हैं।

इस घटना से बिल्कुल स्पष्ट है कि महर्षि के हृदय में स्वतन्त्रता की अग्नि ज्वाज्वल्यमान थी। इस प्रकार के क्रान्तिकारी व्यक्ति का १८५७ की क्रान्ति में क्या भाग हो सकता है इसे विचारशील लोग अपने आप ही अनुमान लगा सकते हैं।

पुनरापि कुछ और भी सामग्री उपलब्ध हुई है जिससे अब पता चलता है कि महर्षि सन् १८५६ के पश्चात् मेरठ की १८५७ की क्रान्ति की मूलमें थे। जब वे भ्रमण कर रहे थे उनके मन में अध्ययन की पिपासा भी थी। कुम्भ मेले पर सन् १८५४ में हरिद्वार में वे १०८ वर्ष की आयु वाले स्वामी सम्पूर्णानन्द जी के सम्पर्क में आए जो बड़े विद्वान थे और स्वामी विरजानन्द जी के गुरु थे। इस बड़ी आयु में वे अध्यापन अध्ययन छोड़ कर भारत के परतन्त्रता की बेड़ियों से मुक्त कराने के प्रयत्नों में संलग्न थे। महर्षि दयानन्द जी को यह विदित हो चुका था कि स्वामी सम्पूर्णानन्द जी से उनकी अध्ययन की पिपासा शान्त हो सकती है। स्वामी दयानन्द जी के मनोरथ को सुनकर उन्होंने कहा 'बेटा दयानन्द' ! देश की विकट परिस्थितियों को देखते हुए मैंने पठन पाठन बन्द कर दिया है और मैं १०८ वर्ष की आयु में भारत माता के दासता के बन्धनों को काटने में संलग्न हूँ। तुम्हारी अध्ययन की पिपासा मेरे शिष्य विरजानन्द से शान्त हो सकती है। ओजस्वी वाणी ने दयानन्द का हृदय द्रवित कर दिया। और वे वहाँ से सीधे स्वामी विरजानन्द जी के पास नहीं गए। बल्कि उन्होंने अपने स्वरचित जीवन चरित्र में लिखा कि वे तीन वर्ष नर्मदा के तट पर घूमते रहे।

सत्य की खोज में और विद्या की पिपासा को शान्त करने में एक क्षण का भी विलम्ब न करने वाले महर्षि दयानन्द यह पता लगने के पश्चात् भी कि स्वामी विरजानन्द जी से उनकी अध्ययन की पिपासा शान्त हो सकती है कई वर्षों तक यूं ही इधर उधर घूमते रहे, यह बात सरलता से समझ में नहीं आती है। उनके घूमने का क्या उद्देश्य हो सकता है इस बात को खोलने के लिये आगे की घटना बड़ी सहायक है।

१८५५ में कुम्भ से श्री स्वामी जी काशीपुर और दोषसागर होते हुए कनखल में हरिद्वार में परमहंस स्वामी

सम्पूर्णानन्द जी से पुनः मिले । देश की आजादी का प्रश्न वार्तालाप में पुनः आ गया । वृद्ध सन्यासी ने कहा । बेटा ! भारत देश से विदेशी शासन उखाड़ फेंकने के लिए नर्मदा तट पर सन्त वर्ग एक रूपरेखा तैयार कर रहा है । वह सर्वथा गुप्त है । सारे देश में निश्चित तिथि और समय पर उसका विस्फोट होगा । स्वामी विरजानन्द जी पहले ही मथुरा में ऐसे स्थान पर बैठ गए हैं जो रजवाड़ों के निकट हैं । वह वहाँ से इस दिशा में राजाओं से सम्पर्क किए हुए हैं *मुरसान, हाथरस के भूमिपति, भरतपुर, अलवर, करौली, जयपुर और ग्वालियर के राजा भी उसकी प्रेरणा पर अवश्य सहयोग देंगे । पंजाब भी इस कार्य में एक दशक से प्रयत्नशील है । पेशवा नाना साहब ने भी एक संगठित योजना बना ली है । इस प्रकार अन्य भारतीय भी अपना बलिदान करने को तैयार हैं ।

महर्षि दयानन्द श्री स्वामी सम्पूर्णानन्द जी की इस क्रान्तिकारी वार्ता को सुनकर इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि इस क्रान्तिकारी संघर्ष के वातावरण में अध्ययन का होना असम्भव है इसलिए वे स्वामी विरजानन्द जी के पास मथुरा में नहीं गए अपितु उन्होंने अपने आप को इस संघर्ष में डालना ही उचित समझा । १८५७ की क्रान्ति की विफलता के पश्चात् अंग्रेजी राज्य में उन्होंने यह उचित नहीं समझा कि वे अपने तीन वर्ष का इतिहास भी याथा-तथ्य जनता के सामने रखें क्योंकि इतना स्पष्ट बोलने पर अंग्रेजों की दासता से मुक्ति संघर्ष में विघ्न बाधा पड़ने की पूरी आशंका थी । इसीलिए उन्होंने अपनी स्वात्म कथा में स्वयं लिखा कि वे तीन वर्ष नर्मदा के तट पर ही घूमते रहे ।

इस हमारे कथन की पुष्टि सत्यार्थ प्रकाश के ग्यारवें समुल्लास के एक ओर से भी होती है । प्रश्न है—द्वारिका जी के रणछोड़ जी, जिसने नर्सीमहिता' के पास हुण्डी भेज दी, और उसका ऋण चुका दिया । इत्यादि बात भी क्या झूठ है ? महर्षि इस प्रश्न का उत्तर लिखते हैं—"किसी साहूकार ने रुपये दे दिए होंगे । किसी ने झूठा नाम उड़ा दिया होगा कि श्री कृष्ण ने भेजे । जब संवत् १९१४ के वर्ष में तोपों के मारे मन्दिर मूर्तियाँ अंग्रेजों ने उड़ा दी थीं, तब मूर्ति कहां गई थीं ? प्रत्युत् वाघेर लोगों ने जितनी वीरता की और लड़े, शत्रुओं को मारा, परन्तु मूर्ति एक मक्खी की टांग भी न तोड़ सकी । जो श्री कृष्ण के सदृश कोई होता तो इनके धुर्रे उड़ा देता, और ये भागते फिरते । भला यह तो कहो कि जिसका रक्षक मार खाए उसके शरणागत क्यों न पीटे जाएँ ?

ऊपरलिखित सत्यार्थ प्रकाश के स्थल को यदि पाठक गहराई से पढ़ेंगे तो उन्हें पता चलेगा कि यह वर्णन १८५७ की क्रान्ति का है यहाँ संवत् १९१४ लिखा है । इस प्रकार से १८५७ की क्रान्ति को कुचलने के अंग्रेजों के इतने भयंकर अत्याचार महर्षि ने अपनी आँखों से देखे थे कि रह-रह कर मूर्ति पूजा के खण्डन जैसे स्थल में भी वे उभर कर महर्षि की अन्तर्वेदना को प्रकट करते हैं ।

पाठक वृन्द अपने आप अनुमान लगा सकते हैं कि वह अग्निपुञ्ज ऋषि ऐसी धधकती क्रान्ति की ज्वालाओं में कैसे मौन रह सकता है । स्पष्ट है कि महर्षि दयानन्द इस १८५७ की क्रान्ति में अत्यन्त सक्रिय थे और इस क्रान्ति की पृष्ठभूमि में थे ।

१८५५ में घोघो पन्त नाना साहब, जो कि महर्षि दयानन्द के समकालीन थे, और १८५७ की क्रान्ति के सूत्रधार थे, क्रान्ति की तैयारी में सलग्न थे उसी समय स्वामी दयानन्द जी भी गंगा के किनारे गंगोत्तरी और बद्रीनाथ घूमते हुए गढ़वाल, रूहेलखण्ड दोआब और काशी के प्रदेशों में इस अमर क्रान्ति की चिंगारियाँ फैलाते हुए जा रहे थे । इसी बीच मई सन् १८५६ में वे कानपुर नाना साहब के घर तक पहुँचे । लगभग ५ मास कानपुर और इलाहाबाद के बीच ही चक्कर काटते रहे । इधर नाना जी और अजीम उल्लाह भी तीर्थ यात्रा के बहाने क्रान्ति चक्र को गति देने के लिए प्रदेश में

*स्वामी विरजानन्द जी के दो पत्र, जो एक मुसलमान मीर मुशताक मिरासी ने प्रकट किये हैं जो श्री चौ० कबूल सिंह जी महामन्त्री सर्वखाद पंचायत शीरम जिला मुज़फ्फरनगर ने आर्य मर्यादा साप्ताहिक पत्रिका के १२ अक्तूबर १९६९ के अंक में उर्दू लिपि में प्रकाशित करवाये हैं, से श्री स्वामी विरजानन्द जी गतिविधियों का पूर्ण ज्ञान हो जाता है ।

भ्रमण पर निकले उधर महर्षि दयानन्द भी बलरस से मिर्जापुर, चुनार होकर नर्मदा स्रोत के लिए दक्षिण की ओर निकल पड़े।

महर्षि देवेन्द्र नाथ ठाकुर के प्रपौत्र श्री क्षमेन्द्रनाथ सुमन के गृह से भी जो विवरण मिला है उससे इस बात की पुष्टि हुई है कि महर्षि अवधूता अवस्था में ही गंगोतरी से गंगासंसार (बंगाल), गंगोतरी से सेतुबन्ध रामेश्वरम् तक और सेतुबन्ध रामेश्वरम् से महराष्ट्र के विभिन्न स्थानों पर भ्रमण करते रहे। मुख्य-मुख्य सैन्यावासों में भी जाया करते थे। इसी बीच में मंगल पाण्डे नामक सैनिक ने, (जिसने अंग्रेज आफिसर पर पहली गोली दाग कर उस अमर क्रान्ति का सूत्रपात किया था) स्वामी दयानन्द जी से ही आर्शीवाद प्राप्त किया था। (१८५७ और स्वामी दयानन्द, लेखक वासुदेव वर्मा निर्देशक राम गोपाल शास्त्री वैद्य—से साभार)

ऊपरलिखित स्थलों से स्पष्ट है कि क्रान्ति के अग्रदूत महर्षि स्वामी दयानन्द १८५७ की क्रान्ति में बहुत सक्रिय थे। इस क्रान्ति की विफलता के कारणों पर दृष्टिपात करके महर्षि उस क्रान्तिकारी फकीर स्वामी विरजानन्द की शरण में विद्या प्राप्ति के लिए मथुरा में चले गए। जहाँ गुरु ने शिष्य को एक दिव्य आर्ष दृष्टिकोण दिया। राष्ट्रीय भावना को शिष्य के अन्तः-करण में कूट-कूट कर भर दिया क्योंकि गुरु स्वयं एक बहुत बड़े क्रान्तिकारी थे और १८५७ की क्रन्ति में बहुत कार्य कर चुके थे। [देखें उनके पत्र]

गुरु स्वामी विरजानन्द जी को लोंग के भरे थाल की दक्षिणा देकर गुरु से शिष्य सस्ते में ही छूटना चाहता था। परन्तु गुरु ने लोंग लेने से इन्कार कर दिया और गुरु दक्षिणा में शिष्य का शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा राष्ट्र के, नहीं-नहीं संसार के उत्थान के लिए मांग लिए। शिष्य सर्म्पण भावना से सिर निवा कर और सर्वस्व की आहुति देकर गुरु से विदा लेकर राष्ट्र के लिए समर्पित हो गया। अविद्या, अज्ञान, अन्याय, अभाव, भ्रष्टाचार, सम्प्रदायों द्वारा धार्मिक शोषण, अंग्रेज द्वारा भयंकर अत्याचार, बाल-वृद्ध-विवाह, सतीप्रथा, विधवाओं का चीतकार अबलाओं का रोदन, अनाथों का क्रन्दन, चारों तरफ एक घोर अन्धकार था जिससे वह शक्ति पुञ्ज जूझ गया। वह लोगों के कल्याण की बात ही कहता था, लोग उसे पत्थर मारते थे। वह लोगों को अमृत पिलाता था लोग उसे विष के प्याले पेश करते थे। संघर्ष करता-करता एक दिन दीपावली की रात, जब दीपक टिमटिमा रहे थे, वह स्वतन्त्रता की बलि वेदी पर दीपक पर परवाने की तरह जल गया। भौतिक दीपक बुझा अध्यात्मिक दीपक जल उठा। उस अध्यात्मिक दीपक के प्रकाश में मेरठ के परवानों ने अपनी अनगिनत आहुतियाँ दे डालीं। १८५७ में खूनी पुल और ऐसे अनेकों स्थल मूक रूप से बलिदानी वीरों की गाथा गा रहे हैं।

उस अध्यात्मिक प्रकाश का ही प्रसाद था कि जो आर्य समाज रुपी दीपक महर्षि दयानन्द जी ने अपने पवित्र कर कमलों से २९ सितम्बर सन् १८७८ में मेरठ में आर्य समाज मेरठ शहर के रूप में जमाया था उस दीपक के प्रकाश में मेरठ आर्य समाज के दीवानों ने आन्दोलनों में बढ़ चढ़ कर हिस्सा लिया। विश्व प्रेम के सन्देश वाहक ऋषि ने जो देश प्रेम की अक्षुण धारा बहाई वह भारतीय राष्ट्रीयता के विकास में अभूतपूर्व वरदान सिद्ध हुई।
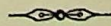
हैदराबाद का शेर

लेखक—स्वराज्य चन्द

पं० नरेन्द्र जी सीधे सादे, नाटे कद के, खादी में लिपटे हुए एक सौम्य एवम् दिव्य मूर्तिमान व्यक्तित्व के धनी थे। उनको देखकर अचानक लाल बहादुर शास्त्री की स्मृति ताज़ा हो जाती थी। इतना सौम्य, सरल एवम् मृदुभाषी व्यक्ति भी पाषाण जैसा दृढ़ निश्चयी एवम् उफनती नदी के वेग के समान क्रान्तिकारी विचारधारा वाला हो सकता है, एकाएक विश्वास नहीं हो सकता। पं० नरेन्द्र हैदराबाद का वह सिंह था, जिसकी दहाड़ से हैदराबाद के निजाम के हृदय की धड़कनें बढ़ गईं। पं० नरेन्द्र जी जैसा क्रान्तिकारी भारत माँ का अमर सपूत एवम् हिन्दोस्तान की युवा पीढ़ी के लिये उस दहकती हुई अग्नि के समान है जो अंधेरों को उजालों में बदल डालती है। परन्तु दूषित पदार्थों रूपी स्वार्थी तत्वों को जलाकर राख कर सकती है। उनका जीवन एक महान प्रेरणा स्रोत है।

जीवन भर अविवाहित रहकर, अपनी आशाओं एवम् खुशियों का गला घोटकर देश, समाज एवम् मानव मात्र के लिये अपने जीवन को अपर्ण कर देने वाला कोई विरला ही होता है।

पं० नरेन्द्र उस आत्म स्वाभिमानी व्यक्ति का नाम है, जिसको हैदराबाद आन्दोलन की आवाज बुलन्द करने एवम् निजाम के प्रति बगावत का आन्दोलन छेड़ने के जुर्म में अनगिनत लाठियाँ सहनी पड़ीं। उनके शरीर की हड्डियों को चूर-चूर कर दिया गया जिसके परिणाम स्वरूप वह महान् आत्मा निरन्तर अपने जीवन के अन्तिम क्षणों तक बकरे की हड्डी को आपरेशन द्वारा अपनी टाँग में लगाये दर्द एवम् पीड़ा को हृदय में संजोये मस्ताने जोगी की भाँति, अपनी धुन का धनी आर्य समाज का दीवना देश भर में घूमता फिरता था तथा मानव की सेवा में लीन था।

पं० नरेन्द्र जी का यौवन काले-पानी की काल-कोठरी (मनानूर) में यातनायें सहते हुए निकल गया। हैदराबाद आन्दोलन के सम्बन्ध में निज़ाम हैदराबाद और महात्मा जी में एक समझौता होना था, जिसके लिये महात्मा जी ने १४ शर्तें रक्खीं। जिसमें एक शर्त पं० नरेन्द्र को काले पानी से मुक्ति की थी। जिसको देखकर निजाम हैदराबाद ने कहा कि मुझे इस समझौते की सारी शर्तें मजूर हैं। परन्तु यह शर्त मन्जूर नहीं कि पं० नरेन्द्र जैसे बागी को छोड़ दिया जाये। अतः यह वार्ता विफल हो गई। वास्तव में नरेन्द्र जी थे भी ऐसे ही महान व्यक्तित्व के मालिक जिसने हैदराबाद के निजाम की नींद हराम कर दी थी। और अन्त में निजाम को मजबूर पं० नरेन्द्र को काले पानी की काल कोठरी से मुक्त करना पड़ा।

यद्यपि पं० नरेन्द्र अब हमारे बीच नहीं हैं परन्तु वे सदैव हमारे प्रेरणा स्रोत रहेंगे। हमारा उनको हार्दिक नमन है।

संस्मरण—सत्संग का जादू

१४ श्रावण संवत १९३६ के दिन ऋषि दयानन्द बरेली आये। उनकी सभा का प्रबन्ध-भार मुन्शीराम के पिता जी पर पड़ा। पहले दिन के व्याख्यान से ही प्रभावित होकर अपने नास्तिक पुत्र के सुधार की आशा से पुत्र को कहा—"बेटा मुन्शीराम ! एक दण्डी संन्यासी आये हैं, बड़े विद्वान और योगीराज हैं। उनकी वक्तृता सुनकर तुम्हारे संशय दूर हो जायेंगे। कल मेरे साथ चलना।" यद्यपि केवल संस्कृत जानने वाले के मुख से बुद्धि की कोई बात सुनने की आशा न थी, परन्तु जाने पर पहले दश मिनट के व्याख्यान ने ही इन पर विलक्षण असर किया। फिर तो महर्षि के सत्संग में सर्वप्रथम आने वाले और सबसे पीछे जाने वाले मुन्शीराम ही बन गये। ■

आर्य समाज की महत्ता और हमारा योगदान

लेखक – जे० पी० गोयल, एम० ए० एल० एल० बी०

१८७८ में पूज्य महर्षि स्वामी दयानन्द जी सरस्वती द्वारा स्थापित मेरठ नगर आर्य समाज जिसकी शताब्दी २२, २३ व २४ अक्टूबर १९७८ को बड़े उत्साहपूर्वक मनायी जा रही है, अपने स्वर्णिम इतिहास, वैदिक धर्म के प्रचार व प्रसार, मानव सेवा, समाज सुधार, नैतिक उत्थान एवम् भारतीय संस्कृति की रक्षा करने में सक्षम होने के कारण संसार की श्रेष्ठतम संस्थाओं में से एक है।

वास्तव में महर्षि दयानन्द और आर्य समाज के सिद्धान्तों का प्रचार एवं प्रसार करने में इस समाज ने कितना अधिक योगदान किया है, इसका आभास इस शताब्दी के अवसर पर प्रकाशित होने वाले १०० वर्षों के इतिहास से स्पष्ट हो जायेगा।

'कृण्वन्तों विश्वमार्यम्' का सन्देश घर-घर पहुँचाने तथा संसार की समस्त मानव जाति को बिना किसी जाति-पाति, ऊँच-नीच के भेदभाव के आर्य बनाने, श्रेष्ठ, महान, सुसंस्कृत एवम् कर्त्तव्य परायण बनाने के उद्देश्य से महर्षि द्वारा स्वरचित महान् ग्रन्थ 'सत्यार्थ प्रकाश' को लाखों की संख्या में अर्द्धमूल्य पर जन-जन तक पहुँचाने का महान् कार्य इस संस्था ने किया है। 'सत्यार्थ-प्रकाश' एक ऐसा महान्, अभूतपूर्व ग्रन्थ है जिसके गर्भ में नैतिक, धार्मिक, वैयक्तिक, सामाजिक, राजनैतिक अथवा विश्व में अन्य किसी भी प्रकार की उत्पन्न होने वाली सामाजिक समस्याओं का निदान है।

"Communion with supreme being, recoursing to renunciation, asceticism with calm contemplation of Almighty through recitation of Vedas and Yagnas aloof from superstitions, blind faiths, avariciousness, self-aggrandisement with suppression of anger, lust and other evils; Let us serve mankind with Truth and Non-violence to attain perpetual bliss and salvation, exhorted Mahirishi Dayanand in his unique religious, adorable and universally acclaimed book, 'Satyarth Prakash' (The Light of Truth).

आर्य समाज बाह्य आडम्बरों, रूढ़िवादिता, पाखण्ड एवम् प्रपञ्चों का अत्यन्त विरोधी है। यह वैज्ञानिक विश्लेषण व तथ्य विश्वसनीय प्रमाणों पर आधारित है। सत्यार्थ प्रकाश में स्वामी जी द्वारा सिद्धान्तों के समर्थन में दिये गये दो टूक निर्देश अत्यन्त निर्भीक एवम् स्पष्टवादिता के प्रतीक हैं।

विश्व में 'आर्य' जाति आदि काल से महान् भारतीय सभ्यता की द्योतक, वैदिक धर्म की अनुयायी, सुसंस्कृत, सत्य एवम् अहिंसा की समर्थक एवम् प्रकृति द्वारा उपहार स्वरूप प्रदत्त मानव सेवा में लीन स्वास्थय प्रदान करने वाले प्रत्येक पदार्थ एवम् प्राणी की महत्ता को स्वीकार करती है। मन, बुद्धि एवम् आत्मा को निर्मल करने वाली 'गौ' हमारी माता है। श्वेत क्रान्ति के माध्यम से यह हमारी राष्ट्रीय अर्थ नीति को विकासशील बनाने में सहयोगी हो सकती है। गंगा के पावन, निर्मल, विविध जड़ी-बूटियों से युक्त औषध जल की महत्ता को भी स्वीकार करती है। प्रत्येक ऋतु मूलक, मानव के शरीर को सौन्दर्यशाली, पुष्ठ एवम् रोग मुक्त करने वाले प्रत्येक महान् त्यौहार होली, दीपावली, दशहरा, रक्षाबंधन एवम् अन्य सभी पर्वों को वैज्ञानिक तर्क के आधार पर स्वीकार करते हैं तथा वास्तविक स्वरूप में मानते हैं।

भारतीय संस्कृति की अमूल्य निधि हमारे महान् पुरुषों मर्यादा पुरुषोत्तम राम एवम् योगिराज कृष्ण की नैतिक सत्ता, श्रेष्ठ कार्यों, महान् सन्देशों एवम् उनके लौकिक स्वरूप को सहर्ष स्वीकार करते हैं।

विविध रूपों में मानव, सेवा ही ईश्वर की सच्ची

सेवा के सिद्धान्त का समर्थन करते हुए 'आर्य बन्धु' वातावरण को नैतिक शिक्षा, अग्नि होत्र, एवम् गायत्री मन्त्रों के जाप द्वारा पवित्र बनाते, सत्य को अपनाते एवम् अन्य धार्मिक कृत्यों को नियमित रूप से करते हैं।

'विश्वबन्धुत्व' की भावना से प्रेरित काम, क्रोध, लोभ, मोह को त्याग कर जन्म के आधार पर नहीं अपितु कर्म के आधार पर वर्ण व्यवस्था के सिद्धान्त को प्रचारित एवम् प्रसारित करने वाला 'आर्य समाज' अछूतोद्धार के महान् कार्य में संलग्न है।

वास्तव में आज के भटकते हुए अंधकारमय युग में महर्षि दयानन्द के आदर्शों एवम् आर्य समाज के सिद्धान्तों का पालन करते हुए वैदिक धर्म की रक्षा कर हम अपना जीवन सार्थक बना सकते हैं।

ईश्वर की सत्ता में अटूट विश्वास करते हुए लोक मंगल की कामना करना, अपने देश के महान् पुरुषों के जीवन से शिक्षा ग्रहण करना, अनीति व अन्याय का डट कर निर्भीकतापूर्वक मुकाबला करना तथा राष्ट्र कल्याण हेतू अपने को समर्पित कर देना ही 'आर्य समाज' का प्रमुख लक्ष्य रहा है।

उपरोक्त भावना एवम् नीति निर्देशन को अपने हृदय में संजोये 'मेरठ आर्य समाज' ने महर्षि स्वामी दयानन्द जी के सपनों को साकार किया है। १०० वर्ष पूर्व स्वामी जी के कर कमलों से लगाया हुआ यह पौधा आज विकसित रूप में अपनी तरू-छाया में २५० आर्य समाज मन्दिरों, अनेकों शिक्षण संस्थाओं, गुरुकुलों, व्यायामशालाओं, औषधालयों, पुस्तकालयों आदि को संचलित कर मानव सेवा में लीन है।

हमारा भी उत्तरदायित्व है कि हम ऐसे महान् कार्यों में योगदान कर वयष्टी एवम् समष्टी दोनों का कल्याण करें।

झोंपड़ी वाले बाबा

—सम्पादक

भारत के देदीप्यमान विश्वविख्यात कवि रविन्द्र नाथ टैगोर समृद्ध अभिभावकों के पूर्ण प्रयत्न करने पर भी साधारण विद्यालयों से मैट्रिक का प्रमाण-पत्र प्राप्त नहीं कर सके थे, उन्होंने सतत प्रेरणा प्राप्त की थी। प्रकृति माता के सुषमा-सौन्दर्य से उसकी गोद में पोषण प्राप्त किया था, क्रीड़ा करते रहे, तथा इसी 'मातृ-कुलेत्' (मैट्रिक) से ही नैसर्गिक स्नातक हो, अपने को कविन्द्र रविन्द्र सिद्ध कर दिया।

टैगोर विश्व-कवि थे, विश्व प्रसिद्ध थे, परन्तु भारत के दक्षिण आन्ध्र के बीदर उदगीर में १६०१ में माता श्रीमति अक्का नागम्मा की पवित्र कोख से उत्पन्न श्री प्रकाश जी आर्य, आज विश्व के आधुनिक कलाकारों में सुप्रसिद्ध जाने माने कूंची व रेखा चित्रों की तूलिका के धनी-अमर चित्रकार हैं। वस्तुतः इस प्रकार के चित्रकार यदा-कदा ही जीवन में दृष्टिगोचर होते हैं।

शैशवावस्था में ही पिता श्री संग्राम जी के वात्सल्य से आप विमुख हो गये थे तथा पाँच वर्ष की अवस्था में माता भी अपने लाड़ले को छोड़ गई। माता ने सांसारिक विद्यालयों के सान्निध्य में बालक को मुनीम या लिपिक

बनाने के साधारण स्वप्नें संजोये थे, परन्तु कला का चितेरा पेंसिल से, कलम से, तथा साधारण लकड़ी से भी कागज के अभाव में प्रकाश के भी अभाव में, सदा पृथ्वी पर स्वर के आंगन में, धूलि में, चित्र विचित्र और आड़ी टेढ़ी रेखायें ही खींचता रहता था, हृदय में उमंगें आनन्द बटोरता रहा, जन्मस्थान उद्वीर में ही दक्षिण भारत के महान् आर्य नेता एडवोकेट श्री भाई बंशीलाल जी के सम्पर्क में आप आये । शनैः शनैः 'सत्यार्थ प्रकाश' पढ़ा, वैदिक धर्म का साहित्य मनन किया, उत्सवों महोत्सवों में आर्य नेताओं के सारगर्भित उपदेशों व्याख्यानों का श्रवण किया और तब चार मील दूर घर से जाकर शिव मन्दिर में प्रतिदिन पूजा करने वाला भीमसेन हृदय में सत्य का प्रकाश लेकर नाम्ना भी प्रकाश बन गया ।

प्रथम पत्नि तथा नवःजात शिशु के दिवंगत होने पर आपके मन पर एक आघात हुआ । यद्यपि यह होता है । यह नैसर्गिक है । परन्तु इसी आघात ने आपकी हस्त तलिका को तूल दिया । दिन रात प्रकृति का अध्ययन करते, महापुरुषों के चित्र देखते और कागजों पर, वस्त्रों पर रंग-बिरंगी तूलिका और कूंची चलती रहती, विश्राम ही न लेती । परिस्थितियों को यद्यपि अपने वश में कर लिया था फिर भी बन्धुओं ने आपको पुनः पवित्र विवाह के बन्धन में बांध दिया, सुशीला धर्म-परायना तथा पति भक्ता सौ० प्रभा देवी ने भी प्रेरणा दी, तथा स्वयं भी कूंची उठा ली ! एक से दो कलाकार उत्पन्न हुये । दो से तीन और तीन से चार, देखते-देखते सैंकड़ों कूंची के धनी शिष्य आपने उत्पन्न किये ।

पारिवारिक दृष्टया अत्यन्त निर्धन श्री प्रकाशजी को विद्यालय के शिक्षक वर्ग की ताड़ना-गर्जना में आनन्द के अभाव में अरुचि रही, बन्धुओं के वात्सल्य में विरक्तता रही, परन्तु देश की वनसम्पदा से इन्होंने वैभव प्राप्त किया, हिमालय से हिम-श्वेत हृदयं-गम किया, हिमालय की गोद में इठलाती उछलती, कूदती सरिताओं के लावण्यमय अल्हड़पन को तूलिका बद्ध किया तथा महान समुद्र की गम्भीर गरिमा को हृदय की गहराइयों में समेट लिया, और तब 'तमसोमा ज्योतिर्गमय' की भाव भीनी प्रार्थना के आधार पर इन्द्र धनुषीय सप्तरंगों से अप्रतिम प्राकृतिक सौन्दर्यानुभूति के लाभतिरेक से स्वतः स्फूर्त नक्षत्रवत् अमर चित्रकार श्री प्रकाश जी आर्य भारत के श्रेष्ठ 'पिकासो' बन गये ।

युवावस्था की प्रथम सीढ़ी पर पग रखने के पश्चात् उसी मार्ग पर चलते हुये वृद्धावस्था की ७८ वर्षीय सीढ़ियों पर उतरते हुए भी सहधर्मिणी के साथ चित्र-तूलिका एवं कूंची के द्वारा आर्यसमाज के पवित्र प्रांगण में अनन्य साधना में संलग्न आप राष्ट्र के क्रांतिकारी हुतात्मा आर्य वीरों के स्वर्ण-मय जीवन इतिहास को अमूल्य रूप से चित्रित करने में आज भी सतत संलग्न हैं;—आपके द्वारा निर्मित तैल-चित्र तो इतने सजीव और यथार्थ होते हैं कि, विश्व के उच्च कोटि के चित्रकार एवं चित्र-कला मर्मज्ञ भी दन्तावेष्टित अनामिका द्वारा आश्चर्य चकित हो जाते हैं ।

महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती के अनन्य उपासक, आर्य समाज के अद्वितीय चित्रकार आचार्य श्री प्रकाश जी आर्य का आर्य समाज, मेरठ अत्यन्त आभारी एवं कृतज्ञ है, कि महान् आर्य नेता स्व० श्री पं० प्रकाशवीर शास्त्री की पवित्र प्रेरणाओं से प्रेरित होकर शताब्दी समारोह के इस महान अवसर पर सन् १८५७ के महान संग्राम से आज तक के इतिहास को महान तैल-चित्रों द्वारा यथार्थ रूप में जनता जनार्दन के सन्मुख सादर प्रस्तुत कर दिया, जिसका किसी को विश्वास न था, अमर साधना का यह अदभुत उदाहरण है । ■

महर्षि दयानन्द और सृष्टि संवत्

लेखक—डा० निरूपण विद्यालंकार, अध्यक्ष संस्कृत विभाग मेरठ कालिज, मेरठ।

सृष्टि उत्पत्ति का समय क्या है ? कितने काल तक रहती है ? उसके क्या विभाग हैं ? इत्यादि विषयों पर भी शास्त्रों में विचार पाया जाता है।

भास्कराचार्यकृत सिद्धान्तशिरोमणि में आता है—

लङ्कानगर्यामुद्रयाच्च मानो तस्यैव वारे प्रथमं बभूव।
मधोः सितादेर्दिनमासवर्ष युगादिकानां युगपतप्रवृत्तिः।।

अर्थात् लंका नगरी में सूर्य के उदय होने पर उसी वार अर्थात् आदित्यवार में चैत्र मास पक्ष के प्रारम्भ में दिन, मास, वर्ष, युगादि एक साथ प्रारम्भ हुये।

इसी बात को हिमाद्रि में इस प्रकार लिखा है—

"चैत्र मासि जगद् ब्रह्मा ससर्ज प्रथमेऽहनि।
शुक्लपक्षे समग्रन्तु तदा सूर्योदये सति।।"

अर्थात् चैत्र शुक्लपक्ष के प्रथम दिन सूर्योदय के समय ब्रह्मा ने जगत् की रचना की। इससे स्पष्ट है कि युगादि का प्रारम्भ सूर्योदय से माना गया। सूर्यसिद्धान्त में एक और श्लोक आता है—

ग्रहर्क्षदेवदैत्यादि सृजतोऽस्य चराचरम्।
कृतादिपदा दिव्याब्दाः शतघ्नो वेधसो गताः।।

अर्थात् कल्प के आरम्भ में दिव्यमान के ४७४० दिव्य वर्ष बीतने पर ग्रह, नक्षत्र, देव, दैत्यादि चराचर की सृष्टि हुई।

शास्त्र के आधार पर सृष्टि काल को एक ब्राह्म दिन और प्रलय काल को एक ब्राह्म रात्रि संज्ञा दी गई है। एक ब्राह्म दिन में एक सहस्र चतुर्युगी होती है। और एक चतुर्युगी में चार युग अर्थात् सतयुग, त्रेता, द्वापर और कलियुग क्रमशः—१७२८०००, १२९६०००, ८६४०००, ४३२००० वर्ष के होते हैं। इस प्रकार चारों युगों का योग ४३२०००० वर्ष होता है।

इस सृष्टि कल्प में १४ मन्वन्तर होते हैं। एक मन्वन्तर में ७१ चतुर्युगी होती हैं। सूर्य सिद्धान्त में आता है—

युगानां सप्ततिः सैकामन्वत्तर मिहोच्यते।
कृताब्दसंख्या तस्यान्ते सन्धिः प्रोक्तो जलप्लवः।।

इस युग के प्रसिद्ध वैज्ञानिक गैमों ने सृष्ट्युत्पत्ति काल के सम्बन्ध में निम्न उद्‌गार प्रकट किये हैं।

"अणुओं के बनने में एक घण्टे से कम समय लगा। लोक-लोकान्तरों को बनने में कुछ करोड़ वर्ष लगे।"

कुछ विद्वान् मन्त्रों से युगों की कल्पना करते हैं :—

यथा-**या औषधी पूर्वा जाता देवेभ्यस्त्रिगुण परा।**
मनै नु बभ्रूणामहं शतं धामानि सप्त च।।

स्वामी आत्मानन्द जी ने इस मन्त्र का अर्थ किया है—"सातों लोकों में अनेकों ग्रह तथा वनस्पतियाँ, तीन दिव्य युग (महायुग) पूर्व उत्पन्न हुये, ऐसा मैं मानता हूँ।

यजुर्वेद[1] में स्वामी दयानन्द ने इसका जो अर्थ किया है उसका भाषानुवाद निम्न है।

मैं जो (ओषधीः) सोम आदि ओषधियाँ (देवेभ्यः) पृथिवी आदि में (त्रियुगं) तीन वर्ष (पुरा) पुरानी (पूर्वाः) पहले (जाताः) प्रसिद्ध अर्थात् उत्पन्न हुई और जो (बभ्रूणाम्) रोगों को धारण करने वाले रोगियों के (शतं सप्त च) एक सौ सात (धामानि) मर्मस्थलों को व्याप्त करती हैं उन्हें (नु) शीघ्र (मनै) जानूं।

भावार्थ—मनुष्य, जो पृथिवी और जल में औषधियाँ उत्पन्न होती हैं, जब वे तीन वर्ष पुरानी हो जायें तब उन्हें ग्रहण करके वैद्यक शास्त्र की विधि से सेवन करते हैं। वे सेवन की हुई सब मर्मस्थानों में व्याप्त होकर रोगों को हटाकर शारीरिक सुखों को शीघ्र उत्पन्न करती हैं।

इस प्रकार महर्षि दयानन्द ने 'त्रियुगम्' का अर्थ तीन वर्ष किया है यह युक्ति संगत प्रतीत होती है।

अथर्ववेद के निम्न मन्त्र से भी कई विद्वान् सृष्टि की आयु बताते हैं। मंत्र इस प्रकार है—

---

[1] यजुर्वेद १२। ७५।

शतं तेऽयुतं हायनान् द्वे युगे त्रीणि चत्वारि कृण्मः ।
इन्द्राग्नी विश्वेदेवास्तेऽनुन्सयन्ताम हृणीयमानाः ।।[१]

इसका भाव यह है कि दस लाख तक बिन्दु रखकर= (शतं अयुतं) उनसे पूर्व २, ३, ४ के अंक रख देने चाहियें। जो कि इस प्रकार होगी ४३२०००००० वर्ष। वेद के आधार पर यह सृष्टि की आयु है। मनुस्मृति[३] में भी सृष्टि की आयु का वर्णन हुआ है। सूर्यसिद्धान्त[४] में आता है कि सृष्टि की आयु में १४ मन्वन्तर तथा उनकी १५ संधियों का समय लगता है। तद्यथा—

स सन्धयस्ते मनवः कल्पे ज्ञेयाश्चतुर्दश ।
कृतप्रमाणः कल्पादौ सन्धिः पन्चदश स्मृतः ।।

सूर्य सिद्धान्त के रचयिता के समय सृष्टि की कितनी आयु हो चुकी थी, कितनी शेष थी, इसका वर्णन इस प्रकार आता है—

कल्पादस्माच्च मनवः षड् व्यतीताः ससन्धयः ।
वैवस्वतस्य च मनोर्युगानां त्रिधनो गतः ।।[५]

अर्थात् इस कल्प सृष्टि की उत्पत्ति में अब तक ६ सन्धियों के स्वायम्भुव मनु से लेकर चाक्षुष मनु तक ६ मनु तो सम्पूर्ण और सातवें वैवस्वत् मनु की एक संधि तथा २७ चतुर्युग तो सम्पूर्ण और २८ वें इस वर्तमान चतुर्युग के सत्य-युग, त्रेता, द्वापर, के बीतने पर यह कलियुग चल रहा है, जिसके ५०७५ वर्ष बीतकर यह ७६वां वर्ष चल रहा है।

स्वामी दयानन्द[६] लिखते हैं कि—

ते चैकस्मिन् ब्राह्मदिने चतुर्दश भुक्तभोगा भवन्ति ।
एकसहस्रं चातुर्युगानि ब्राह्मदिनस्य परिमाणं भवति ।।

अर्थात् 'एक ब्राह्म दिन में १४ मन्वन्तर (९९४ चतुर्युगी) भुक्त भोग होते हैं। और एक ब्राह्म दिन में १००० चतुर्युगी होती हैं।' ऋषि दयानन्द[७] का भी कहना है कि—'जब पर्यन्त हज़ार चतुर्युगी व्यतीत न हो चुकेगी तब पर्यन्त ईश्वरोक्त वेद का पुस्तक ये जगत् और हम सब मनुष्य लोग भी ईश्वर के अनुग्रह से सदा वर्तमान रहेंगे।

महर्षि दयानन्द ने ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका के वेदोत्पत्ति विषयः प्रकरण में सृष्टि संवत् पर विस्तार से प्रकाश डाला है। इस पर विद्वानों में बड़ा विवाद है। हम इस विवाद में न जाकर स्वामी दयानन्द के सृष्टि संवत् सम्बन्धी कुछ अंश को यहाँ अविकल रूप से दर्शाते हैं। वे लिखते हैं[८]—यह जो वर्तमान सृष्टि है; इसमें सातवें वैवस्वत मनु का वर्तमान है। इससे पूर्व छः मन्वन्तर हो चुके हैं (१) स्वाभव, (२) स्वारोचिष, (३) औत्तमि, (४) तामस (५) रेवत, (६) चाक्षुष। ये छः तो बीत चुके हैं और सातवां वैवस्वत वर्त रहा है और सावर्णि आदि सात मन्वन्तर आगे भोगेंगे। ये सब मिलकर १४ मन्वन्तर होते हैं। और इकहत्तर चतुर्युगियों का नाम मन्वन्तर रखा गया है। ऐसे १४ मन्वन्तर एक ब्राह्म दिन में होते हैं और इतना ही परिमाण ब्राह्मी रात्रि का भी होता है। सो उसकी गणना इस प्रकार से है—(१७२८०००) सत्तरह लाख अट्ठाईस हजार वर्षों का नाम सत्युग रखा है। (१२९६००) बारह लाख छ्यानवें हजार वर्षों का नामत्रेता, (८६४०००) आठ लाख चौसठ हजार वर्षों का नाम द्वापर और (४३२०००) चार लाख बत्तीस हजार वर्षों का नाम कलियुग रखा है। तथा आर्यों ने एक क्षण और निमेष से लेकर एक वर्ष पर्यन्त भी काल की सूक्ष्म और स्थूल संज्ञा बांधी है और इन चारों युगों के (४३२००००) ततेंालीस लाख बीस हजार वर्ष होते हैं, जिनका चतुर्युगी नाम है। इकहत्तर चर्तुयुगियों के अर्थात् (३०६७२००००) तीस करोड़ सरसठ लाख बीस हजार वर्षों की एक मन्वन्तर संज्ञा की है और ऐसे छः मन्वन्तर मिलकर अर्थात् (१८४०३२००००) एक अरब चौरासी करोड़ तीन लाख बीस हजार वर्ष व्यतीत हुये। और सातवें मन्वन्तर के भोग में यह अट्ठाईसवीं चतुर्युगी है। इस चतुर्युगी में कलियुग के चार हजार नौ सौ छियत्तर वर्षों का तो भोग हो चुका है और शेष (४२७०२४) चार लाख सत्ताईस हजार चौबीस वर्षों का भोग होने वाला है। जानना चाहिये कि (१२०५३२९७६) बारह करोड़ पाँच लाख बत्तीस हजार नौ सौ छियत्तर वर्ष तो वैवस्वत मनु के भोग हो चुके हैं और (१८६१८७०२४) अठारह करोड़ इकसठ लाख सतासी हजार चौबीस वर्ष भोगने बाकी रहे हैं।

[२]अथर्ववेद ८। २। २१।
[४]सूर्य सिद्धान्त, अध्याय ११९।
[६]ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका ।
[३]मनुस्मृति १। ६९। ७०।
[५]वही।

स्वामी जी ने[९] आगे लिखा है–'ब्राह्म दिन' और 'ब्राह्म रात्रि' अर्थात् ब्रह्म जो परमेश्वर उसने संसार के वर्तमान और प्रलय की संज्ञा की है। इसलिये इसका नाम ब्राह्म दिन है। इसी प्रकरण में मनुस्मृति[१०] के श्लोक साक्षी के लिये लिख चुके हैं, सो द्रष्टव्य हैं। इन श्लोकों में दैव वर्षों की गणना की है अर्थात् चारों युगों के (१२०००) बारह हजार वर्षों की दैवयुग संज्ञा है। इसी प्रकार असंख्यात मन्वन्तरों में जिनकी संख्या नहीं हो सकती अनेक बार सृष्टि हो चुकी है, अनेक बार होगी। सो इस सृष्टि को सदा से सर्वशक्तिमान जगदीश्वर सहज स्वभाव से रचना, पालन और प्रलय करता है और सदा ऐसे ही करेगा।

मन्वन्तर परिवर्तन : खण्ड प्रलय

जब एकमन्वन्तर समाप्त होकर दूसरा मन्वन्तर प्रारम्भ होता है तो वह इस मध्य काल में सृष्टि की क्या स्थिति होती है यही विचारणीय है। हमारे विचार में उस समय खण्ड प्रलय का सादृश्य उत्पन्न हो जाता है। जलप्लावन हो सकता है, या और कोई महाभूत तक प्रलय हो सकती है। स्वामी दयानन्द ने अपने अमरग्रन्थ सत्यार्थप्रकाश[११] में जब महाप्रलय होता है, उसके पश्चात् आकाशादि क्रम अर्थात् जब आकाश, वायु का प्रलय नहीं होता और अग्न्यादि का होता है, अग्न्यादि क्रम अर्थात् जिस-जिस प्रलय में जहाँ-जहाँ तक प्रलय होता है······ इत्यादि लेख में महाप्रलय से अन्यत्र भी प्रलय का होना स्वीकार किया है। यह लेख मन्वन्तरों के मध्य कही गई शास्त्रीय अवान्तर प्रलय का ही बोधक है। यही तथ्य ऋग्वेदादि भाष्यभूमिका[१२] 'में मन्वन्तरपर्यावृत्तौ सृष्टे र्नैमित्तिकगुणानामपि पर्यावर्तनं किंचित् किंचित् भवत्यतो मन्वन्तरसंज्ञा क्रियते' इस उद्धरण से भी सूचित किया है।

मीमांसक लोग तो महाप्रलय मानते ही नहीं। उनके मत में खण्ड प्रलय ही होती है, जोकि मन्वन्तरों के परिवर्तनकाल में होती है।

इस प्रकार सृष्टि विकास में उसके परिवर्तन में खण्ड प्रलय का भी बड़ा महत्व है।

सृष्टि कब से शुरू हुई है ? इस विषय में आर्य लोगों का निर्विवाद मत था। स्वामी दयानन्द[१३] ने लिखा है— 'कुतो ह्यार्यैर्नित्यम्' ओ३म् तत् सत् श्री ब्रह्मणों द्वितीय-प्रहरेऽपरार्द्धे वैवस्वते मन्वन्तरेऽष्टाविंशतितमे कलियुगे कलिप्रथमचरणेऽमुकसंवत्सरामनतु मासपक्षदिननक्षात्रलग्नमुहूर्तेऽत्रेदंकृतं क्रियते च इत्याबालवृद्धैः प्रत्यहं विदितत्वात्···

सृष्टि और प्रलय का काल नियत है

ईश्वरीय नियम ऐसा है कि वह सदा एकरस रहता है, जिसको कोई तोड़ नहीं सकता। एक मन्वन्तर में कितना समय लगना है, खण्ड प्रलय व महा प्रलय कब तक रहनी है, यह सब नियत है। इसी प्रकार सूर्य, चन्द्रमा के ग्रहणों, गतियों आदि का जो अनादि काल से क्रम चला आता है वह नित्य है। अतः इन्हें भविष्यकाल में कहना उपयुक्त नहीं। हाँ, मनुष्य की दृष्टि से भविष्यत् काल का प्रयोग किया जाता है। परब्रह्म परमात्मा का अनादिकाल से यह नियम चला आता है कि प्रत्येक सृष्टि और प्रलय की एक एक कल्प भर की आयु होती है। इससे न न्यून न अधिक। प्रश्न हो सकता है कि इसमें क्या प्रमाण है कि सृष्टि से पूर्व कल्प में भी कोई अन्य सृष्टि थी और उसमें सूर्य-चन्द्रमा आदि सब पदार्थ ईश्वरीय नियमानुकूल इसी प्रकार थे और लोक-लोकान्तरों में भी इसी प्रकार की अन्य सृष्टियाँ हैं और भविष्यत्काल में भी इसी प्रकार की होंगी। इस सम्बन्ध में यह वेद मन्त्र दिखाया जाता है।

सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्।
दिवं च पृथिवी चान्तरिक्षमथो स्वः॥[१४]

त्रिगुणात्मक जगत्

जगत् त्रिगुणात्मक है। जहाँ तक प्राकृतिक जगत् का सम्बन्ध है वह सत्व, रजस् और तमस् से ओतप्रोत है। जगदुत्पत्ति तथा उसके विकास को हृदयंगम करने के लिये जीवात्मा, परमात्मा तथा प्रकृति इस त्रयी का समझना परमावश्यक है। इस ब्रह्माण्ड को समझने के लिये युगप्रवर्त्तक दिव्य दृष्टि ऋषियों ने हमें एक सूत्र पकड़ा दिया है और वह है—**'यथा ब्रह्माण्डे तथा पिण्डे'** अथवा **'यत् पिण्डे तद् ब्रह्माण्डे'** अर्थात् जो-जो शक्तियाँ

---

[९]सत्यार्थ प्रकाश।
[११]सत्यार्थप्रकाश, अष्टम समुल्लास।
[१३]वही।
[१०]मनुस्मृति १।१–८।
[१२]ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका।
[१४]ऋग्वेद १०।१९०।३ ।

ब्रह्माण्ड में हैं वे वे पिण्ड में भी हैं। अथवा जो कुछ पिण्ड में है वही ब्रह्माण्ड में है। पिण्ड से पुरुष पिण्ड अर्थात् पुरुष के शरीर का ही ग्रहण किया गया है। ऐतरेयउपनिषद् में कहा है कि—'पुरुषोवाव सुकृतम्'[१५] अर्थात् पुरुष सर्वश्रेष्ठ रचना है, क्योंकि उसमें ब्रह्माण्ड की सभी शक्तियाँ विद्यमान हैं। सूर्य, चन्द्र, अग्नि, दिशायें, अन्तरिक्ष, द्यौ, भूमि आदि सभी जागतिक देवता अंशरूप में शरीर में विद्यमान हैं।

अध्यात्मरामायण में जीवात्मा, परमात्मा तथा प्रकृति इस त्रिपुटी को निम्न शब्दों में प्रकट किया है—

> सूक्ष्मंते रूपमव्यक्तं देहद्वयविलक्षणम् ।
> दृग्रूपमितरत् सर्वं दृश्यं जडमनात्मकम् ।।
> तत् कथं त्वां विजानी याद् व्यतिरिक्तमतः प्रभो ।
> हिरण्यगर्भस्ते सूक्ष्मं देहं स्थूल विराट स्मृतम् ।।
> भावना विषयो राम सूक्ष्मं ते ध्यातृ मंगलम् ।
> भूतं भव्यं भविष्यच्च यत्रेदं दृश्यते जगत् ।।

यह जो इतर सब दृश्य रूप जड़ जगत चक्षुओं का विषय बना हुआ है, वह अनात्मक है। अर्थात् आत्मा व्यतिरिक्त है। इस आनात्मक जगत् के स्थूल तथा सूक्ष्म दो रूप हैं परन्तु हे राम, हे प्रभो ! तुम्हारा अव्यक्त सूक्ष्मतम रूप तो इन दोनों से विलक्षण है। हिरण्यगर्भ आपका सूक्ष्म शरीर है और विराद आपका स्थूल शरीर है। यह सब भावना विषय है। इस भावना से भावित होकर ध्यानी पुरुष का मंगल होता है। ये स्थूल तथा सूक्ष्म देह तो कल्पना मात्र है, क्योंकि आप शरीर रहित हैं। परन्तु इस ब्रह्माण्ड को जानने के लिये ऋषियों, मुनियों एवं ज्ञानियों ने 'बहुधा अकल्पयन्' आपकी बहुत प्रकार से कल्पना की है और पुरुष रूप में आपको कल्पित किया है।

जीव और ब्रह्म निराकार व अरूप

जीव और ब्रह्म निराकार व अरूप होने का यह तात्पर्य नहीं कि उनका अत्यन्ताभाव है। आकार स्थूलता को दर्शाता है। निराकार सूक्ष्मता का वाचक है। जीव-ब्रह्म सूक्ष्म होने से स्थूल नेत्रों से दृष्टिगोचर नहीं होते प्रत्युत योगाभ्यास द्वारा वे दिखाई देते हैं। अतः जीव ब्रह्मादि निराकार वस्तुओं को सर्वथा अरूप कहना नितान्त असंगत है। योगियों को योग बल द्वारा जीवात्मा तथा परमात्मा का जो समाधिजन्य प्रत्यक्ष होता है, वह सूक्ष्मतम रूप वाली होनी चाहिये। प्रकृति जीव और परमात्मा इनमें से प्रकृति सूक्ष्म, जीव सूक्ष्मतर तथा परमात्मा सूक्ष्मतम है।

इस प्रकार इस सृष्टि सम्वत् के प्रकरण में सृष्ट्युत्पत्ति का समय क्या है ? इस पर संक्षेप में विचार किया गया है। गौण रूप से इस प्रसंग में त्रिगुणात्मक जगत्, जीव और ब्रह्म पर भी विवेचन कर दिया गया है।

---

[१५] ऐतरेय उपनिषद् ।

मेरठ आर्य समाज शताब्दी के उपलक्ष्य में
निःशुल्क नेत्र चिकित्सा शिविर के उद्घाटन अवसर पर
संयोजकीय भाषण–

आदरणीय प्रधान जी,

जिलाधिकारी श्री रविन्द्र शंकर माथुर तथा मित्रों !

मेरठ आर्य समाज के शताब्दी उत्सव का शुभारम्भ जिस चक्षुदान यज्ञ से हो रहा है, मैं उस उत्सव में आप सबका स्वागत करता हूँ।

मेरठ आर्य समाज जिसकी नींव महर्षि दयानन्द सरस्वती ने आज से सौ साल पहले अपने हाथों से रखी, उसे आज सौ वर्ष पूरे हुए। इन सौ वर्षों में मेरठ आर्य समाज ने क्या-क्या किया, इसकी विशेष चर्चा तो हम अपने वृहद् उत्सव के समय २२ अक्टूबर को करेंगे परन्तु एक विशेष बात बताने की है सन् १९३७ में मेरठ में हुई प्रान्तीय आर्य प्रतिनिधि सभा की जयन्ती के अवसर पर एक नेत्र चिकित्सा शिविर लगा था। तब डॉ० रामचन्द्र आई० एम० एस० जो मिलिट्री से रिटायर हुए थे, की अध्यक्षता में हुआ था। इस शिविर का उद्घाटन माननीय स्वर्गीय पण्डित गोविन्द वल्लभ पन्त जो उस समय हमारे प्रान्त के मुख्यमन्त्री थे, के करकमलों द्वारा सम्पन्न हुआ था। सन् १९५१ में जब यहाँ पर सार्वदेशिक आर्य महा सम्मेलन हुआ था तब भी हमने चक्षुदान यज्ञ किया था। और उस समय ९४ आपरेशन किये गये थे और परमेश्वर की कृपा से प्रत्येक आपरेशन सफल रहा। तब बिहार से प्रसिद्ध नेत्र विशेषज्ञ जो कालान्तर में सार्वदेशिक सभा के प्रधान भी रहे। डा० दुखन राम के नेतृत्व में वह कैम्प चला था। इस बार भी अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त अलीगढ़ गांधी आई हास्पिटल के निदेशक इस शिविर में स्वयं आवेंगे। उन्हीं डा० पाहवा की टीम इस शुभ अवसर पर कार्य करने के लिये अलीगढ़ से आई है। मैं आशा करता हूँ कि इस बार भी हमारे कैम्प में किये जाने वाला प्रत्येक आपरेशन सफल होगा और इस प्रकार हमारा चक्षुदान यज्ञ हमारे जनपद में आर्य समाज के संदेश के प्रसार और आर्य समाजियों के जीवन पर्यन्त सेवाव्रती होने की बात कोने-कोने में पहुँचायेगा।

किसी संस्था के जीवन में १०० वर्ष बहुत महत्वपूर्ण होते हैं। वेद में तो जीवन की सामान्य रूप से १०० वर्ष की आयु बताई गई है। परन्तु वे सौ वर्ष कैसे हों इसको भी देखने की आवश्यकता है। ऋग्वेद ने कहा "दीर्घायु पुरुषार्थ पूर्ण हो जिसमें व्यक्ति अन्य बातों के अतिरिक्त आँखों से भी देखें। वहाँ शब्द आया है चक्षुऽमते-आँखों से देखने वाला अथर्ववेद ने कहा "पश्चैम शरदः शतम् हम सौ वर्ष तक देखें। रोज हम संध्या में पढ़ते हैं तच्चक्षुर्दे व हित" यहाँ परमेश्वर से ज्ञान चक्षु की याचना की गई है–ज्ञान चक्षु का अर्थ है कि हममें वह योग्यता हो कि हम आने वाले ज्ञान को समझ सकें। उसे आत्मसात कर सकें। आर्य समाज ने घर-घर जाकर इस पिछले सौ वर्ष में समाज को ज्ञाननेत्र दिये हैं। जिस समय महर्षि ने हरिद्वार में पाखण्ड खण्डिनी पताका फहराई थी, तब तो समाज का आम आदमी और समाज का नेतृत्व करने वाले लोग दोनों ज्ञान चक्षु से शून्य थे। महर्षि ने यह पौधा लगाया और पहले लोगों के ज्ञान चक्षु खोले फिर आदि ज्ञान वेद से उनका परिचय कराया। तब लोगों को पता चला कि सौ वर्ष तक जीना ही पर्याप्त नहीं है, अपितु हमारी इन्द्रियां भी हमारा साथ देती रहें। हम ठीक से सौ वर्ष तक देखें–हम ठीक से सौ वर्षों तक सुने। हम ठीक से सौ वर्षों तक ज्ञान वाले बने रहे। हम ठीक तरह से सौ वर्षों तक फले फूलें और वृद्धि प्राप्त करें। आज का हमारा यह शिविर इसी दिशा में एक कदम है। जो लोग नेत्र रोग से पीड़ित हुये हैं उन हें

पुनः स्वस्थ नेत्रवानों की पंक्ति में बैठाने का कार्य इस शिविर का है और मैं आशा करता हूँ कि इस बार भी जो लोग यहाँ से अपनी आँखों का आपरेशन करा कर जायेंगे वे अपने जीवन पर्यन्त ठीक से देख सकेंगे।

महर्षि ने आर्य समाज स्थापित करते समय जो इसके दस नियम बनाये उसमें एक नियम यह रक्खा कि संसार का उपकार करना हमारे समाज का मुख्य उद्देश्य है। इससे इस बात की झलक मिलती है कि ऋषि के मस्तिष्क में सब प्राणी बराबर थे। उनमें जाति सम्प्रदाय अथवा प्रदेश का कोई भेद नहीं था उसी के अनुरूप इस चक्षु यज्ञ में सब ही की सेवा बिना किसी जाति धर्म व प्रदेश के भेद-भाव के की जायेगी।

इस अवसर पर उचित ही होगा कि मैं सबसे पहले अपने आज के प्रतिष्ठित अतिथि का पुनः धन्यवाद करूँ जिन्होंने अपने व्यस्त कार्यक्रम में से अपना अमूल्य समय इस उद्घाटन समारोह के लिए दिया है। साथ ही में उन सभी महानुभावों का धन्यवाद करता हूँ जिन्होंने हमें शक्ति भर सहायता देकर हमारा उत्साह बढ़ाया। आर्य समाज के अपने सभी साथियों और विशेषतः बहिनों का आभारी हूँ जिन्होंने इस शिविर में सेवा समर्पित करने का संकल्प लिया।

थापर नगर के आर्य बन्धुओं के प्रति भी मैं नेत्र चिकित्सा शिविर की ओर से विशेष रूप से आभार प्रकट करता हूँ कि उन्होंने भवन के साथ-साथ अपनी सेवाएँ भी अर्पित की हैं।

कहते हैं कि आँख है तो जहान है। यदि हमारे सभी रोगी मित्रों को उनकी आँखें मिल सकीं तो आर्य समाज के माध्यम से उन्हें उनकी दुनियाँ वापस मिल जायेगी। इससे बड़ा यज्ञ और क्या होगा! इन शब्दों के साथ मैं माथुर साहब से प्रार्थना करता हूं कि वे प्रथम रजिस्ट्रेशन कार्ड बनाकर शिविर का उद्घाटन करें।

आर्य समाज का सेवक

राधे लाल

संयोजक

नेत्र चिकित्सा शिविर,

मेरठ।

■

ओ३म्

ऋग्वेद के नैतिक मूल्य

लेखक—डॉ० गणेशदत्त शर्मा, अध्यक्ष संस्कृत विभाग, एन० ए० एस० कालिज, मेरठ।

सृष्टि के आदि में ऋषियों द्वारा दृष्ट ईश्वरीय ज्ञान वेद समस्त नैतिक मूल्यों का जन्मदाता है। ऋत सत्य, अहिंसा, मानवप्रेम विश्व बन्धुत्व एवं लोक कल्याण आदि की नैतिक भावना ही वस्तुतः मानवसमाज एवं मानवता की आधारशिला है। मानवधर्म, मानवशास्त्र एवं आचार-शास्त्र के शाश्वत सिद्धान्तों का बीज वेद में दृष्टिगोचर होता है। इस दृष्टि से महर्षि मनु की—

"वेदोऽखिलो धर्ममूलम्"[१] तथा

"वेदाद्धर्मो हिनिर्बभौ" आदि उक्तियाँ वेद के विषय में पूर्णतः चरितार्थ होती हैं।

नैतिक मूल्यों का चित्रण यद्यपि चारों वैदिक संहिताओं में उपलब्ध होता है, किन्तु यहाँ इस विषय को सीमित एवं संक्षिप्त रूप से प्रस्तुत करने की दृष्टि से केवल ऋग्वेद में प्राप्त नैतिक मूल्यों का विवेचन ही अपेक्षित है।

"ऋत"

"ऋत एवं सत्य"—ये दोनों ही शब्द पर्यायवाची से प्रतीत होते हैं और प्रायः एक अर्थ में प्रयुक्त भी हुये हैं, किन्तु दोनों में सूक्ष्म अन्तर है। ऋत का सिद्धान्त अपने में एक अलौकिकता एवं दार्शनिक गम्भीरता को लिए हुये है जिसका विस्तृत विवेचन पृथक से अपेक्षित है। संक्षेप में ऋत परमेश्वर का वह अटल विधान है जिसके सहारे समस्त सृष्टि-चक्र का प्रवर्तन हो रहा है। ऋक् १०। ६२। ४ में वर्णन है कि—"विस्तृतं अन्तरिक्ष द्युलोक एवं विशाल-पृथिवी ऋत का ही विस्तार है"[२]। ऋत के द्वारा ही आदित्यों की स्थिति है –"ऋतेनादित्यास्तिष्ठन्ति"[३]। इतना ही नहीं सूर्य, चन्द्र, अग्नि, वायु, आकाश एवं पृथिवी आदि सभी का आधार ऋत को बताया गया है और यह भी कहा गया है कि ये सब ऋत का ही अनुसरण करते हैं—।[४] ऋग्वेद में मानव-जगत् की सुख-समृद्धि का आधार ऋत को माना है।[५] राष्ट्र की प्रतिष्ठा का आधार भी ऋत ही है—

ऋतेन राजन्ननृतं विविश्चन्
मम राष्ट्रस्याधिपत्यमेहि।"

ऋ क्० १०। १२४। ५

केवल लौकिक ही नहीं अपितु पारलौकिक सुख, स्वर्ग एवं मोक्ष की प्राप्ति का साधन भी ऋग्वेद की दृष्टि में ऋत है:—

"भजन्त विश्वे देवत्वंनाभ ऋतंसपन्तो अमृतयेःवै।"

ऋ क्र० १। ६८। २

"ऋतस्यनाभिरमृतं विजायते"। ऋ० ६। ७४। ४।

इन सन्दर्भों में प्रयुक्त ऋत शब्द परमात्मा के शाश्वत विधान के साथ-साथ उस नैतिक आचार का भी वाचक है जिस पर चलकर मानव देवत्व एवं अमृतत्व की प्राप्ति कर सकता है। मानव जगत् के लिये यह नैतिक आचार भी सृष्टि के विधाता ईश्वर अथवा उसकी वाणी वेद द्वारा विहित है। अमृतत्व की प्रकृति का यह ऐसा मार्ग है जिसे

---

[१] मनु।

[२] ऋतस्य हि प्रसितिर्द्यौरुरुव्यचो नमो मह्यरमतिः पनीयसी॥

[३] ऋक्० १०। ८५। १

[४] (क) ऋक्० १। ११३। १२, १८६। ६, २। २३। १५, ३। ५४। १३, ४। ४०। ५ तथा ७। ६६। १३
(ख) "अस्य में घावापृथिवी ऋतायतः।" ऋक्० २। ३२। १। "ऋतस्य देवाअनुव्रतागुः ऋक्० १। ६५। २। "मधुवाता ऋतायते" ऋक्० १। ६०। ६ ऋतस्य पन्थामन्वेति साधु ऋक्० ५। ८०। ४।

[५] ऋक्० ४। २३। ८–६–१०।

सदाचार के द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। दुराचरणशील व्यक्ति इस ऋत के मार्ग को पार ही नहीं कर सकते—ऋतस्य पन्थां न तरन्ति—दुष्कृत।

ऋ क्र० ९। ७३। ६

"सत्य"

ऋत के साथ-साथ ऋग्वेद में सत्य को भी बहुत महत्व प्रदान किया गया है। ऋक्० १०। १९०। १ में ऋत तथा सत्य को सृष्टि के आरम्भ में (ब्रह्मा) के तप से उत्पन्न कहा गया है और इसी सत्य एवं ऋत के द्वारा रात्रि, समुद्र आदि क्रमशः आविर्भूत हुए बताये गए हैं—

ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत।
ततो रात्र्यजायत ततः समुद्रोअर्णवः॥

ऋक् १०। ३७। २ में ऐसे सत्यवचन से रक्षा की कामना की गई है कि जिस पर द्युलोक, दिन-रात तथा सारा जगत आश्रित है; जिसकी महिमा से प्रतिदिन सूर्योदय होता है और जल प्रवाहित होता है—

सा मा सत्योक्तिः परिपातु विश्वतो,
द्यावा च यत्र ततनन्नहानि च।
विश्वमन्यन्निविशते यदेजति,
विश्वाहापोयो विश्वाहोदेति सूर्यः॥

ऋग्वेद में सत्य को इतना महत्व दिया गया है कि वहाँ उसे विश्व का नियन्त्रण एवं संचालन करने वाला मान लिया गया। एक मन्त्र में स्पष्ट वर्णन है—"सत्य के द्वारा ही पृथिवी स्तम्भित है"—**सत्येनोत्तभिता भूमि"**।[६] एक स्थान पर तो धरती एवं आकाश को भी सत्य बोलने वाला बताया है—"ऋतावरीरोदसी सत्यः वाचः"।[७] इन मन्त्रों से यह सिद्ध होता है कि ऋग्वेद में न केवल मानव समाज अपितु समस्त ब्रह्माण्ड को, यहाँ तक कि—जड़ प्रकृति को भी सत्यमय कल्पित किया है।

ऋग्वेद में सत्य को विश्व का मौलिक तत्व स्वीकारा गया है। अथर्ववेद में यही विचार और अधिक स्पष्ट रूप में आया है—वहाँ वर्णन है—"सत्य, ऋत, दीक्षा, तप, ब्रह्म एवं यज्ञ पृथिवी को धारण करते हैं।[८]
"सत्यं बृहदृतमुग्रं दीक्षा तपो ब्रह्म यज्ञः पृथिवीं धारयन्ति।"

उपनिषद् काल में सत्य का स्वरूप पर्याप्त विकसित दिखाई देता है। वहाँ "सत्य" ब्रह्म का पर्यायवाची बन गया है।[९] यद्यपि उपनिषद् की इस भावना का मूल उन ऋग्वैदिक सन्दर्भों में निहित दृष्टिगोचर होता है जहाँ सत्य को समस्त जगत् का आधार बताया गया है।[१०] एक मन्त्र में तो परमात्मा को सत्यस्वरूप बताकर उसकी स्तुति का शुभसंकल्प यों वर्णित है—

"सत्यमिद् वा उ तं वयमिन्द्रं स्तवामः।"

ऋक्० ८। ६२। १२ ऋक्० ७। ५६। १२ में ऋत के द्वारा सत्य की प्राप्ति का चित्रण है—

"ऋतेन सत्यं ऋतसाप आयन्"

यहाँ ऋत अर्थात् नैतिक आचरण द्वारा सत्य अर्थात् परमात्मा को प्राप्त करने का अर्थ ही अधिक समीचीन प्रतीत होता है। ऐसे स्थलों में प्रयुक्त "सत्य" लोक प्रचलित "सत्य" से ऊपर उठकर दार्शनिक पृष्ठभूमि में पहुँच गया है।

सत्य को इतना ऊँचा स्थान देने के साथ-साथ ऋग्वेद में असत्य एवं असत्यवादी को निम्न स्थान दिया गया है और उनकी निन्दा की गई है। ऋक्० ४। ५। ५। में असत्यवादी को पापी बताया है—

पापासः सन्तो अनृता असत्याः"।

ऋग्वेद में स्पष्ट रूप से यह विश्वास भी व्यक्त किया गया है कि अन्त में सत्य की विजय होती है और असत्य पराजित हो जाता है।[११] इस अमर विश्वास के साथ वेद में यह प्रार्थना भी है—"मेरा हृदय तथा विचार सत्य से

---

[६] ऋक्० १०। ८५। १।
[७] ऋक्० ३। ५४। ४
[८] अथर्व० १२। १। १।
[९] "तस्य ह वा एतस्य ब्रह्मणो नाम सत्यमिति।" छान्दोग्योपनिषद् ८। ३ ४।
[१०] ऋक्० १०। ३७। २; ८५। १
[११] सुविज्ञानं चिकितुषे जनाय सच्चासच्च वचसी पस्पृधाते।
तयोर्यत्सत्यं यतरहजीयस्तदित् सोमोऽवति हन्त्या सत्॥

युक्त हों" —"ऽऽकूतिः सत्या मनसो में अस्तु" ।[१२] इसके अतिरिक्त "सत्य बोलने और सत्य कर्म करने" का वेद भगवान् का यह आदेश भी अपने में एक गरिमा को लिये हुये है—"सत्य वदन्त्सत्यकर्मन्…" ।[१३] सत्य के आचरण से ही मानव (परम व्योम स्वर्ग) में प्रतिष्ठित होता है ।[१४] सत्यवादी ही देवत्व को प्राप्त करते हैं ।[१५] और अमृतत्व की प्राप्ति भी सत्यवादी को ही होती है ।[१६]

छान्दोग्योपनिषद् के अनुसार "सत्य" मृत्यु से अमृत की ओर ले जाने वाला सोपान है । वहाँ वर्णन है—" सत्य में "सत्—ति—यम" ये तीन अक्षर हैं । उनमें से जो "सत्" है— वह "अमृत" है, जो "ति" है— वह "मर्त्य" है । और यम इन दोनों (मर्त्य—अमर्त्य) को जोड़ने वाला है"—"तानिह वा एतानि त्रिव्यक्षराणि सत्तियमिनि तद्यत् "सत्" तदमृतमथ यत् "ति" तन्मर्त्यमथ यत् "यम" तेनोभे यच्छति"। (छान्दोग्य० ८ । ३ । ५ ।) शतपथ ब्राह्मण में सत्य द्वारा स्वर्ग की प्राप्ति का वर्णन है ।[१७] मनुस्मृति में सत्य को स्वर्ग का सोपान कहा है— "सत्यं स्वर्गस्य सोपानम्" ।[१८] महाभारत में तो सत्य को सर्वाधिक गौरव प्रदान किया गया है । वहाँ यह वर्णन है— "यदि तुला में एक ओर सत्य और दूसरी ओर एक हजार अश्वमेध यज्ञ रखे जायें तो भी सत्य का पलड़ा ही भारी रहेगा ।"[१९]

वेदोत्तर कालीन साहित्य में प्राप्त सत्य के इस महान् आदर्श का मूल विचार वेद की ही देन है जैसा कि ऋग्वेद के उपर्युक्त सन्दर्भों से प्रमाणित होता है । साथ ही यह भी सिद्ध होता है कि वैदिक आर्यों के जीवन सत्य के नैतिक आदर्श की प्रतिष्ठा हो चुकी थी ।

अहिंसा

अहिंसा की भावना का मूल ऋग्वेद के उन मन्त्रों में दिखाई देता है जहाँ प्रभु से हिंसा रहित बुद्धि की याचना की गई है—

"प्राचीमु देवाश्विना धियं मेऽमृध्रां सातये कृतं वसूयुम्"[२०] वस्तुतः बुद्धि ही समस्त सम्पत्तियों व समृद्धियों की उपलब्धि का साधन है । किन्तु कभी-कभी यह बुद्धि हिंसा एवं विनाश का भी कारण बन जाती है । इसीलिये वेद में अहिंसक बुद्धि (अमृध्रां धियम्) की प्रार्थना है । ऋग्वेद के अनुसार देवदान (मोक्ष का मार्ग) भी उन्हीं को प्राप्त हो सकता है जो अहिंसक हैं ।[२१]

अहिंसा के इस महत्त्व के साथ-साथ ऋग्वेद में बाल, युवा, वृद्ध, माता-पिता तथा गौ आदि पशुओं तक की हिंसा का साफ-साफ शब्दों में निषेध है ।[२२] हिंसक को दण्ड देने और उसे मार देने तक की प्रार्थनायें भी ऋग्वेद में मिलती हैं ।[२३]

---

[१२] ऋ० कृ०—१० । १२८ । ४ ।
[१३] ऋ० कृ०—९ । ११३ । ४ ।
[१४] सत्यधर्माणा परमे व्योमनि । ऋ० कृ० ५ । ६३ । १ ।
[१५] सत्यैः कव्यैः पितृभिर्घर्मसद्भिः । ऋ० कृ० १० । १५ । ९ ।
ये सत्यासो हविरदो हविष्पा इन्द्रेण देवैः सरथं दधाना । ऋ० कृ० १० । १५ । १० ।
[१६] ऋ० कृ० ४ । ३३ । ६ ।
[१७] शतपथ—२ । २ । २ । २९ ।
[१८] मनु०—८ । ८
[१९] अश्व मेध सहस्रं च सत्यं च तुल्वया धृतम् ।
अश्वमेध सहस्राद्धि सत्यमेव विशिष्यते ।। महाभा भारत शान्तिपूर्ण १६२ । २६
[२०] ऋ० कृ० ७ । ६७ । ५ ।
[२१] प्र मे पन्था देवयाना अहमृनन्नमर्धन्तो वसुभिरिष्कृतासः । ऋ० कृ० ७ । ७६ । २
[२२] मानो महान्तमुत मानो अर्भकं मान उक्षन्तमुत मुत मान उक्षितम् ।
मानो वधीः पितरं मोत मातरं मानः प्रियास्तन्वोरुद्ररीरिषः ।। ऋ० कृ० १ । ११४ । ७ ।
मान स्तोके तनये मान आयौ मानोगोषु मानो अश्वेषुरीरिषः ।
वीरान् मानो रूद्र माभितो वधीर्हविष्मन्तः सदमित् त्वा हवामहे ।। ऋ० कृ० १ । ११४ । ८ ।
[२३] अपसोम मृधो जहि । ऋ० कृ० ९ । ४ । ३ ।

हिंसा के प्रति वेद में घृणा की भावना के दर्शन होते हैं। मन्त्रों में गौ के लिए "अघ्न्यान्या" (न मारी जाने योग्य) और यज्ञ के लिए "अध्वर" (हिंसा रहित) शब्दों का प्रयोग भी अहिंसा की भावना का द्योतक है। यह भी सिद्ध होता है कि आर्यों के धार्मिक एवं सामाजिक जन-जीवन में अहिंसा की पुनीत भावना की स्थापना हो चुकी थी।

इस भाँति "अहिंसा परमो धर्मः" के सिद्धान्त को ऋग्वैदिक देन कहा जा सकता है। यह दुर्भाग्य की बात है कि आगे चलकर मिथ्या ज्ञान के कारण अहिंसा के प्रबल प्रतिष्ठापक वेद के नाम से वैदिक कर्मकाण्ड में पशुहिंसा का प्रचलन हो गया।

"मानव प्रेम"

ऋक्० १। ७५। ४। में परमात्मा को मानव मात्र का बन्धु, मित्र, प्रिय एवं सखा कहा है—

त्वं जामिर्जनानामग्ने मित्रो असि प्रियः।
सखा सखिभ्य दूड्यः ।।

स्तुति करते समय परमेश्वर को मित्र की भाँति प्रिय बताया गया है—

"**स्तुषे मित्रमिव प्रियम्**"। ऋक्० ८। ८४। १।

इतना ही नहीं भगवान् तथा समस्त विश्वा के प्रिय बनाने की कामनाएँ भी ऋग्वैदिक मन्त्रों में उपलब्ध होती हैं—

"**प्रियास इत्ते मधवन्नभिष्टौ**"। ऋक्० ७। १९। ८।
"**प्रियो नो अस्तु विपूधतिः**" ।। ऋक्० १। २६। ७।
अथर्ववेद में तो सबको प्रेम से देखने का आदेश है—
"**प्रियं सर्वस्य पश्यत उतशूद्रे उतार्ये**"।
अथर्व० १९। ६२। १।

मानव प्रेम की यह नैतिक भावना वस्तुतः विश्व के सुख की आधार शिला है।

"विश्व बन्धुत्व"

विश्व बन्धुत्व की भव्य भावना का मूल भी वेद है। ऋक्० १। १६४। ३३। में इस विशाल पृथिवी को ही बन्धु कहा गया है—

"**बन्धुर्मे माता पृथिवी महीयम्**"।

परमात्मा भी सबका मित्र एवं मित्र की भाँति सबका कल्याण करने वाला है—

"**स नो मित्रमहस्त्वम्**"। ऋक्० ८। ४४। १४।
"**मित्रं न शेवं दिव्याय जन्मने**" ।।
ऋक्० १। ५८। ६।

यजुर्वेद में तो विश्व के समस्त प्राणियों को मित्र की दृष्टि से देखने का संकल्प है—

"**मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे**"।
यजु० ३६। १८

और अथर्ववेद में सारी दिशाओं को ही अपना मित्र बनाने की भावना है।[२४]

एकता व समानता

ऋग्वेद के अन्तिम सूक्त (१०। १९१) में मन वचन एवं कर्म से एकता की भावना पर बल दिया गया है—

"**संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्**"।

इससे अगले मन्त्रों में मानव की यन्त्रणाओं, समितियों, विचारों संकल्पों एवं अभिप्रायों में भी एकता व समानता लाने की प्रार्थनाएँ है[२५]। एकता, समानता व सहृदयता का यह वैदिक आदर्श ही संसार को एक परिवार की भावना में बाँधने का मंगल सूत्र है। यही आदर्श अथर्ववेद में भी रमणीयता से चित्रित है।[२६] ऋक्० ५। ६०। ५ में कहा गया है कि—(मनुष्यों में)—न कोई बड़ा है और न ही कोई छोटा है।[२७]

लोक कल्याण की भावना

वेदवाणी लोक कल्याण के लिए ही अविर्भूत हुई है। अतः उसमें मानव एवं पशु आदि (द्विपाद् चतुष्पाद्) सब प्राणियों के कल्याण की कमनीय कामना है—

---

[२४]सर्वा आशा ममित्रं भवन्तु। अथर्व० १९। १५। १६
[२५]समानो मन्त्रः समितिः समानी। ऋक्० १०। १९१। ३ व ४
[२६]सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः। अथर्व० ३। ३०। १ समानी प्रपा सहवोऽन्नभागः। वही० ३। ३०। ६
[२७]अज्येष्ठासो अकनिष्ठास एते।

"शं नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे"।

ऋक्० ७। ५४। १।

एक मन्त्र में प्रार्थना है—वायु हम सबके लिए सुख-रूप होकर चले। सूर्य हमारे लिए सुखमय होकर तपे। अत्यन्त गरजने वाले मेघ भी हमारे लिए सुखमय वर्षा करें—

शं नो वातः पवताश नस्तपतु सूर्यः।[२८]
शं नः कनिक्रदद् देवः पर्जन्यो अभिवर्षतु॥

ऋक्० ३। ५७। ६ में ऐसी बुद्धि एवं ऐसी संपदा की याचना की गई है जो कि विश्वकल्याण एवं सार्वजनिक हित का सम्पादन करने वाली हो :—

"तामस्मभ्यं प्रमतिं जातवेदो
वसो रास्व सुमतिं विश्वजन्याम्।"

वैदिक प्रार्थनाओं की यह गरिमा है कि वे समष्टि के लिए की गई हैं व्यष्टि के लिए नहीं। उपर्युक्त मन्त्रों में कल्याण की कामना करते समय उत्तम पुरुष बहुवचन का प्रयोग इसका ज्वलन्त प्रमाण है।

दान-एवं उदारता

ऋग्वेद में दान, एवं उदारता आदि ऐसे नैतिक मूल्यों का भी संकेत है जो कि संस्कृति के आधार स्तम्भ कहे जा सकते हैं। ऋक्० ६। ५३। २ में ऐसे गृहपति की याचना की गई है—"जो मानवहितैषी: वीर एवं दानी हो" :—

अभिनो नर्य वसु वीरं प्रयतदक्षिणाम् वायं गृहपतिं नमः।

एक मन्त्र में उत्तम दानी के लिए अतिथि सत्कार का विधान है :—

"अतिथ्यमस्मै चक्रमा सुदान्वे"।[२९]

ऋग्वेद के एक सम्पूर्ण सूक्त में दक्षिणा एवं दक्षिणा देने वाले उदार व्यक्ति की महिमा का गान किया गया है।[३०] वहाँ वर्णन है—"दक्षिणा देने वाले को सर्वप्रथम निमन्त्रित (आहूत) किया जाता है। वह (दक्षिणावान्) ग्रामाध्यक्ष एवं सबका अगुवा होता है :—[३१]

"दक्षिणावान् प्रथमो हूत एति दक्षिणावान् गामणीर-ग्रमेति"।[३]

दानी व्यक्ति के स्वर्ग की पीठ पर अधिष्ठित होने का भी उल्लेख है।[३२] इतना ही नहीं दक्षिणा देने वाले उदार दानी व्यक्ति ही ऋग्वेद के अनुसार अमृतत्व की प्राप्ति करते हैं।[३३]

ऋग्वेद के अनुसार अकेला खाने वाला अनुदार एवं अदानी व्यक्ति पापी है।[३४] अथर्ववेद (३। १५। १) में तो ऐसे व्यक्ति को "अराति" कहा गया है। वस्तुतः दान न करने वाले अनुदार व्यक्ति मानवता के शत्रु हैं। ऋक्० ६। ५३। ३१ में प्रार्थना है—"हे सबका पोषण करने वाले (पूषन्) दीप्तिमान् भगवान्! दान देने की इच्छा न करने वाले को दान के लिए प्रेरित करो और कृपण व्यापारी के मन को भी कोमल एवं उदार बना दो" :—

अदित्सन्तं चिदाघृणे पूषन् दानाय चोदय।
पणेश्चिद् विम्रदा मनः॥

इस सूक्त में आगे-आदानी, अनुदार व कंजूस व्यापारियों के कठोर हृदय को बेधने व उनको मार डालने तक की प्रार्थनाएँ की गई हैं।[३५]

अदानी की निन्दा एवं दानी की प्रशंसा के उपर्युक्त ऋग्वैदिक वर्णनों से यह सिद्ध होता है कि "उदारता-पूर्वक दान देना" वैदिक आर्यों के जीवन का प्रमुख आचार बन गया था।

ऋग्वेद के विविध सूक्तों से उद्धृत उपर्युक्त मन्त्र इस बात की साक्षी देते हैं कि "ऋग्वेद, ऋत, सत्य अहिंसा, मानव प्रेम, लोक कल्याण, दान एवं उदारता आदि उन सभी नैतिक आदर्शों का आदि स्रोत है, जिन्हें बाद में संसार के विविध धर्मग्रन्थों व धर्माचार्यों ने मानव धर्म अथवा शाश्वत आचार के रूप में स्वीकार किया। सारा जगत् इस दृष्टि से वेद भगवान् का ऋणी है। वैदिक आचार के द्वारा ही विश्व में सुख एवं शान्ति की स्थापना संभव है।

---

[२८] यजु०—३६। १०।
[२९] ऋक्० १।७६।३
[३०] ऋक्० १०।१०७ सम्पूर्ण सूक्त
[३१] ऋक्० १०।१०७।५
[३२] नाकस्य पृष्ठे अधितिष्ठति …। ऋक्० १। १२५। ५
[३३] दक्षिणावन्तो अमृतं भजन्ते। ऋक्०१।१२५।६
[३४] मोघमं विन्दते अप्रचेता सत्यं प्रवीमि वध इत्सतस्य।
नार्यमणं पुष्यति नो सखायं केवलाघो भवति केवलादी॥ ऋक्० १०। ११७। ६
[३५] ऋक्० ६। ५३ सम्पूर्ण सूक्त।

सहयोग

एवम्

विज्ञापन

RIFLEMAN

CYCLE, RICKSHAW TYRES & TUBES

Leading the others in

QUALITY
STRENGTH
and
DURABILITY

We keep strict Quality.
Control to make it sure that you get worth your money.
Both bicycle and rickshaw tyres distinguish from the others in strength durability & rank high in safety and longer mileage.

ALWAYS BUY
THE BEST—
BUY RIFLEMAN

B. S. Machine Tools Corporation

TYRE DIVISION
Gill Road, Miller Ganj, LUDHIANA-3.
(*Branch Office :* 5, Beri Pura, Delhi Road, MEERUT-2.)
Phone . 24385

With best compliments from :

Phones : Office : 8448
Resi. : 73191

Kanpur Bareilly Express Transport Co.,

DELHI ROAD, MEERUT.
TRANSPORTER & FLEET OWNERS
(DAILY PARCEL SERVICE FOR ALL OVER U. P.)
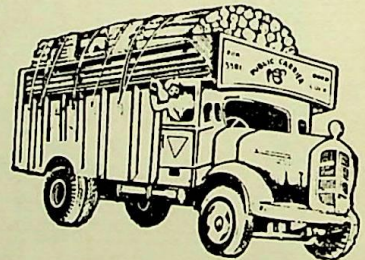
Associated with :—

- **Roshan Transport & Forwarding Agency**
  133/280, Transport Nagar, KANPUR.
- **Harish Goods Transport Agency**
  Delhi Road, MEERUT.

C. S. T. No. 5860
S. T. No. Lud/III/13666 Dt./3-2-65

24859 P. P.
27581 P. P.

Model Industries
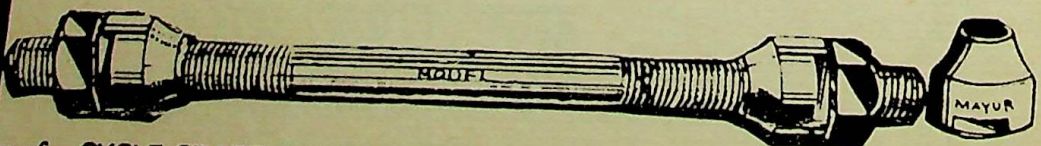
Manufacturers af : CYCLE SPARE PARTS ● *Specialist in :* HUB AXLES & HUB CONES
446, Industrial Area-B, LUDHIANA-141003.

ओ३म्

कृण्वन्तो विश्वमार्यम्

मेरठ आर्य समाज स्थापना

शताब्दी समारोह

के

शुभ अवसर पर

❀ हार्दिक शुभ कामनायें ❀

रस्तौगी पब्लिकेशन्स

शिवाजी रोड, मेरठ।

हमारे सहयोगी संस्थान :

- रस्तौगी एण्ड कम्पनी, सुभाष बाजार, मेरठ।
- रस्तौगी एसोसियेट्स, मेरठ।
- पायनियर प्रिन्टर्स, मेरठ।

गुरुकुल प्रणाली एवं शुद्धि आन्दोलन के प्रणेता
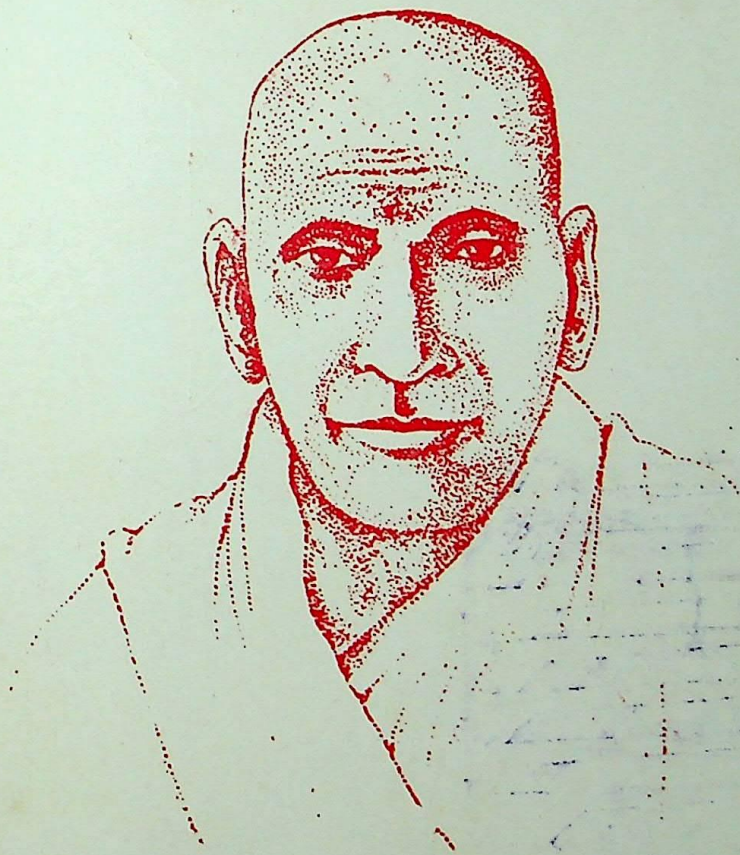
निर्भीक संन्यासी

स्वामी श्रद्धानन्द जी

● सम्पादक —**श्री स्वराज्य चन्द**

● सह सम्पादक—**श्री सत्य प्रकाश**

श्री मनोहर लाल सर्राफ
प्रधान

श्री इन्द्र राज
मन्त्री

मेरठ आर्य समाज स्थापना शताब्दी समारोह, मेरठ।

प्रकाशक :
शताब्दी समारोह समिति
आर्य समाज, मेरठ नगर।

मूल्य रु० ५·०० मात्र

मुद्रक :
आर्यन प्रेस, मेरठ
फोन : ७३२४३, ७६०२४